85-86
जुलाई-दिसंबर 2020
ISSN 2349-1809

पुस्तक-वार्ता

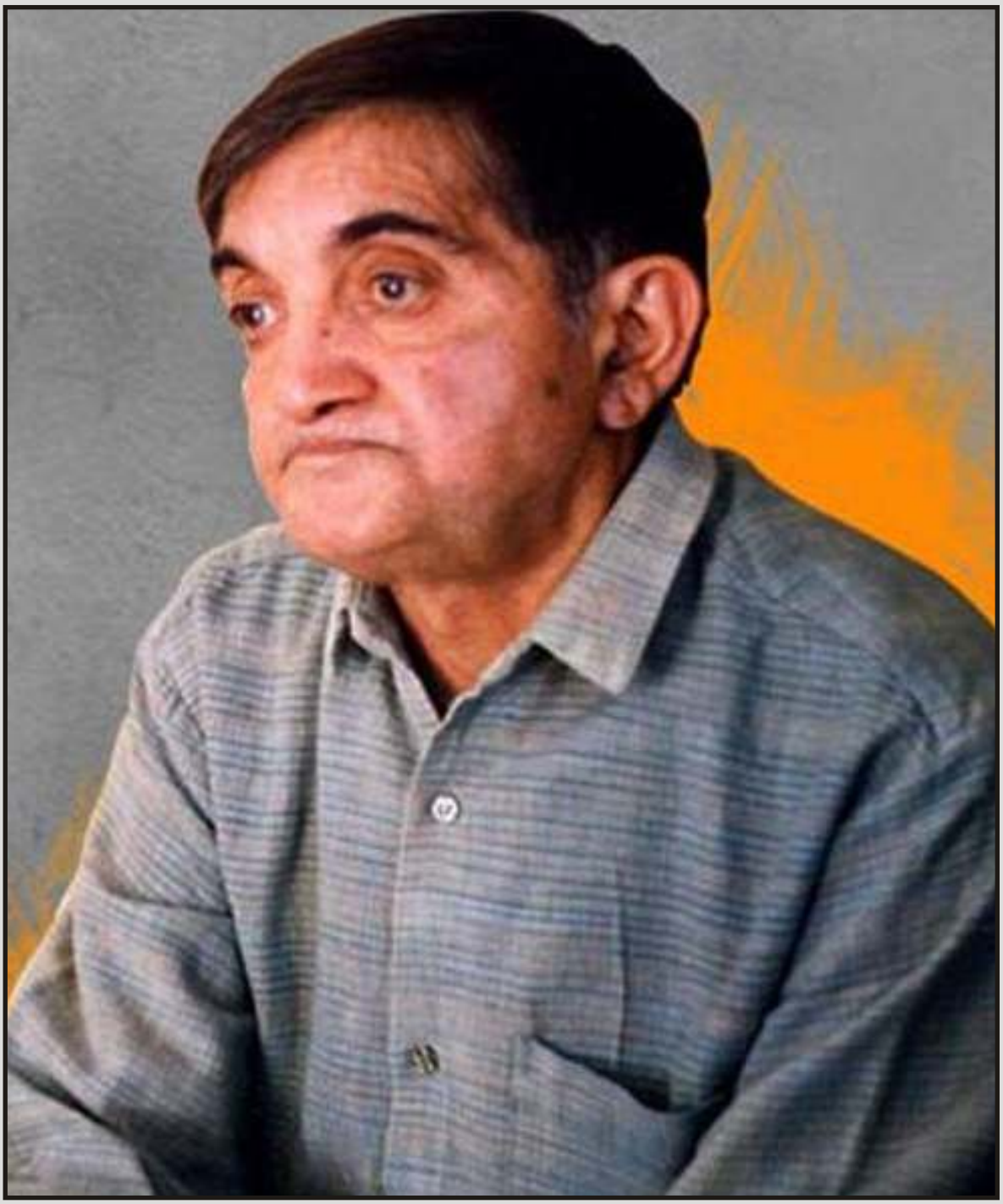

ज्ञान शांति मैत्री

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

विश्वविद्यालय के प्रकाशन

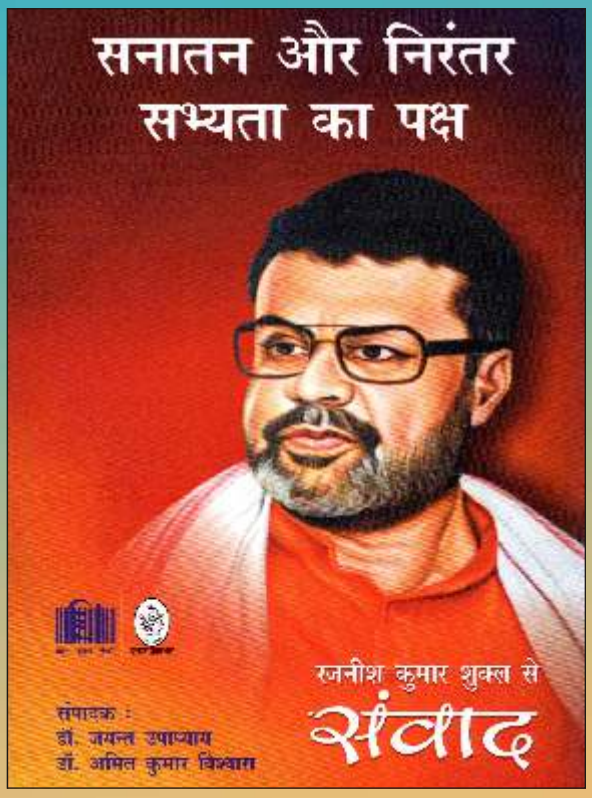

मूल्य : 220 रु. पीबी 449 रु. एचबी

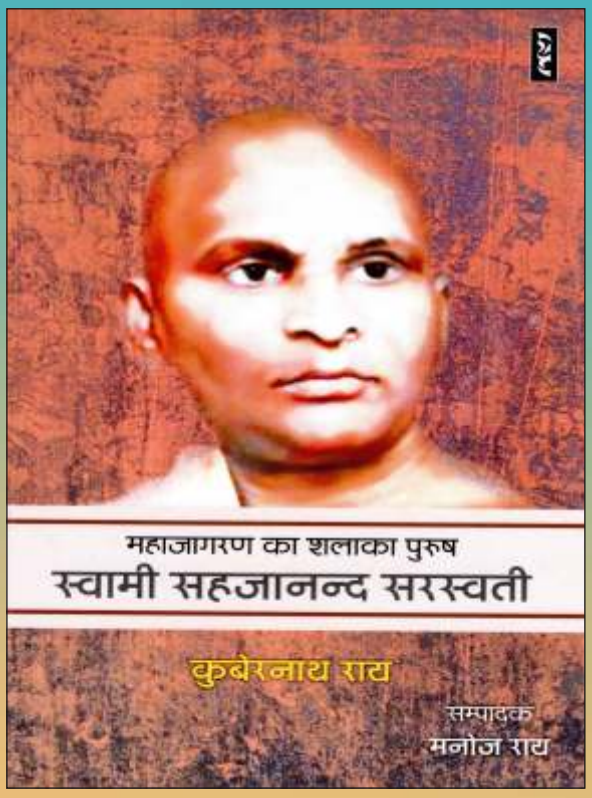

मूल्य : 349 रु. पीबी 700 रु. एचबी

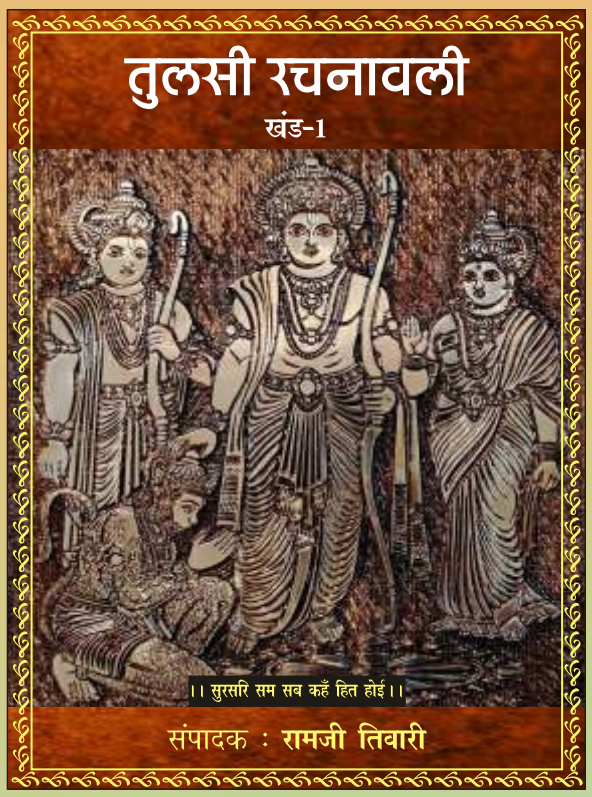

मूल्य : 350 रु.

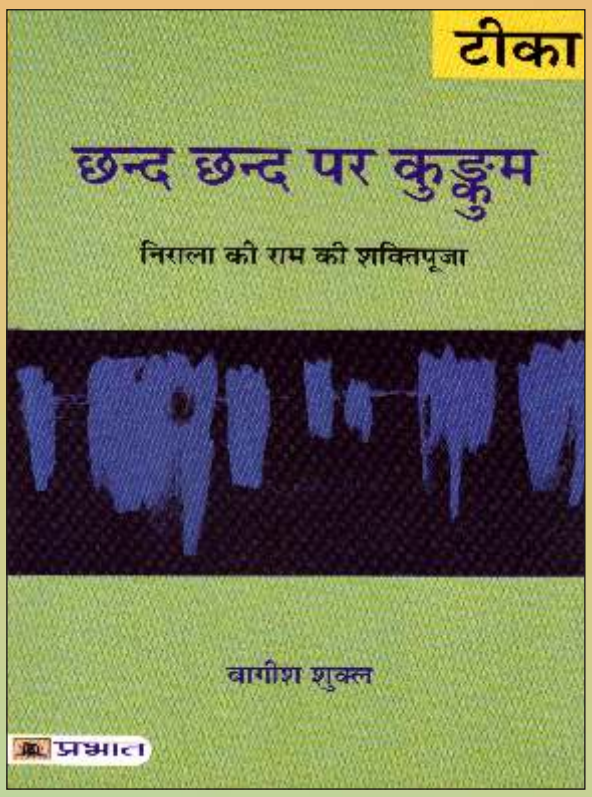

मूल्य : 300 रु. पीबी

ज्ञान शांति मैत्री

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय
हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

पुस्तक-वार्ता
85-86
जुलाई-दिसंबर, 2020
ISSN 2349-1809

'पुस्तक वार्ता' महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय की लब्धप्रतिष्ठ द्विमासिक समीक्षा-पत्रिका रही है। अब तक यह मुख्यतः हिंदी साहित्य की समकालीन/नयी पुस्तकों की समीक्षा तक सीमित थी। किंतु, यह एक विश्वविद्यालय की पत्रिका है; अतः विश्वविद्यालय के उद्देश्यों की अनुरूपता में इसे हिंदी सहित सभी भारतीय भाषाओं तथा विविध ज्ञानशाखाओं के ग्रंथों/कृतियों की समीक्षा-पत्रिका होना चाहिए। इसी विचार को दृष्टिगत रखते हुए इसके स्वरूप में बदलाव किया गया है। पत्रिका के नये रूप की महत्त्वपूर्ण बातें इस प्रकार हैं-

1. पुस्तक वार्ता अब त्रैमासिक होगी और पूर्ववत् केवल हिंदी में प्रकाशित होगी। किसी हिंदीतर भाषा में लिखित समीक्षाएँ हिंदी में अनूदित होकर प्रकाशित हो सकती हैं।
2. अब इसमें हिंदी और अन्य भाषाओं (भारतीय एवं विदेशी) के साहित्य के साथ-साथ ज्ञान की किसी भी संगत शाखा की किसी भी पुस्तक की समीक्षा प्रकाशनार्थ विचारणीय हो सकेगी।
3. पुस्तक वार्ता में प्रकाशित होने वाली समीक्षाओं की तीन श्रेणियाँ होंगी-
   (क) पहली श्रेणी में किसी एक प्रसिद्ध पुस्तक की पूर्व प्रकाशित महत्त्वपूर्ण/चर्चित समीक्षा प्रकाशित होगी। साथ ही, उस पर किसी नये समीक्षक द्वारा की गयी ताजा समीक्षा/विवेचना भी प्रकाशित होगी। इनकी कोई शब्द-सीमा नियत नहीं होगी।
   (ख) दूसरी श्रेणी में कालजयी अथवा/एवं उन श्रेष्ठ कृतियों/ग्रंथों की समीक्षाएँ/विवेचनाएँ होंगी, जो आज भी प्रासंगिक हैं या समकालीन पीढ़ी के लिए आवश्यक हैं। इनकी परिसीमा 6000 शब्दों तक हो सकती है।
   (ग) तीसरी श्रेणी में उन समकालीन कृतियों/ग्रंथों की समीक्षाएँ होंगी, जो पिछले पाँच वर्षों में प्रकाशित हुई हैं। ये समीक्षाएँ 3000 से अनधिक शब्दों की परिसीमा में होंगी।
4. दूसरी और तीसरी श्रेणी में प्रकाश्य समीक्षाओं की संख्या पत्रिका के आकार के अनुसार विश्वविद्यालय द्वारा नियत की जाएगी।
5. समीक्षार्थ पुस्तक का चयन/निर्णय विश्वविद्यालय द्वारा निर्धारित प्रक्रिया से ही किया जाएगा।

पुस्तक-वार्ता

संरक्षक
रजनीश कुमार शुक्ल
कुलपति

परामर्शदाता
हनुमानप्रसाद शुक्ल
प्रतिकुलपति

संपादक
मनोज कुमार राय

संपादक-मंडल
के. बालराजु
जयंत उपाध्याय
श्रीनिकेत कुमार मिश्र

प्रकाशक
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
पोस्ट : हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा 442 001 (महाराष्ट्र)
www.hindivishwa.org

संपादकीय संपर्क
संपादक : पुस्तक-वार्ता
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
पोस्ट : हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा 442 001 (महाराष्ट्र)
फोन : 07152-232943
E-mail : pustakvaarta.mgahv@gmail.com
समस्त पत्राचार प्रकाशन प्रभारी के नाम से ही किया जाए-

प्रकाशन प्रभारी
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
पोस्ट : हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा 442 001 (महाराष्ट्र)
फोन : 07152-232943
E-mail : pub.mgahv@gmail.com

मूल्य : वर्तमान अंक रु. 100/-
सदस्यता राशि मूल्य रु. 75/- के गुणक में। सदस्यता राशि केवल ऑनलाइन निम्नलिखित बैंक खाते में जमा करवा सकते हैं -

Account Holder's Name	:	Finance Officer, Mahatma Gandhi Antarrashtriya Hindi Vishwavidyalaya, Wardha
Bank Name	:	Bank of India, Wardha
Branch	:	Hindi Vishwavidyalaya, Wardha
Account No.	:	972110210000005
IFSC Code No.	:	BKID 0009721
MICR Code No.	:	442013003

प्रकाशित सामग्री के उपयोग के लिए लेखक एवं विश्वविद्यालय की स्वीकृति आवश्यक है। प्रकाशित रचनाओं की रीति-नीति या विचारों से विश्वविद्यालय या संपादकों की सहमति अनिवार्य नहीं है।
विवाद की स्थिति में न्याय क्षेत्र, वर्धा (महाराष्ट्र) होगा।

मुद्रण :

इस अंक में

1. **कथाशिल्प का विशिष्ठ प्रयोग** / निर्मल वर्मा (पुस्तक : परती परिकथा/फणीश्वरनाथ रेणु) 01
2. **ज्ञान परंपरा की भारतीय दृष्टि** / डॉ. पीयूष कुमार द्विवेदी 05
   (पुस्तक : भारतीय ज्ञानपरंपरा और विचारक / रजनीश कुमार शुक्ल)
3. **काण्ट-दर्शन की प्रत्यभिज्ञा** / दिग्विजय मिश्र (पुस्तक : काण्ट के दर्शन का तात्पर्य/आचार्य कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य) 09
4. **बतरस की बानगी** / हितेन्द्र पटेल (पुस्तक : मेरी तेरी उसकी बात / यशपाल) 14
5. **ओझल अतीत का तर्कवादी विश्लेषण** / अनंत विजय 21
   (पुस्तक : इंडिया दैट इज भारत, कोलोनियलिटी, सिविलाइजेशन कंस्टीटयूशन/जे साई दीपक)
6. **प्रत्यक्षम् किम् प्रमाणम्** / सन्नी कुमार 24
   (पुस्तक : वीर सावरकर : द मैन हू कुड हैव प्रिवेंटेड पार्टीशन/उदय माहूरकर तथा चिरायु पंडित)
7. **अरुणोदय की आभा** / शान कश्यप 28
   (पुस्तक : सावरकर (पार्ट-1 और 2) / (इकोज फ्रॉम अ फॉरगॉटन पास्ट और अ कंटेस्टेड लिगेसी /विक्रम सम्पत)
8. **विश्व राजनीति और भारत** / डॉ. अंशु मिश्रा (पुस्तक : परिवर्तनशील विश्व में भारत की रणनीति/एस. जयशंकर) 34
9. **जलवायु इतिहास की प्रासंगिकता** / विपुल सिंह 37
   (पुस्तक : द फ्रिजिड गोल्डन एज : क्लाइमेट चेंज, द लिटिल आइस एज एंड द डच रिपब्लिक, 1560-1720 / डेगोमर डेग्रूट)
10. **ऋतुजा का अनहद नाद** / कैलाश मण्डलेकर (पुस्तक : वेणु गूँजै गगन गाजै/श्रीराम परिहार) 41
11. **सतरंगी काव्य कला की सृष्टि** / प्रो. कृष्ण गोपाल मिश्र (पुस्तक : अथर्वा/आनंद सिंह) 44
12. **उजास अस्मिता का 'लोक' तंत्र** / आदित्य कुमार गिरि (पुस्तक : दासी की दास्तान/विजयदान देथा) 48
13. **इक जलतरंग बजता हुआ** / अशोक प्रिदयर्शी 52
    (पुस्तक : हमेशा देर कर देता हूँ मैं / पंकज सुबीर)
14. **सर्वोत्तम शिक्षा की संभावनाओं की पड़ताल** / डॉ. कुबेर कुमावत (पुस्तक : शिक्षा सर्वोपरि/शिवरतन थानवी) 55
15. **खिलौनों का कारीगर** / अलका प्रमोद 62
    (पुस्तक : प्रारम्भिक शिक्षा : व्यक्तित्व विकास के विविध चरण / डॉ. आशुतोष दुबे)
16. **जातीय साहित्य एवं विश्व साहित्य की कड़ी : अनुवाद** / श्रीनिकेत कुमार मिश्र 65
    (पुस्तक : ट्रांसलेशन एंड वर्ल्ड लिटरेचर/सं. सुजन बासनैट)
17. **आईने के पीछे की काली परत** / सौरभ प्रियदर्शी (पुस्तक : चाँदपुर की चंदा/अतुल कुमार राय) 70
18. **कालचक्र की पदचाप** / प्रदीप कुमार ठाकुर (पुस्तक : समय का अकेला चेहरा/नरेंद्र पुंडरीक) 73
19. **आत्मा का सुकवि** / डॉ. सतीश कुमार राय (पुस्तक : दिनकर : एक पुनर्विचार / कुमार निर्मलेन्दु) 75
20. **आत्मा की पीड़ा का विरल दस्तावेज़** / डॉ. एम. वेंकटेश्वर 81
    (पुस्तक : पुरुष तन मे फँसा मेरा नारी मन/मानोबी बंद्योपाध्याय)
21. **नूतन कोणार्क का अभ्युदय** / डॉ. सत्यप्रकाश पाल (पुस्तक : ऐ जिन्दगी तुझे सलाम/हरभजन सिंह मेहरोत्रा) 91
22. **तकनीक और विकास का अंतर्संबंध** / प्रेमपाल शर्मा 94
    (पुस्तक : मिडनाइट मशीनस् : ए पॉलिटिकल हिस्ट्री ऑफ टेक्नोलॉजी इन इंडिया/अरुण मोहन सुकुमा)
23. **एक अदृश्य यथार्थ के केंद्र की तलाश में** / अभिषेक श्रीवास्तव 98
    (पुस्तक : लव एंड मैथ : दि हार्ट ऑफ हिडन रियालिटी/एडवर्ड फ्रेकेल)
24. **संदर्भों का कुबेर कोश** / मनोज कुमार राय 103
    (पुस्तक : भारतीय संविधान : अनकही कहानी/रामबहादुर राय)
25. **यायावरी का तिलिस्म** / शंकर शरण 106
    (पुस्तक : हिमालय की वादियों में / प्रो. सुखनन्दन सिंह)

स्मरण

कथाशिल्प का विशिष्ट प्रयोग

निर्मल वर्मा

पुस्तक : परती : परिकथा
लेखक : फणीश्वरनाथ रेणु
प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन
मूल्य : 344 रु.
वर्ष : 1957

जब किसी कृति पर विभिन्न प्रकार की विरोधी धारणाएँ व्यक्त की जा चुकी हों - यहाँ उसकी आड़ लेकर वैयक्तिक स्तर पर अप्रासंगिक वाद-विवाद उठ खड़े हुए हों - तब ऐसे में उस कृति पर सहज रूप से कुछ भी कह पाना कठिन हो जाता है। पुस्तक के संबंध में मौलिक प्रक्रिया के साफ-सुथरे आइने पर बहस की धूल जमा हो जाती है और हम आलोचना के मानदंडों से इतने अधिक संत्रस्त हो जाते हैं कि हमें स्वयं अपनी अनुभूतियों पर अविश्वास होने लगता है। अतः यह आकस्मिक नहीं कि 'परती : परिकथा' पर मेरे अनेक साहित्यिक मित्रों ने समय-समय पर अपनी राय बदली है (या एक ही समय दो परस्पर-विरोधी धारणाएँ व्यक्त की हैं।) यह कहना कठिन है कि ये 'विचार-परिवर्तन' हमेशा 'परिकथा' के आत्यंतिक-महत्त्व के आधार पर ही हुए हों। यह उलझाव किसलिए? जाहिर है इसका कारण 'परिकथा' की कथावस्तु या शिल्प का उलझाव नहीं है, क्योंकि प्रस्तुत पुस्तक के संबंध में जो भी मतभेद रहा हो, उस पर दुरूहता या अस्पष्टता का आरोप शायद ही किसी ने लगाया है। वस्तुतः इस उलझाव का कारण 'परिकथा' में न होकर हमारी आज की आलोचना पद्धति, साहित्य के तथाकथित मानदंडों में सन्निहित है। 'परती : परिकथा' के मूल्यांकन में उसकी प्रशंसा और भर्त्सना करते हुए जो अतिरंजित विशेषण प्रयोग किये गये हैं, उसे देखकर लगता है मानो उसके गुण-दोषों का तो विश्लेषण कम हुआ है, आलोचकों ने उसे अपने सैद्धांतिक

मानदंडों के अमूर्त चौखटों में फिट करने का प्रयत्न ही अधिक किया है।

'परती : परिकथा' हिंदी उपन्यासों की परंपरागत पद्धति से भिन्न है (हालाँकि 'मैला आँचल' के बाद रेणु के कथा-शिल्प में कोई विशेष परिवर्तन नहीं दिखायी देता)। उसके प्रति हमारा दृष्टिकोण भी पुरानी लीक से हटकर होगा। समूचा उपन्यास पढ़ने के बाद लगता है जैसे हम किसी गाँव का अद्‌भुत विचित्र 'कार्नीवाल' देख आये हैं। अनेकानेक रंगों, गंधों, सुरों की हहराती धारा हमारे बीच बहकर आगे बढ़ गयी है, अनेक व्यक्तियों की असंगतियों, सुख-दुःख, हास-विलास से हमने अपने को संपृक्त किया है। किंतु ये चेहरे, रंग और सुर अपने में महत्त्वपूर्ण नहीं हैं- महत्त्वपूर्ण है इस 'कार्नीवाल' की गतिमयता, अविरल प्रवाह की कलकल, हवा में उड़ते रंगों की आभा, एक मायावी लय जो समस्त व्यक्तियों और घटनाओं के बीच गुजरती हुई हमारे मस्तिष्क और हृदय को आलोड़ित कर देती है।

कहा गया है कि 'परती : परिकथा' में केवल कच्चा माल है, उसमें किसी प्रकार का जीवन-दर्शन नहीं, कोई श्रृंखलाबद्ध योजना नहीं, उसमें किसी केंद्रीय-सूत्र का सर्वथा अभाव है। सहसा मन में प्रश्न उठता है- क्या ये तत्त्व 'मैला आँचल' में विद्यमान हैं? यदि नहीं, तो क्या हम यह मान लें (जो हमें मानना चाहिए, यदि हमारी समीक्षा-पद्धति तर्कसंगत है) कि 'मैला आँचल' उदास के स्वीकृत मानदंडों पर खरा नहीं उतरा।

लगता है अब तक 'मैला आँचल' की केवल भावुकतापूर्ण प्रशंसा की गयी है, उसके द्वारा 'हिंदी उपन्यास के रचना-विधान और कथा-शिल्प के क्षेत्र में जो परिवर्तन हैं, नये मोड़ लिये हैं, उनके आधार पर हमने अपने रूढ़िगत मानदंडों को परिवर्तित या परिमार्जित करना उचित नहीं समझा। यदि ऐसा किया होता, तो 'रेणु' के 'कथा-शिल्प' के संबंध में जो बहस 'मैला आँचल' पर समाप्त हो जानी चाहिए थी, उसे नये सिरे से 'परती : परिकथा' पर आरंभ करने की आवश्यकता अनुभव न होती।

'परती : परिकथा' का बिखराव 'रेणु' के कथा-शिल्प का एक विशिष्ट प्रयोग है, जो उन्होंने ग्राम्य जीवन के वैविध्यपूर्ण, सर्वांगीण और परिवर्तनशील मानवीय संबंधों को अभिव्यक्त करने के लिए अपनाया है- यही कारण है कि उपन्यास का हर पात्र, चाहे थोड़े समय के लिए ही हमारे सम्मुख आये, हमारे मानस-पटल पर अपने व्यक्तित्व की अमिट छाप छोड़ जाता है।' कांतीवाल के कोलाहल में हम उनकी आवाजों को, लोगों की भीड़ में उनके चेहरों को आसानी से पहचान सकते हैं। हम उनके क्रिया-कलापों को अन्य व्यक्तियों और घटनाओं के संदर्भ में आसानी से परख सकते हैं उनके जीवन के सूत्र हवा में ही नहीं लटकते रहते - परानपुर की धरती के इतिहास से उनके जीवन का वैषम्य, सुख-दुःख और संवेदनाएँ अंतरंग रूप से जुड़ी दिखाई देती हैं उनके भीतर टाइप' की समग्रता दिखती है, तो व्यक्तित्व का अलगाव भी मिलता है।

औपन्यासिक कला-शिल्प, कथा-संयोजन तथा चरित्र-गठन के प्रति सजग लेखक 'रेणु' का अपना विशिष्ट दृष्टिकोण और आग्रह है, जो 'मैला आँचल', 'परती : परिकथा' और उनके आगामी उपन्यासों में अवश्य मौजूद रहेगा, इस पर आपत्ति करना हर कलाकार की विशिष्ट कलात्मक व्यक्तित्व को ही स्वीकार करना होगा। पहले उपन्यास की कथावस्तु, पात्रों की मानसिक उथल-पुथल, समस्याएँ तथा संवेदनाएँ दूसरे उपन्यास में बदल सकती हैं, उनके प्रति लेखक का विशिष्ट कलात्मक आग्रह अथवा शिल्पगत दृष्टिकोण नहीं (जब तक लेखक उसे स्वयं बदलने की आवश्यकता महसूस न करे)। इस दृष्टि से 'परती : परिकथा' को 'मैला आँचल' की पुनरावृत्ति कहना उतना ही निरर्थक जान पड़ता है, जितना यदि हम वर्जीनिया वुल्फ के 'द लाइट हाउस' को केवल इस आधार पर 'मिसेस डे लोवे' की पुनरावृत्ति कहें, कि दोनों उपन्यासों में एक ही प्रकार का कथा-शिल्प दिखायी देता है। क्या यह बात भी समझाकर कहनी होगी कि 'रेणु' ही दोनों उपन्यासों के रचयिता हैं, अतः दूसरे उपन्यास में कम-से-कम उसकी पुनरावृत्ति होना अनिवार्य है?

किंतु जहाँ एक ओर दोनों उपन्यासों के रूप-विधान और रचना-गठन के बाह्य तत्त्व एक-दूसरे से मिलते-जुलते हैं, वहाँ 'परिकथा' का सामाजिक परिवेश न केवल 'मैला आँचल' से अधिक व्यापक है, बल्कि उसका स्वरूप और आंतरिक प्रक्रियाएँ भी मूलतः भिन्न दिखायी देती हैं। राष्ट्रीय-आंदोलन का ज्वार उतरने के बाद स्थायित्व के जिस वातावरण में परानपुर का ग्राम्य जीवन चित्रित किया गया है, उसमें अनेक अंतर्विरोधी तत्त्व विराजमान हैं, जो विभिन्न वर्गों और राजनीतिक दलों में एक गहरा तनाव-सा उत्पन्न करते हैं। इस तनाव के जो बीज 'मैला आँचल' राष्ट्रीय-आंदोलन की उच्छल प्राण-धारा तले दबे-से रह गये थे, वे 'परिकथा' में अधिक स्पष्ट और विकसित रूप में प्रकट हुए हैं। लैंड-सर्वे, कोसी-प्रोजेक्ट, सर्वोदय इत्यादि आंदोलन जहाँ इस तनाव को अधिक प्रखर और सुनिश्चित रूप प्रदान करते हैं, वहाँ दूसरी ओर वे एक विशाल सीसमोग्राफ' के रूप में भी प्रयुक्त किये जा सकते हैं, जिसके द्वारा हम परानपुर के सामाजिक परंतु की परतों के भीतर छिपी वैयक्तिक स्वार्थ की टकराहट, राजनीतिक

दलों की अवसरवादिता, और उच्च आदर्शों के पीछे दबी क्षुद्र, ओछी लिप्साएँ देख सकते हैं।

किंतु इस कलह-क्लेश के बावजूद परानपुर में भी पूर्णिमा का चाँद उगता है। लाजमयी मलारी का गीत-स्वर परती की सफेद बालू पर पंख फड़फड़ाता हुआ उड़ता है। पाँचों कुंडों में पाँच चाँद रात-भर झिलमिलाते हैं, शरद की चाँदनी में पहाड़ से उतरनेवाले पक्षियों की पहली पाँत उतरती है... चाँदनी की यह स्वप्निल संगीतमयता 'परिकथा' में आद्योपांत छायी रहती है।

इस तनाव और उल्लास के दो कूलों के बीच परानपुर के निवासियों की जीवन-धारा अविरल रूप से प्रवाहमान है। श्री भवेश नाथ के कैमरे के 'व्यूफाइंडर' से हम परानपुर गाँव का केवल धूसर, वीरान प्रांतर, बन्ध्या धरती और बालुचरों की अंतहीन श्रृंखला देख सकते हैं, वह सचमुच की कोई आँख है। किंतु परती के आँचल तले फैले जनपद को, गाँवों के लोगों की आत्मा को कैमरे की आँख नहीं देख सकती, कलाकार की अंतर्दृष्टि ही वहाँ तक पहुँच पाने में समर्थ हो सकी है।

'रेणु' की यह दृष्टि उपन्यासकार की दृष्टि है जो छोटी-छोटी घटनाओं को अद्‌भुत नाटकीयता प्रदान करती है। इन घटनाओं के माध्यम से 'रेणु' ने ठोस, जीवंत कथा-पात्रों की सृष्टि की है, और यह उनकी महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। साधारण, रोजाना को घटनाओं के महीन सूत्रों द्वारा कुछ गंभीर सत्यों को उद्‌घाटित करना, उनके माध्यम से पात्रों की आकांक्षाओं और असंगतियों को अभिव्यक्त करना सचमुच एक कठिन समस्या है। हमेशा यह खतरा बना रहता है कि कहीं लेखक अपनी निरपेक्ष दृष्टि से च्युत होकर एक स्थूल, इतिवृत्तात्मक दृष्टिकोण न अपना ले। यह केवल हवाई खतरा नहीं है। पिछले वर्षों में हिंदी उपन्यास का दुर्भाग्य ही यह रहा है कि लेखक अपने को 'सोशलॉजिस्ट' पहले समझता है, कलाकार बाद में। फिर चाहे उपर्युक्त दृष्टिकोण प्रच्छन्न रूप में मनोवैज्ञानिक अंतर्द्वंद्वों द्वारा प्रदर्शित हो (नदी के द्वीप) या सामाजिक विषमताओं के संबंध में लंबी सैद्धांतिक बहसों के रूप में ('बूंद और समुद्र', 'जयवर्धन')। यह एक अजीव 'कॉम्प्लेक्स' है, जिससे न्यूनाधिक मात्रा में हर लेखक पीड़ित दिखायी पड़ता है। यथार्थ के प्रति यह विकृत, विक्टोरियन दृष्टिकोण अधिकांश उपन्यासकारों के कलात्मक व्यक्तित्व को कुंठित-सा कर देता है। बाहरी नियंत्रण का विरोध किया जा सकता है, क्योंकि हम उसके प्रति सजग हैं, किंतु यथार्थ के प्रति यह सैद्धांतिक दृष्टिकोण एक अंदरूनी -विकार उत्पन्न करता है, जो स्थूल रूप से दिखायी नहीं देता, इसलिए और भी अधिक घातक है।

इस संदर्भ में 'रेणु' से-एक कलाकार की हैसियत से कोई जीवन-दर्शन प्राप्त करने की माँग करना सर्वथा अनुचित और असंगत जान पड़ता है। हमारी आलोचना-पद्धति की 'ट्रेजेडी' ही यह रही है कि हम हर कलाकार से एक 'जीवन-दर्शन' की माँग करते हैं। एक उपन्यास (या कोई भी कलाकृति) हमारी अंतर्दृष्टि की भावनाओं को अधिक व्यापक और संवेदनशील बनाने में समर्थ हो सके, इसी में उसकी सार्थकता निहित है। उस व्यापक दृष्टि के सहारे हम अपना जीवन-दर्शन स्वयं खोज सकें, यह अलग बात है।

'परती : परिकथा' की सबसे बड़ी शक्ति शायद यही है कि सतही तौर से हमें जहाँ बिखराव या विश्रृंखलता दिखायी देती है, उसके पीछे परानपुर की समस्त विशेषताएँ और असंगतियाँ, हर छोटे से छोटे प्राणी का दुःख-सुख, जीते-जागते, लड़ते-झगड़ते जीवित मनुष्यों की गाथा के दर्शन होते हैं। मुंशी जलधारीदास, लुत्तो, मलारी, सामबीत्ती, पीसी- जैसे उपेक्षित नगण्य पात्रों के व्यक्तिगत झगड़ों, नैतिक कमजोरियों और आह्लाद-उल्लास के बृहत् कैनवास पर 'रेणु' ने ग्राम-जीवन का (एक मिनिएचर के रूप से) जो ठोस, संश्लिष्ट और विविध रंगों से गुंफित चित्र प्रस्तुत किया है, वह अपने में अद्वितीय है। यहाँ तक कि भिम्मल मामा के अर्नगल प्रलाप द्वारा हम गाँव के जिन मीठे-कड़वे सत्यों को देख पाते हैं, वे कदाचित् उन लंबी, उबा देनेवाली सैद्धांतिक बहसों से उपलब्ध नहीं कर पाते, जिसका बाहुल्य आज के अनेक हिंदी उपन्यासों में दिखता है। ये चित्र इतने मांसल और उनकी समस्याएँ इतनी विश्वसनीय हैं कि कभी-कभी यह भ्रम होने लगता है कि वे स्वतः चालित हैं, उनके पीछे कोई 'चालक-शक्ति' ही नहीं है। कला-कृति में यह भ्रम जिसके द्वारा हम चालक-शक्ति को भूलकर अपने को हाड़-मांस के जीवंत प्राणियों के दुःख-सुख से एकीकृत कर सकें- शायद उसकी सबसे बड़ी सफलता है।

किंतु इस सफलता के बावजूद क्या 'रेणु' अपने को समस्त आग्रहों से मुक्त रखने में समर्थ हुए हैं? लगता है जैसे जित्तन की सृष्टि करने में उनकी निरपेक्ष, कलात्मक दृष्टि लड़खड़ा गयी है- वह उनके उपन्यासों की सबसे निर्बल कड़ी हैं। उपन्यासकार का प्राथमिक उदेश्य जीवन, स्पंदनशील पात्रों की सृष्टि करना है और उसमें 'रेणु' को अत्यधिक सफलता प्राप्त हुई है, किंतु यह उनका केवल 'प्राथमिक उद्देश्य' है, संपूर्ण उपलब्धि नहीं। (यह बात दूसरी है कि हिंदी के अनेक प्रमुख उपन्यासकार इस 'प्राथमिक-उद्देश्य' को प्राप्त करने में भी सफल नहीं होते)। किंतु

एक महान लेखक इससे आगे जाता है- यथार्थ के प्रति एक गहन संवेदना तथा निर्वैक्तिक और निरपेक्ष दृष्टिकोण की प्राप्ति के लिए अपने पूर्वाग्रहों से जूझता है, आत्म-संघर्ष के इस ऊँचे स्तर पर ही वह सही अर्थों में स्रष्टा बन पाता है- कला की यही संपूर्ण उपलब्धि है।

जिनको 'रेणु' की सहानुभूति प्राप्त हुई है, कलाकार ने उसके द्वारा अपनी संवेदनाओं को अभिव्यक्त करने का प्रयास किया है - यह अपने में बिल्कुल उचित है कथा-कृति के किसी एक केंद्रीय पात्र की समस्याओं और संवेदनाओं के द्वारा हर लेखक अपनी समस्याओं को चित्रित करने में स्वतंत्र है- टॉलस्टॉय के 'मियेर' और 'लेविन' इसके जीते-जागते सफल उदाहरण हैं। किंतु, इसके लिए कलाकार को अनिवार्य रूप से दो शर्तें पूरी करनी चाहिए। पहली यह कि वह पूरी निर्ममता तथा तटस्थता से अपने इस केंद्रीय पात्र' की निर्बलताओं, अंतर्द्वंद्वों तथा मानसिक उलझनों को चित्रित करे उसके केवल एक या दो पहलुओं को उजागर करने में ही अपनी सार्थकता न समझ ले। दूसरे-अन्य प्राणियों के प्रति वह उतना ही संवेदनशील रह सके जितना वह अपने प्रिय पात्र के प्रति है।

कहना न होगा कि जित्तन के चरित्र-गठन में बहुत बड़ी सीमा तक रेणु' इन दोनों शर्तों को पूरा करने में असमर्थ रहे हैं। लुत्तो से लेकर मकबूल तक जितने भी प्रतिस्पर्धी पात्र हमारे सामने आते हैं, वे जीवंत और स्पंदनशील प्राणी होने के बावजूद जित्तन बाबू की तुलना में विकलांग, निकृष्ट और विकृत दिखायी देते हैं। जित्तन का जितना गहरा लगाव, 'ट्रैक्टर' से है, उतना ही शायद वह परानपुर की धरती से दूर है। उसमें अभिजात वर्ग का संतुलन है, जो लुत्तन-जैसे निम्नवर्गीय, स्वार्थपरक व्यक्तियों में लुप्त हो चुका है, किंतु यह संतुलन आत्म-मंथन, मानसिक अंतर्द्वंद्वों अथवा सत्य-असत्य के नैतिक प्रश्नों के अनिश्चय से उत्पन्न हुए हत-आलोडन का परिणाम नहीं है। वह तो जित्तन के चरित्र का एरिस्टोक्रेटिक ट्रेट है, जिसके आधार पर 'रेणु' ने उसे धूल में सने लड़ते-झगड़ते प्राणियों के असंतुलन से उत्कृष्ट सिद्ध करने का प्रयास किया। 'रेणु' ने जित्तन के इर्द-गिर्द जो स्वप्न-जाल बुना है, उसके भीतर ताजमनी और इरावती जैसी नारियों को गहन संवेदना के स्थान पर मिली है, 'रेणु' की कोरी भावुकतापूर्ण सहानुभूति जिसके परिणामस्वरूप शरत् बाबू के नारी पात्रों को पीली छायाएँ-सी दिखायी देती हैं। जित्तन के इस स्वप्न जाल पर मिसेज रोडवुड की डायरी के पन्ने भी टँगे हैं, जो उपन्यास के उत्तरार्द्ध को भावुकतापूर्ण, निर्बल और अविश्वसनीय बना देते हैं।

किंतु इन कमियों और दोषों के बावजूद 'रेणु' ने 'परती : परिकथा' में समाज के बदलते संदर्भ में व्यक्तियों की उत्तरोत्तर अधिक संश्लिष्ट होनेवाली मानसिक -प्रक्रियाओं और नैतिक दबावों का जो चित्रण किया है, सामाजिक -राजनीतिक आंदोलन के सूत्रों में मनुष्य की आकांक्षाओं और दुर्बलताओं को पिरोया है, वह अपने में सराहनीय है।

'परती : परिकथा' का बिखराव 'रेणु' के कथा-शिल्प का एक विशिष्ट प्रयोग है, जो ग्राम्य-जीवन के वैविध्यपूर्ण, सर्वांगीण और परिवर्तनशील मानवीय संबंधों को अभिव्यक्त करने के लिए अपनाया है- यही कारण है कि उपन्यास का हर पात्र, चाहे थोड़े समय के लिए ही हमारे सम्मुख आये, हमारे मानस-पटल पर अपने व्यक्तित्व की अमिट छाप छोड़ जाता है।' कार्नीवाल के कोलाहल में हम उनकी आवाजों को, लोगों की भीड़ में उनके चेहरों को आसानी से पहचान सकते हैं। हम उनके क्रिया-कलापों को अन्य व्यक्तियों और घटनाओं के संदर्भ में आसानी से परख सकते हैं। उनके जीवन के सूत्र हवा में ही नहीं लटकते रहते-परानपुर की धरती के इतिहास से उनके जीवन का वैषम्य, सुख-दुःख और संवेदनाएँ अंतरंग रूप से जुड़ी दिखायी देती हैं। उनके भीतर 'टाइप' की समग्रता दिखती है, तो व्यक्तित्व का अलगाव भी मिलता है। अतः यह बिखराव केवल एक शिल्पगत प्रयोग है। यदि वह उपन्यास में विशृंखलता या अराजकता न लाकर मानवीय संबंधों को अधिक गहन और स्पष्ट रूप में अभिव्यक्त करने में समर्थ होता है, तो उसकी उपयोगिता असंदिग्ध है। यह बात दूसरी है कि हम उपन्यास के क्षेत्र में एक ही प्रकार के कथा-शिल्प को आदर्श मान बैठें और उसके प्रति हमारा आग्रह इतना प्रबल हो कि उपन्यास के रचना-विधान की अन्य समस्त पद्धतियाँ हमें निरर्थक और लक्ष्यहीन दिखने लगें।

'परती : परिकथा' में बिखराव है- मातीस के किसी चित्र के रंगों का-सा बिखराव! सतही तौर पर देखने से कैनवास पर इधर-उधर बिखरे रंग के धब्बों के अतिरिक्त कुछ भी दिखायी नहीं देता। लगता है जैसे इन धब्बों और टूटी-फूटी रेखाओं के पीछे कोई भी चालक-मस्तिष्क नहीं है, सब कुछ बेडौल और अनगढ़-सा दिखता है। किंतु जरा ध्यान से देखें तो इन्हीं रंग-बिरंगे धब्बों और अनगढ़ रेखाओं के बीच एक अद्‌भुत 'सिम्फनी' को संगीतमय धारा उमगती दिखायी देती है। यह 'सिम्फनी' और कुछ नहीं, परती की ही धूल-धूसरित, स्नेहसिक्त गाथा है, जो जीवन की गतिमयता के संगीत से स्पंदित परानपुर के धूसर, वीरान अंतहीन प्रांतर में दिन-रात बहती है।'

* परती : परिकथा : फणीश्वरनाथ 'रेणु'

ज्ञान परंपरा की भारतीय दृष्टि

डॉ. पीयूष कुमार द्विवेदी

संपर्क :
असिस्टेंट प्रोफेसर
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय
हिंदी विश्वविद्यालय, कोलकाता
ई-मेल : piyushratanbhu@gmail.com
मोबाइल नंबर : 7985176846

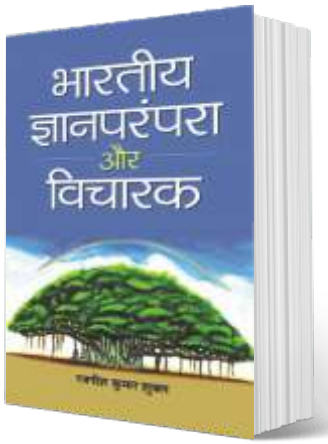

पुस्तक : भारतीय ज्ञान परंपरा और विचारक
लेखक : रजनीश कुमार शुक्ल
प्रकाशक : प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली
वर्ष : 2021
पृष्ठ : 214
मूल्य : रु. 400 (एचबी) 250 (पीबी)

'भारतीय ज्ञान परंपरा और विचारक' पुस्तक का शीर्षक ही चिंतन की गंभीरता को व्यक्त करता है। आचार्य रजनीश कुमार शुक्ल की इस पुस्तक को प्रभात पेपर बैक्स, दिल्ली ने प्रकाशित किया है। इस को मात्र ज्ञान परंपरा पर लिखित पुस्तक के रूप में नहीं देखा जाना चाहिए, अपितु प्राचीन भारतीय ज्ञान परंपरा का एक महत्त्वपूर्ण दस्तावेज मानना चाहिए। आचार्य शुक्ल ने इस पुस्तक में प्राचीन और नवीन दोनों ज्ञान परंपरा के समन्वय को बखूबी व्याख्यायित किया है। भारतीय शिक्षा परंपरा को लेकर आचार्य शुक्ल की दृष्टि बहुत बारीक है जो कि इस पुस्तक में आलोकित होती है।

'भारतीय ज्ञान परंपरा और विचारक' पुस्तक में कुल 214 पृष्ठ हैं। इसमें पैंतीस लेख पाँच भागों में विभक्त हैं। पहला भाग, भारतीय ज्ञान परंपरा और भविष्य की सभ्यता के अंतर्गत कुल छः लेख हैं जिसमें लेखक ने ज्ञान परंपरा के एक-एक तत्त्व को बारीकी से सुलझाया है। इस भाग में आचार्य शुक्ल भारतीय ज्ञान परंपरा के साथ-साथ सभ्यता की विरासत, निरंतर जीवन दृष्टि, भारत के आईने से विरासत के वैश्विक बोल, राष्ट्र के लिए एकात्मकता और विश्व में भारत कैसे गुंजायमान है, इस विषय पर गहरी सूझबूझ के साथ प्रकाश डाला है।

दूसरा भाग, 'शिक्षा का भारतीयकरण और भाषा की राजनीति' के अंतर्गत प्रोफेसर शुक्ल ने 'जीवन को त्राण देने वाली हो भारतीय शिक्षा', 'शिक्षा का हिस्सा बने हमारी विरासत', 'समकालीन दौर में शिक्षा की चिंता', 'खत्म हो जाएगी भाषा की राजनीति', 'हिंदी भाषा में है बड़ी संभावनाएँ', 'युवा वर्ग और हिंदी' के माध्यम से भारत और भारतीयता को स्थापित करने का एक सफल प्रयास किया है।

तीसरा भाग, 'गांधी का स्वराज और उनकी भारतीयता' के अंतर्गत 'वर्तमान में गांधीजी की प्रासंगिकता', 'सभ्यता के मानवीकरण का प्रयत्न है : गांधी की अहिंसा', 'गांधीजी और भारतीयता की समझ', 'गांधीजी : समाज', 'संस्कृति और स्वराज', 'समाजोद्धार और कबीर गांधी का ट्रस्टीशिप', 'हिंद स्वराज', भारतीय ज्ञानपरंपरा और हिंदी पत्रकारिता का स्वरूप एवं चुनौतियाँ' जैसे शीर्षकों के अंतर्गत आचार्य शुक्ल ने भारतीय ज्ञान परंपरा को समाज, संस्कृति और स्वराज के पथ पर जाकर समझाने की कोशिश की है।

चौथा और महत्त्वपूर्ण भाग, 'समकाल में समीचीन भारतीय विचारक' के अंतर्गत आचार्य शुक्ल ने 'वर्तमान में गौतम बुद्ध की उपादेयता', 'जैन धर्म पंथ नहीं', 'जीवन दर्शन', 'उपासना पद्धतियों का मूल उद्देश्य', 'वर्तमान की चुनौतियाँ और गोस्वामी तुलसीदास', 'युग प्रवर्तक बोधिसत्त्व बाबासाहेब आंबेडकर', 'डॉ. आंबेडकर : सार्वकालिक चिंतक', 'जय जगत के प्रणेता विनोबा भावे', 'वीर सावरकर : स्वातंत्र्य

वीरों की प्रेरणा', 'समय की जड़ता से मुठभेड़', 'परंपरा, आधुनिकता और लोक–जीवन के उन्नायक श्री नरेंद्र मोदी और 'पंडित दीनदयाल उपाध्याय : एकात्म मानव दर्शन विश्व सभ्यता के लिए अंतिम समाधान' में भारत के अत्यंत महत्त्वपूर्ण शिक्षा शास्त्रियों के माध्यम से ईसा पूर्व से लेकर वर्तमान समय तक को एक सूत्र में पिरोया है। महत्त्वपूर्ण इसलिए भी कि इस अध्याय में ऐसे महान शिक्षाशास्त्रियों का उल्लेख किया गया है जिन्होंने भारतीय शिक्षापद्धति की नींव को मजबूती प्रदान की है। यह सत्य है कि 2014 से पहले की सरकार उपर्युक्त शिक्षाशास्त्रियों का कहीं उल्लेख नहीं करती थी। उनके विचारों को शिक्षा पाठ्यक्रम में लागू करना अनिवार्य नहीं समझती थी। आचार्य शुक्ल ने वर्षों से लुप्तप्राय शिक्षाशास्त्रियों के महान कार्यों पर पड़ी धूल को साफ किया और उनको संवाद और पाठ्यक्रम का विषय बनाया।

इस पुस्तक के पाँचवें और अंतिम भाग में आचार्य शुक्ल ने 'भारत बोध के समसामयिक अर्थ संदर्भ' के अंतर्गत 'सार्थक संवाद से दूर होता समाज', 'अवसरवादियों को कभी नहीं भूलता देश', 'दुनिया को रास्ता दिखाने वाला संकट', 'जीने के लिए संघर्षरत पड़ोसियों के प्रति दायित्व', 'हम हैं समझदार ग्राहक', 'आत्मनिर्भरता से समृद्धि की संकल्पना' जैसे विषयों को बहुत दृढ़ता पूर्वक रेखांकित किया है। भारत की अस्मिता, गौरव गाथा के साथ खिलवाड़ करने वालों को आचार्य शुक्ल ने आईना दिखाया है साथ ही उनकी ओछी किस्म की मानसिकता को उजागर कर समाज को सचेत करने का स्तुत्य प्रयास किया है। यह अध्याय कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है।

पुस्तक का आरंभ पुरोवाक् से होता है, और जिस पुस्तक का पुरोवाक् भारत के पूर्व शिक्षा मंत्री रमेश पोखरियाल निशंक ने लिखा है, कविवर निशंक ने इस पुस्तक के लिए एक सारगर्भित टिप्पणी की है। उन्होंने लिखा है–"आचार्य रजनीश शुक्ल की यह पुस्तक भारतीय समाज, इतिहास, संस्कृति, राष्ट्र निर्माण, आत्म निर्भरता, पत्रकारिता आदि विषयों को सारगर्भित तरीके से प्रस्तुत करती है और ऐसा करते हुए वह गौतम बुद्ध, कबीर, तुलसीदास, गांधी, विनोबा, आंबेडकर, वीर सावरकर और पंडित दीन दयाल उपाध्याय जैसे मनीषियों को उद्धृत करते हैं, जिससे उनके विचार एक सनातन ज्ञान परंपरा के वाहक के रूप में दिखायी देते हैं।" निश्चित तौर पर आचार्य शुक्ल ने इस पुस्तक में वे समस्त सनातन ज्ञान, जो शुद्ध रूप से भारतीय है, उन सभी की मीमांसा किया है।

आचार्य शुक्ल का सोचने, समझने और लिखने का आधार राष्ट्रवादी है। आलोचक शुक्ल ने इस पुस्तक के माध्यम से जहाँ एक ओर भारतीय ज्ञान परंपरा के अंतर्गत, जिसमें आध्यात्मिक, धार्मिक, पौराणिक ज्ञान-विज्ञान की चर्चा, चरक द्वारा आयुर्वेद की खोज, प्राचीनतम भाषा संस्कृत, योग आदि का प्रचार-प्रसार किया है, वहीं भारत में ब्रिटिश शिक्षा पद्धति के नकारात्मक प्रभाव को भी दिखाया है, कि किस प्रकार ब्रिटिशों द्वारा भारतीयों को अंग्रेजी शिक्षा पद्धति से गुलाम बनाया गया। देश का शासन ब्रिटिश राज के हाथों में जाते ही भारत में शिक्षा को अंग्रेजों के अनुरूप व अनुकूल बनाने की प्रक्रिया चली जिसका प्रभाव आज तक दिखता है। 1835 में मैकाले की अंग्रेजी आधारित शिक्षा पद्धति आने से पहले देश में भारतीय भाषाओं और विषयों का बोलबाला था। जहाँ आचार्य शुक्ल ब्रिटिश पूर्व की शिक्षा पद्धति के ढाँचे पर ज़ोर देते दिखायी देते हैं, वहीं ब्रिटिशक़ालीन शिक्षा पद्धति के आधार को भारतीय दृष्टिकोण के परिप्रेक्ष्य में ग़लत साबित करते हैं। भारतीय ज्ञान परंपरा एवं विचारक में आचार्य शुक्ल लिखते हैं कि– "भारत की शिक्षा प्रणाली के लक्ष्य को स्थापित करते हुए मैकाले कहता है कि हमें इस प्रकार की शिक्षा प्रणाली ले आनी है, जिस प्रणाली के आधार पर रक्त और रंग से भारतीय हो, किंतु विचारों से अंग्रेज हो। विचारों से अंग्रेज़ होने का तात्पर्य, ऐसे ब्रिटिश राजभक्तों को भारत में खड़ा करना था, जो ब्रितानी राज को मज़बूती दे सकें, इसलिए 1857 में जब पहली बार तीन विश्वविद्यालय खोले गये, 1885 में चौथा खोला गया तो उन विश्वविद्यालयों में जो शिक्षा के विषय थे–उनका भारतीय समाज के साथ, भारतीय जीवन और भारतीय लोगों के साथ कोई संबंध नहीं था। वे विधिशास्त्र पढ़ा रहे थे, वे भाषा और साहित्य पढ़ा रहे थे, वे दर्शन नहीं, फिलासफी पढ़ा रहे थे। भारतीय दर्शनों को इंडियन फिलॉसफी कहें तो उनका भी 1857 के विश्वविद्यालय में कोई स्थान नहीं था। भारत के उन विश्वविद्यालयों की स्थापना में जॉन स्टूअर्ट मिल का बहुत बड़ा योगदान है, जो उपयोगितावाद के जनक के रूप में जाने जाते हैं। मिल को इसलिए भी याद किया जाता है, क्योंकि वह 1835 के एक्ट का पहला विरोधी है और जो सिफ़ारिश करता है कि मातृभाषा में भारतीय भाषाओं की शिक्षा व्यवस्था को बंद नहीं किया जाना चाहिए, लेकिन उसके बाद भी वह लक्ष्य की दृष्टि से, मैकाले से सहमत है और मैकाले के एक्ट में संशोधन का प्रस्ताव करता है।"

इस पुस्तक से गुजरते हुए यह तटस्थ रूप से कहा जा सकता है कि आचार्य शुक्ल व्यावसायिक शिक्षा के साथ साथ स्वायत्त शिक्षा के समर्थक हैं। गांधी से लेकर काका कालेलकर के बहाने आचार्य शुक्ल ने भारतीय शिक्षा को व्यावसायिक शिक्षा और स्वायत्त शिक्षा के रूप में प्रस्तुत किया है। आलोचक का कहना है कि यह कैसी शिक्षा है जो स्वावलंबन न सिखाती हो। फिर उस शिक्षा का अर्थ ही क्या रह जाएगा? प्रत्येक व्यक्ति शिक्षा इसलिए प्राप्त करता है कि उसको एक अच्छा रोज़गार मिल सके और उससे प्राप्त आय से वह अपना और अपने समाज का कुछ भला कर सके। राष्ट्र के विकास में शिक्षा महत्त्वपूर्ण स्तंभ है। अकादमिक सशक्तता के साथ-साथ आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक मजबूती के लिए भी शिक्षा का उतना ही महत्त्व है। अति प्राचीन भारतीय शिक्षा की संस्कृति को वैश्विक स्तर पर सैकड़ों वर्ष पहले से ही सराहा जा चुका है। शिक्षा शास्त्री आचार्य शुक्ल गांधी और काका कालेलकर के बहाने स्वावलंबन पर अपना पक्ष रखते हुए लिखते हैं कि–"भारतीय शिक्षा के संदर्भ में चर्चा होगी तो गांधी की इस बात को याद रखना पड़ेगा कि उनकी स्पष्ट मान्यता थी कि शिक्षा को स्वायत्त होना चाहिए और स्वावलंबी भी। जब काका कालेलकर ने गांधी को बताया कि हमने शिक्षा की वह नीति स्थापित की है, जिसमें शिक्षा स्वायत्त कैसे होगी, यह तो स्पष्ट रूप से उसमें प्रतिपादित हो गया है, लेकिन स्वावलंबन का प्रश्न हम नहीं हल कर सके हैं। गांधी ने उसको ख़ारिज किया और कहा कि अगर स्वावलंबन नहीं है तो स्वायत्तता नहीं हो सकती। जो पराश्रित है, परावलंबी है, वह स्वायत्त और स्वतंत्र नहीं हो सकता है। शिक्षा को स्वायत्त और स्वावलंबी आवश्यकता ही क्यों है। भारत के संविधान द्वारा भारत सरकार ने हमें सारे अधिकार और कर्तव्य दे रखे हैं। नागरिकों के कल्याण की चिंता करना भारत के सरकारों की ज़िम्मेदारी है, लेकिन पूरी दुनिया में शिक्षा के इतिहास पर ध्यान देंगे तो पाएँगे कि वही शिक्षा समाज की संरक्षा के लिए, समाज के विकास के लिए, समाज में सबके सुख के संसाधनों को उत्पन्न करने वाले व्यक्ति के निर्माण के लिए सफल सिद्ध हुई है, जो राज्याश्रय पर नहीं चली है।"

भारतीय संदर्भ में राष्ट्रवाद को लेकर आचार्य शुक्ल का मत स्पष्ट है। प्रत्येक राष्ट्र अपने राष्ट्रहित को सर्वोच्च वरीयता देता है और राष्ट्रीय हित की रक्षा के लिए ही सत्ता का संपूर्ण संघर्ष भी होता है। आचार्य शुक्ल का 'भारतीय परंपरा : विरासत के वैश्विक बोल' को पढ़ने के बाद जो निष्कर्ष निकलता है उसका मायने यही है कि राष्ट्रवाद ही राष्ट्र भक्ति पैदा करता है। भारतीय परिदृश्य में एक गीत की पंक्ति को बार–बार दोहराया जाता है कि 'जिस देश जाति में जन्म लिया बलिदान उसी पर हो जाएँ'। आचार्य शुक्ल का राष्ट्रवाद मनुष्य के रोम-रोम में पलने वाली राष्ट्र के प्रति सजग प्रतिबद्धता को पल्लवित करता है। वह प्रतिबद्धता असहायों, दलितों, भूखमरी के शिकार व्यक्तियों के साथ खड़े रहने के साथ-साथ उनकी सहायता करने की है। पिछले सात वर्षों में जिस प्रकार से वंचित तबके के प्रति मोदी सरकार खड़ी है, उसकी देखभाल कर रही है, उसपर आचार्य शुक्ल ने गहराई से चिंतन किया है। एक जगह लिखते हैं- "भारत की सामरिक शक्ति बढ़ी है। भारत का आत्मबल बढ़ा है। भारतीय जीवन दृष्टि के प्रति दुनिया का विश्वास बढ़ा है। इस नाते भारत जीतता हुआ दिखायी दे रहा है। यह सच है कि इन छः वर्षों में ऐसा इसलिए हुआ है, क्योंकि नरेंद्र मोदी जैसा नेतृत्व था। ये सारी चीज़ें पहले भी थीं, मोदी के पहले भी थी, लेकिन एक ऐसा नेतृत्व जो आशा, विश्वास और प्रतिबद्धता का संबल बन सकता है, जब प्राप्त होता है तो लोग उसका अनुसरण करते हैं। पिछले आम चुनाव के परिणाम ने बताया कि मोदी के ऊपर जन–जन का विश्वास है और बाद में इसको मोदी के विकास के स्थान पर राष्ट्रवाद के विकास की विजय के रूप में प्रकाशित करने की कोशिश की गयी, जैसे राष्ट्रवाद कोई गाली हो, अमेरिकी नेशनलिज्म ठीक है, ब्रिटिश नेशनलिज्म भी ठीक है, चाइनीज नेशनलिज्म भी ठीक हैं, यहाँ तक कि जो नेशनलिज्म नहीं है, ऐसा पाक नेशनलिज्म भी ठीक हैए लेकिन भारतीय राष्ट्रीयता को लेकर प्रश्न, उन्हीं लोगों द्वारा खड़े क्यों होते है, आखिर भारत में आते हुए राष्ट्रीयता ख़राब चीज़ क्यों हो जाती है।"

निश्चित तौर पर प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी के सत्ता में आने के बाद भारत और भारतीयता की प्रतिष्ठा संपूर्ण विश्व में मज़बूत हुई है। भारत विकास पथ पर गतिमान हो रहा है। यह सत्य है कि इस विकसित परिदृश्य को देखकर कुछ लोगों के मन में जलन की भावना तीव्र हो जाती है। पर, उन सभी बाधक तत्त्वों को अनदेखा करते हुए यशस्वी प्रधानमंत्री मोदी ने दुनिया के सभी क्षेत्रों में जमकर कार्य किया है।

आचार्य रजनीश कुमार शुक्ल की कर्मभूमि काशी है। आचार्य शुक्ल देश के किसी कोने में रह रहे हों परंतु ज्ञान प्राप्त की आधार भूमि काशी को मानते हैं। ज्ञानमार्ग के आदिगुरु शिव के अनन्य उपासक आचार्य रजनीश कुमार शुक्ल दर्शन शास्त्र के साथ-साथ संस्कृत, हिंदी, इतिहास, भूगोल, अर्थशास्त्र और राजनीति

शास्त्र के आधिकारिक विद्वान हैं। आचार्यों ने हमारे यहाँ शास्त्रों में काशी की व्युत्पत्ति 'काशते प्रकाशते इति काशी' की है। जो सबको प्रकाशित करती है, उसी को काशी कहा जाता है। आचार्य शुक्ल ने यहीं से राष्ट्रवाद को प्रकाशित करने का सूत्र लिया है। काशी की संस्कृति, सभ्यता, आचार-विचार की प्रतिष्ठा आज संपूर्ण विश्व में गुंजायमान है। आचार्य शुक्ल ने काशी को जितना जिया है, उतना ही महसूस भी किया है। साहित्य, संस्कृति, सौंदर्य का संगम काशी की धरती से उठकर आचार्य शुक्ल ने राष्ट्रवाद में युवाओं की भूमिका को स्पष्ट करते हुए लिखा है–"भारत का युवा किसी भी पंथ का, कोई भी भाषा बोलने वाला हो, आज वह एक नये भारत गढ़ना चाहता है और नया भारत 'मेकिंग ऑफ़ न्यू नेशन' नहीं बल्कि 'न्यू मेकिंग ऑफ दि नेशन' है, वह एक नए राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया नहीं है, बल्कि जो राष्ट्र है, उसको प्रकाशित करने की है, इसलिए प्रदीप्त भारत पूरी दुनिया में दिख रहा है, इसको और अधिक प्रकाशवान बनाने के लिए स्वाभाविक है कि तत्त्वदृष्टि की आवश्यकता है और यह तत्त्व दृष्टि भारत की अनादि संस्कृति से मिलेगी।"

आचार्य शुक्ल ने अपनी पुस्तक भारतीय ज्ञान परंपरा और विचारक में ज्ञान परंपरा को मजबूत बनाने वाली भाषा को लेकर भी अपना मंतव्य प्रस्तुत किया है। असाधारण भाषा के रूप में जाने जाने वाली हिंदी निश्चित रूप से अखंड वसुधा की गलाहार है, परंतु आचार्य शुक्ल ने हिंदी भाषा की बहुत सारी समस्याओं को उजागर किया है। साथ ही, भाषा को कैसे अंतरराष्ट्रीय परिदृश्य में स्थापित किया जाए इसका भी समाधान करने का सफल प्रयास किया है। आचार्य शुक्ल ने लिखा है–"यूरोप के विविध देश, जिन्होंने कभी हम पर शासन किया था, आज हिंदी के प्रभाव क्षेत्र में हैं। दुनिया के पच्चीस–तीस देशों में हिंदी बोली-सुनी जाती है, लेकिन आज भी हिंदी को क्षेत्रीय भाषा के रूप में ही मान्यता प्राप्त है, जनपदीय भाषा के रूप में मान्यता प्राप्त है, इसे अंतर महाद्वीपीय और अंतरराष्ट्रीय भाषा नहीं माना जाता है। हिंदी का अंतरराष्ट्रीय स्वरूप केवल जनभाषा के रूप में विकसित हो तो यह सही अर्थों में अंतरराष्ट्रीय नहीं होगा। यह परिदृश्य विविध क्षेत्रों में हालाँकि बदला है, व्यापार का क्षेत्र उसमें सबसे बड़ा है। आज बहुराष्ट्रीय कंपनियों को हिंदी जानने वाले लोगों की ज़रूरत है। लेकिन भाषा के इस फैलाव और प्रभाव को हिंदी भाषा की ताकत नहीं माना जा सकता, यह तो हिंदी जन के बीच विकसित हो रहे बाजार की ताकत है। इसके बावजूद हिंदी का एक स्याह पक्ष यह भी है कि हिंदी के समक्ष बहुत सारी समस्याएँ हैं। इस मामले में तो भारत बहुत कमजोर राष्ट्र है। हम हिंदी को यू.एन. की भाषा बनाना चाहें, विश्व की भाषा बनाना चाहें, उलटकर कोई आपसे यह सवाल पूछे कि 'क्या आप इसे भारत की भाषा बना सके हैं?' वह कठिन नहीं है, इतनी बड़ी संख्या है दुनिया भर के अन्य देशों में, जो हिंदी को सहयोग करती है।"

आचार्य शुक्ल द्वारा किये जा रहे भगीरथ प्रयास सराहनीय हैं, परंतु इस कार्य में आमजन की सहभागिता भी आवश्यक है। आचार्य शुक्ल कहते हैं - "क्या आप इसे भारत की हिंदी भाषा को संस्कार में शामिल करना होगा। भाषा को राजनीतिक हथियार के रूप में प्रयोग नहीं करना चाहिए, नहीं तो हिंदी कभी भी भारत की भाषा नहीं बन सकती है। आज चीन की भाषा मैंडरिन इसलिए मजबूत है कि वहाँ के सभी नागरिक अपनी भाषा मैंडरिन का ही प्रयोग करते हैं। भारत में आज हज़ारों लोग अलग–अलग भाषा–बोली में लिख रहे हैं, एक नजरिए से यह ठीक है तो दूसरे नजरिए से हिंदी कहीं-न-कहीं कमजोर हो रही है।

अंततः आचार्य रजनीश कुमार शुक्ल ने 'भारतीय ज्ञान परंपरा और विचारक', लिखकर तमाम प्रकार की दस्तावेजी जानकारी उपलब्ध करायी है, जिसमें स्वावलंबन से लेकर भाषा तक को नये ढंग से विश्लेषित किया है। आचार्य शुक्ल ने धर्म अध्यात्म, ज्योतिष, आयुर्वेद, स्त्री शिक्षा और इतिहास जैसे विषयों पर भी प्रभूत मात्रा में अतुलित अध्ययन किया है। अपनी अध्ययनशीलता को तुष्ट करने के लिए आचार्य शुक्ल बंगला, उड़िया, मराठी, गुजराती, असमिया, संस्कृत और तमाम भारतीय भाषाओं के विद्वानों के साथ संवाद स्थापित करते रहते हैं। ❖❖❖

काण्ट-दर्शन की प्रत्यभिज्ञा

दिग्विजय मिश्र

संपर्क :
शोध-छात्र, दर्शन एवं धर्म विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी-05

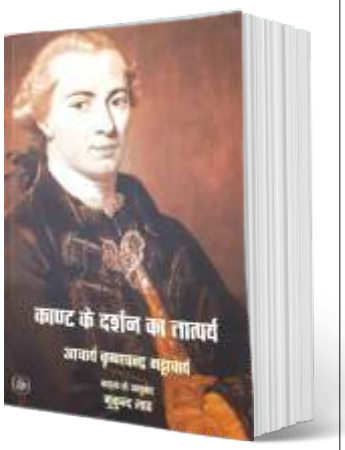

पुस्तक : काण्ट के दर्शन का तात्पर्य
लेखक : आचार्य कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य
अनुवादक : मुकुन्द लाठ
प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., नई दिल्ली
वर्ष : 2020 (प्रथम संस्करण)
मूल्य : 299 रु.
पृष्ठ : 247

उन्नीसवीं-बीसवीं शताब्दी के विशिष्ट भारतीय दार्शनिकों में से एक प्रोफेसर कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य ने पाश्चात्य दार्शनिक इमैनुएल काण्ट के दर्शन पर बाङ्ला-भाषा में 'काण्टदर्शनेर तात्पर्य' नामक एक लेख लिखा। जिसमें चार खंड हैं- कृति-परीक्षा या धर्म-परीक्षा, ज्ञान-परीक्षा, वेदना-परीक्षा तथा निश्चय संग्रह। 1950 में प्रोफेसर कृष्णचंद्र भट्टाचार्य के यशस्वी शिष्य रासबिहारी दास की 'काण्ट दर्शन' पुस्तक बांग्ला भाषा में प्रकाशित हुई। जिसके अंत में भट्टाचार्य जी का लेख संलग्न है। उसके बाद इस पुस्तक का प्रकाशन (प्रथम संस्करण) पश्चिम बंग राज्य पुस्तक पर्षत्, कलिकाता (कोलकाता) से 1979 ई. में हुआ। पुनः इस लेख कृति का आंग्ल-भाषा में अनुवाद प्रो. जितेन्द्र नाथ मोहंती और तारा चटर्जी ने किया, जिसका शीर्षक है- 'इम्प्लीकेशन ऑफ़ द फ़िलॉसफ़ी ऑफ़ काण्ट'; जो ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली से सन् 2011ई. में प्रकाशित हुआ। तत्पश्चात् प्रो. मुकुंद लाठ जी ने भट्टाचार्य जी के इस बांग्ला-भाषा की कृति का हिंदी-भाषा में अनुवाद करके उसे उन्मीलन 2015-16 ई. के चार अंकों में क्रमशः प्रकाशित किया। अब यह अनुवाद समेकित रूप में प्रो. अरविंद कुमार राय जी द्वारा लिखित भूमिका के साथ पुस्तक के रूप में हमारे समक्ष उपलब्ध है, जिसका शीर्षक है- 'काण्ट के दर्शन का तात्पर्य'। इसका प्रकाशन (प्रथम संस्करण) राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., नई दिल्ली से सन् 2020 ई. में हुआ है।

इस पुस्तक में 136 पृष्ठ की 'भूमिका' प्रो. अरविंद कुमार राय ने लिखी है। प्रो. राय 'भूमिका' का तात्पर्य समझाते हुए कहते हैं कि भूमिका का अर्थ है 'भूमि वाली' या 'भूमिवाली पुस्तिका'। भूमिकाकार के अनुसार काण्ट का दर्शन मुख्यतः तीन परीक्षाओं (शुद्ध-बुद्धि की परीक्षा, व्यावहारिक-बुद्धि की परीक्षा तथा संवेदनात्मक/भावनात्मक-बुद्धि की परीक्षा) के माध्यम से अभिव्यक्त हुआ है। अतः निश्चितता की परीक्षा भी तीन प्रकार से फलित होती है। वस्तु, ज्ञात और अज्ञात दोनों स्थितियों में संभावित है। अतः व्यक्तता ज्ञातता का ही नामंतर है। लेकिन ज्ञातता से पूर्व वस्तु अज्ञातता या अव्यक्तता की अवस्था हो सकती है। काण्ट ने व्यक्त और अव्यक्त दोनों प्रकार के पदार्थों के निश्चय की चर्चा की है। निश्चय के दो भेद हैं- प्रथम, ज्ञान-निश्चय और द्वितीय, ज्ञानेतर-निश्चय; पुनः ज्ञानेतर-निश्चय के भी दो भेद हैं-प्रथम, संकल्पनात्मक आत्म-बोध तथा तत्सापेक्ष निश्चय और द्वितीय, सुख-दुःख की संवेदना पर आधारित निश्चय। आगे भूमिकाकार बताते हैं कि काण्ट ने ज्ञान-निश्चय का विचार शुद्ध-बुद्धि की परीक्षा में, संकल्पगर्भित ज्ञानेतर-निश्चय का विचार व्यावहारिक-बुद्धि की परीक्षा में तथा सुख या दुःख गर्भित ज्ञानेतर-निश्चय का विचार संवेदनात्मक /भावनात्मक-बुद्धि की परीक्षा में किया है। भट्टाचार्यजी ने अपने इस ग्रंथ में द्वितीय निश्चय का विचार सर्वप्रथम कृति-परीक्षा या संकल्प-परीक्षा में किया है, ज्ञान-निश्चय का विचार द्वितीय-खंड में तथा संवेदना गर्भिता ज्ञानेतर-निश्चय का विचार तृतीय-खंड में किया है। ग्रंथ का अंतिम खंड 'निश्चय-संग्रह' निश्चयों का विवरण देता है। भूमिकाकार ने कृति-परीक्षा और संवेदना-परीक्षा में भट्टाचार्य महोदय के मत के विवेचन के पूर्व, इन विषयों पर काण्ट के दर्शन के आधार पर सामान्य परिचय दिया है। अतः भूमिकाकार ने इन दोनों खंडों में प्रत्येक खंड को दो भागों में विभाजित किया है, जिसमें भाग 'अ' में सामान्य परिचय तथा भाग 'ब' में भट्टाचार्य के मत का विवेचन किया है तथा शेष दोनों खंडों, जिन पर विद्वानों ने अन्यत्र हिंदी-भाषा में इस दिशा में कार्य किया है उसपर भूमिकाकार ने अलग से कुछ न कहते हुए प्रसंगवश ही कुछ कहा है।

कृति-परीक्षा या धर्म-परीक्षा का

भावार्थ के भाग 'अ' में काण्ट के नैतिक-दर्शन का सामान्य परिचय भूमिकाकार ने दिया है, जिसमें मुख्य रूप से नैतिक-दर्शन के महत्त्व को तथा सिद्धांत और व्यवहार के भेद का, आदेश के प्रकार का तथा निरपेक्ष नैतिक आदेश के विभिन्न सूत्रों का, निरपेक्ष आदेश के महत्त्व का तथा इस पर उठाये गये आक्षेपों का, काण्ट के द्वारा नैतिकता के क्षेत्र में की गयी कापरनिकस क्रांति का, जॉनरॉल्स द्वारा सामाजिक, राजनैतिक परिप्रेक्ष्य में काण्ट के नैतिक सिद्धांत को संविदावाद का आधारभूत सिद्धांत मानने का, विशेषतः स्वतंत्रता का तथा 'ओपस पोस्ट्युमम्' में प्रतिपादित काण्ट के नैतिक विचारों का विवेचन किया है। भूमिकाकार के अनुसार 'काण्ट के दर्शन का तात्पर्य' नामक ग्रंथ का प्रारंभ कृति-परीक्षा से इसलिए किया है कि भट्टाचार्य जी, काण्टीय दर्शन में प्रतिपादित आत्मा के स्वरूप को पकड़ना चाहते हैं।

भूमिकाकार आगे बताते हैं कि काण्ट के अनुसार हमारे जितने भी सैद्धांतिक और व्यावहारिक बुद्धि के प्रश्न हैं, उन्हें तीन प्रश्नों में समाहित किया जा सकता है- प्रथम, मैं क्या जान सकता हूँ?; द्वितीय, मुझे क्या करना चाहिए? तथा तृतीय, मुझे क्या आशा करनी होगी? प्रथम प्रश्न का उत्तर काण्ट ने शुद्ध-बुद्धि की परीक्षा में दिया है तथा शेष दो प्रश्नों का उत्तर व्यावहारिक-बुद्धि की परीक्षा में दिया गया है। परीक्षाओं का मूल उद्देश्य जड़वाद, भाग्यवाद, अनीश्वरवाद, अतार्किक स्वतंत्र चिंतनवाद, कट्टरवाद तथा अंधविश्वासवाद को जड़ से उखाड़ना है, क्योंकि इसका दुष्प्रभाव व्यापक है; तथा विज्ञानवाद और संदेहवाद को भी परास्त करना है। भूमिकाकार के अनुसार, काण्ट के दर्शन में सार्वभौम नैतिक नियम के सम्मान को वही महत्त्व दिया गया है, जो बौद्ध-धर्म में 'धम्मं शरणं गच्छामि' को दिया जाता है। आगे काण्ट के निरपेक्ष आदेश को प्रस्तुत करने में भूमिकाकार ने पैटन की पुस्तक 'निरपेक्ष आदेश' की भाँति ही उसका वर्णन किया हैं। इसमें तीन सूत्र हैं तथा प्रथम और तृतीय सूत्र के अंतर्गत एक-एक उपसूत्र भी हैं, जो इस प्रकार हैं- प्रथमसूत्र-सार्वभौम विधान का सूत्र, प्रथम सूत्र का उपसूत्र-प्रकृति-विधान का सूत्र; द्वितीय सूत्र-स्वयं साहस का सूत्र; तृतीयसूत्र-स्वतंत्रता का सूत्र, तृतीय सूत्र का उपसूत्र-साध्यों के राज्य का सूत्र। काण्ट ने सार्वभौम विधान के नियम (प्रथम सूत्र) के विषय में कहा है कि इसे प्रकृति-विधान का सूत्र भी माना जा सकता है। ....सार्वभौम नैतिक नियम, एक अनुभव निरपेक्ष संश्लेषणात्मक नियम है। इस नियम के आधार पर या कर्म का अर्थ है कि सार्वभौम नियम के आधार पर जगत् में किसी कर्म-व्यापार को जन्म देना। उदाहरण के लिए यदि हमने कर्ज लिया है तथा सार्वभौम नियम का विचार कर हम उस कर्ज को लौटाते हैं, तो हम एक कार्य-व्यापार को जन्म देते हैं। अतः 'प्रकति' से तात्पर्य यहाँ मूलतः कर्म को नियंत्रित करने वाले अनुभव निरपेक्ष नैतिक नियम से है। भट्टाचार्य जी के अनुसार यहाँ दो प्रकार के कार्य जन्म लेते हैं- प्राकृतिक तथा अप्राकृतिक। प्राकृतिक कार्य कर्ज लौटाना है तथा अप्राकृतिक कार्य आत्मा की पुण्य-प्राप्ति अवस्था से संबंधित है। भूमिकाकार के अनुसार, जॉन रॉल्सने इसकी सामाजिक व्याख्या की है। उन्होंने ने काण्ट के कर्तव्यवाद को न केवल कर्तव्यवाद के रूप में लिया है, अपितु अविनिर्माणवाद (कंस्ट्रक्टिविज़्म) के रूप में लिया है। ध्वंसवाद (डीकंस्ट्रक्टिविज़्म) के लिए हिंदी में विनिर्माणवाद का प्रयोग होता है, अतः निर्माणवाद के लिए अविनिर्माणवाद का प्रयोग उचित होगा। रॉल्स के अविनिर्माणवाद को समझने के लिए उनके द्वारा प्रतिपादित निरपेक्ष नैतिक आदेश की प्रक्रिया (कैटगारिकल इंपरेटिव प्रोसीजर) को समझना आवश्यक है, जिसे संक्षेप में रॉल्स सी.आई. प्रक्रिया कहते हैं।

काण्ट के समर्थकों (जॉन सिल्बर आदि) का मानना है कि जिस प्रकार ज्ञान के क्षेत्र में काण्ट ने 'कापरनिकस जैसी क्रांति' की है, उसी प्रकार नैतिकता के क्षेत्र में भी 'कापरनिकस जैसी क्रांति' की है। पुनः भूमिकाकार के अनुसार, काण्ट के नीतिशास्त्र की चर्चा अधूरी रहेगी जब तक 'ओपस पोस्ट्युमम्' में प्रतिपादित काण्ट के विचारों पर दृष्टिपात न किया जाए। इस ग्रंथ का अधिकांश भाग 1800 ई. के बाद का है। भूमिकाकार मुख्यरूप से इस ग्रंथ में यह देखने की कोशिश करते हैं कि क्या इस ग्रंथ में काण्ट के नैतिक मान्यताओं में आमूल परिवर्तन दिखायी पड़ते हैं अथवा नहीं? तो ज्ञात होता है कि काण्ट के नैतिक

द्वितीय खण्ड "ज्ञानपरीक्षा" की विस्तृत व्याख्या लेखक सत्रह बिंदुओं में करते हैं। जिसकी अतिसंक्षेप में यहाँ चर्चा हो सकती है- पहला बिंदु है 'ज्ञान का लक्षण'। दूसरा बिंदु है 'ज्ञात विषय की आभासात्मक वस्तुता' (फेनोमेनल रियलिटी)। तीसरा बिंदु है 'ज्ञात-विषय का प्रकार और ज्ञान-क्रिया'। चौथा बिंदु है 'आकारक और प्रकारक ज्ञान-क्रिया'। जिसके अनुसार ज्ञान के साथ विषय का संबंध विषय की प्रकारता होती है, विषय के साथ ज्ञान का संबंध ज्ञान-क्रिया है और विषय का प्रकार-विशेष ज्ञान-क्रिया-घटित फल होता है। पांचवाँ बिंदु है 'ज्ञानांग-रूपी कल्पना'। जिसमें लेखक बताते हैं कि ....यह अनुभव सिद्ध है कि ज्ञानांग-रूपी कल्पना वेदना-जन्य कल्पना और अलीक कल्पना से भिन्न है।

दर्शन का सर्वोच्च शिखर नैतिकता का निरपेक्ष आदेश है। उसका स्थान यहाँ -ओपस पोस्ट्युमम् में- भी पूर्णतः यथावत् सुरक्षित रखा गया है।

'कृति-परीक्षा या धर्म-परीक्षा का भावार्थ' के भाग 'ब' में भट्टाचार्य जी के मत का विवेचन करते हुए कहते हैं कि काण्ट के अनेक व्याख्याकारों का यह मानना है कि काण्ट के आलोचनात्मक दर्शन का श्रीगणेश शुद्ध-बुद्धि की परीक्षा से होता है तथा अंत भावनात्मक-बुद्धि की परीक्षा पर। काण्ट ने 1790 ई. में भावनात्मक-बुद्धि की परीक्षा में इस प्रकार का मत व्यक्त किया था। भट्टाचार्य जी की व्याख्या में निश्चितता का विचार करते समय इन्हीं तीन परीक्षाओं को ध्यान में रखा गया है। निश्चितता में भेद का प्रसंग सर्वप्रथम व्यावहारिक-बुद्धि की परीक्षा की समस्याओं को लेकर उत्पन्न होता है, इसलिए भट्टाचार्य जी ने सर्वप्रथम कृति-परीक्षा से ही 'काण्ट के दर्शन का तात्पर्य' नामक ग्रंथ को प्रारंभ किया है। भट्टाचार्य जी के अनुसार, काण्ट के लिए प्रमात्मक ज्ञान सैद्धांतिक और व्यावहारिक दो प्रकार का है। नैतिकता का विचार करते समय काण्ट के दर्शन में सचेतनकर्ता की भूमिका अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। भट्टाचार्य जी का विश्लेषण, काण्ट के विचारों के मूल अभिप्राय के अनुकूल है। भट्टाचार्य जी कहते हैं कि कर्तृज्ञानात्मक कर्म को कृति कहा जाता है। कर्म मात्रा में कर्तृत्व ज्ञान नहीं होता है। मैं कर्म कर रहा हूँ, इस ज्ञान में यदि 'मैं क्यों कर रहा हूँ', इसका ज्ञान रहता है तो यह कर्म कर्तृत्व ज्ञानात्मक कर्म कहा जाएगा। काण्ट कहते हैं कि सभी प्रकार के कर्मों को करने के लिए यह जानना आवश्यक नहीं है कि वे उचित या अनुचित हैं। भट्टाचार्य जी ने इसका उदाहरण दिया है कि यदि मैं कोई कर्म आनंद या लीलाबुद्धि से संपादित कर रहा हूँ, तो ऐसे कर्म को कर्तृत्व ज्ञानात्मक कर्म या कृति कहकर नहीं स्वीकारा जा सकता है।

भूमिकाकार 'ज्ञान-परीक्षा का भावार्थ' का परिचय बताते हुए कहते हैं कि इस खण्ड में भट्टाचार्य जी ने शुद्ध-बुद्धि की परीक्षा के आधार पर ज्ञान का स्वरूप, ज्ञान की प्राप्ति में देश-काल की भूमिका एवं स्वरूप, विकल्पों का तात्त्विक तथा अतिविषयक निगमन, आकारिकरण, अनुभवात्मक सिद्धांत, प्रज्ञा के विज्ञानों का स्वरूप एवं द्वंद्वात्मक भ्रम का विवेचन करते हुए, ज्ञान और ज्ञानेतर निर्णय को स्पष्ट किया है। काण्ट की प्रसिद्ध उक्ति है कि समस्त ज्ञान अनुभव से प्रारंभ होता है, लेकिन इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता है कि समस्त ज्ञान अनुभव से उत्पन्न होता है। ...भट्टाचार्य जी के अनुसार, काण्ट के दर्शन में ज्ञान क्रिया और अक्रिया दोनों है। क्रिया, इसलिए कि संवृतीय विषय में भाषित होने वाले अनेक विशेषण ज्ञाता के द्वारा निर्मित या आरोपित हैं; लेकिन उसकी प्रतीति विषय के रूप में होती है। अतः ज्ञान, काण्ट के दर्शन में, क्रिया और प्रकाश दोनों है। काश्मीर शैव-दर्शन की शब्दावली में काण्ट के अनुसार, ज्ञान विमर्श और प्रकाश दोनों है।

'वेदना-परीक्षा का भावार्थ' खंड को भी भूमिकाकार कृति-परीक्षा की तरह दो भागों में विभाजित करते हैं, जिसमें भाग 'अ' में काण्ट की संवेदनात्मक या भावनात्मक-बुद्धि की परीक्षा का संक्षेप में विवेचन करते हैं तथा भाग 'ब' में भट्टाचार्य जी के विचारों का परिष्कृत सार बताते हैं। भाग 'अ' में भूमिकाकार प्रयोजनता के भेद का निरूपण, सौंदर्य के स्वरूप का निरूपण, अनुचिंतनात्मक निर्णयों का वर्णन, प्रतिभा का स्वरूप, सौंदर्य और महाभाव के विषयों भेद तथा महाभाव का विवेचन, सुंदर और उदात्त के ऊपर काण्ट के एक अन्य ग्रंथ 'सुंदर और उदात्त की संवेदना पर पर्यवेक्षणाएँ' के आधार पर विवेचन तथा प्रयोजनता के स्वरूप का निरूपण करते हैं। इस निरूपण के अंतर्गत भूमिकाकार ने काण्ट के दर्शन को भली-भाँति समझाने के लिए उपनिषद्, श्रीमद्भगवद्गीता और बाइबिल के साथ-साथ कई एक भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शनों से काण्ट के दर्शन की तुलना भी की है। 'सुंदर और उदात्त की संवेदना पर पर्यवेक्षणाएँ' नामक पुस्तक में स्त्री-पुरुष विमर्श की चर्चा करते हुए काण्ट ने स्त्री को सौंदर्य की मूर्ति तथा पुरुष को महानता की मूर्ति माना है।

'वेदना परीक्षा का भावार्थ' के भाग 'ब' में चर्चा करते हुए कहते हैं कि भट्टाचार्य जी ने सर्वप्रथम सौंदर्यात्मक कथनों को अभिव्यक्त करने वाले कथनों का आगे भूमिकाकार ने विश्लेषण किया है।... काण्ट ने वैकल्पिक कथन और अनुचिंतनात्मक कथन का भेद करते हुए यह प्रदर्शित किया है कि सौंदर्यात्मक कथन अनुचिंतनात्मक होते हैं। भट्टाचार्य जी के अनुसार, इन दो प्रकार के कथनों में भेद के लिए दोनों कथनों में स्थित उद्देश्य और विधेय के स्वरूप पर विचार आवश्यक है। ज्ञानात्मक कथनों में विधेय विशेषण होता है तथा अनुचिंतनात्मक कथनों में विधेय विशेष्य होता है। भट्टाचार्य जी ने अनुचिंतनात्मक कथनों के दो भेद किये हैं- अस्फुट तथा स्फुट। अस्फुट कथन सौंदर्यात्मक तथा महाभावात्मक क्षेत्र में होते हैं तथा स्फुट कथन विषयनिष्ठ प्रयोजनपरक प्राकृतिक विषयों के क्षेत्र में होते हैं। इस प्रकार से वे भावनात्मक बुद्धि की परीक्षा में विवेचित प्रथम-खंड और द्वितीय-खंड में एक आंतरिक संबंध दिखाने का प्रयास करते हैं।

'निश्चय संग्रह का भावार्थ' नामक चतुर्थ खंड का परिचय देते हुए भूमिकाकार बताते हैं कि भट्टाचार्य जी ने इस खंड में मुख्यरूप से दो बिंदुओं पर प्रकाश डाला है, जिसमें प्रथम है-विश्लेषणात्मक अध्यवसाय निश्चय और संश्लेषणात्मक अध्यवसाय में भिन्नता है तथा द्वितीय है- सभी कथन या अध्यवसाय जो मननात्मक होते हैं, वे संश्लेषणात्मक होते हैं। भूमिकाकार ने भट्टाचार्य जी के इन्हीं दो बिंदुओं पर उदाहरण सहित विवेचना की है।

लेखक प्रो. कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य ने अपने लेख के प्रारंभ में ही काण्ट के दर्शन से परिचय कराते हुए कहा है कि काण्ट के मत में निश्चयमात्र ही ज्ञान नहीं होता, ज्ञान-भिन्न निश्चय भी होता है। अन्य (ज्ञान-भिन्न) निश्चयों में 'यह ज्ञान है' ऐसा भ्रम होता है और निश्चय से भिन्न किसी-किसी प्रत्यय में भी 'यह निश्चय है'ऐसा भ्रम होता है। ऐसे भ्रम को दूर करने के लिए निश्चय प्रत्यय की विस्तार से परीक्षा प्रयोजनीय है। काण्ट के दर्शन में निश्चय-परीक्षा पर विचार ही प्रधान है। इसीलिए इस दर्शन को परीक्षा-दर्शन (क्रिटिकल फ़िलॉसफ़ी) का नाम दिया जाता है। लेखक के अनुसार काण्ट की निश्चय-परीक्षा, ज्ञान-परीक्षा, कृति-परीक्षा और वेदना-परीक्षा, इन तीन भागों में विभक्त हैं। अपनी ज्ञान-परीक्षा में काण्ट ने प्रधानतः विषय-ज्ञान पर विचार किया है। कृत्यात्मक आत्मज्ञान और तत्-सापेक्ष ज्ञानेतर निश्चय पर विचार कृति-परीक्षा पर लिखे ग्रंथ में हुआ है। वेदना-परीक्षा पर लिखे ग्रंथ में कल्पनाजन्य ज्ञानेतर निश्चय पर विचार किया गया है। लेखक पुस्तक के प्रथम खंड 'कृति-परीक्षा या धर्म-परीक्षा' में कहते हैं कि ज्ञानेतर निश्चय के बारे में, 'यह ज्ञान है', ऐसा जो भ्रम होता है, उसका मूल और निरास का प्रयोजन कृति-परीक्षा से ही समझा जा सकता हैं। कर्तृज्ञानात्मक कर्म को 'कृति' कहा जाता है। यहाँ 'कर्म' शब्द का अर्थ है- 'वह क्रिया जिसकी प्रतीति क्रिया-कल्पना के परिणाम-रूप में होती है'। कर्ममात्र में कर्तृत्वज्ञान नहीं होता।'मैं अपनी क्रिया-कल्पना को क्रिया में परिणत कर रहा हूँ, और इस परिणति का कारण मैं हूँ', ऐसे ज्ञान को कर्तृत्वज्ञान कहा जाता है। 'मैं कर्म कर रहा हूँ', इस ज्ञान में, 'मैं क्यों कर रहा हूँ' इस बात का ज्ञान रहता है। 'क्यों कर रहा हूँ' यह ज्ञान दो प्रकार का होता है। प्रथम, 'कर्म के अतिरिक्त इष्टफल के लिए कर रहा हूँ' तथा द्वितीय, 'कर्म इष्ट-साधन के लिए नहीं, अपने आप में इष्ट है'। कर्म जिस इष्ट-बुद्धि या इष्टसाधन-बुद्धि से किया जा सकता है, उसे कर्म की प्रवर्तना कहा जाता है। इसी खंड में आगे लेखक कुछ और महत्त्वपूर्ण विषयों की चर्चा करते हैं, जिसे हम संक्षेप में निम्न बिंदुओं के माध्यम से उसके सारस्वरूप को जानने की कोशिश करेंगे। यथा-(1) विधि-पालन और स्वतंत्र-कृति, इसमें विधि ही प्रवर्तक होती है। (2) स्वातत्र्य की अयथार्थ अनुभूति के दो रूप जाने जाते हैं- स्वातंत्र्याभिमान और स्वातंत्र्यविलास। काण्ट के मत में स्वतंत्र-कृति या विधि का पालन ही धर्म है। यों, इन दो अनुभूतियों के लेखक ने ये दो नाम सुझाये हैं- धर्माभिमान और धर्मविलास। (3) ज्ञानेतरनिश्चय में यह भ्रम होता है कि 'यह ज्ञान है', लेखक के अनुसार यह भ्रम अशुद्ध वेदना-प्रसूत है। (4) वेदना ही कल्पना का मूल है। (5) पुण्य अप्राकृत कल्याण है और सुख प्राकृत कल्याण। (6) धर्म-ज्ञान में यह ज्ञान होता है कि 'आत्मा विषय नहीं है, विषय से भिन्न है'। अंत में लेखक के अनुसार धर्म-वेदना-सापेक्ष निश्चय अगर विषय-प्रमाण के विरूद्ध हो तो उसे भ्रम ही मानना होगा। अतएव, धर्म-परीक्षा और कृति-परीक्षा से अगर विषय की आभासात्मक वस्तुता का निश्चय जगता भी है तो भी वह निश्चय भ्रम है या नहीं इस बात का निर्णय करने के लिए धर्म-निरपेक्ष स्वतंत्र ज्ञान-परीक्षा प्रयोजनीय है।

द्वितीय खंड 'ज्ञानपरीक्षा' की विस्तृत व्याख्या लेखक सत्रह बिंदुओं में करते हैं, जिसकी अतिसंक्षेप में यहाँ चर्चा हो सकती है- पहला बिंदु है- 'ज्ञान का लक्षण'। दूसरा बिंदु है 'ज्ञात विषय की आभासात्मक वस्तुता' (फेनोमेनल रियलिटी)। तीसरा बिंदु है - 'ज्ञात-विषय का प्रकार और ज्ञान-क्रिया'। चौथा बिंदु है 'आकारक और प्रकारक ज्ञान-क्रिया', जिसके अनुसार ज्ञान के साथ विषय का संबंध विषय की प्रकारता होती है, विषय के साथ ज्ञान का संबंध ज्ञान-क्रिया है और विषय का प्रकार-विशेष ज्ञान-क्रिया-घटित फल होता है। पाँचवाँ बिंदु है 'ज्ञानांग-रूपी कल्पना', जिसमें लेखक बताते हैं कि ...यह अनुभव सिद्ध है कि ज्ञानांग-रूपी कल्पना वेदना-जन्य कल्पना और अलीक कल्पना से भिन्न है। ज्ञानांग-रूपी कल्पना की तीन विधाऐं स्वीकार की जा सकती हैं- आकार-कल्पना, प्रकार-कल्पना और विषयता-कल्पना। छठवाँ बिंदु है 'अरूप, रूपारूप और सरूप कल्पना'। इसी क्रम में सातवाँ बिंदु है 'बुद्धि, मन और बाह्येंद्रिय की विषयरचना का परस्परापेक्षत्व'। आठवाँ बिंदु है 'प्रत्यभिज्ञापक क्रिया का ज्ञाततागघटकत्व होना', जिसमें लेखक कहते हैं कि हमें प्रतीति यह होती है कि विषय में जो प्रकाशित हो रहा है वह अप्रकाशित रूप में वहाँ था। इसे अप्रकाशित भूत-पदार्थ का प्रकाशित होना कहा जा सकता है। 'प्रत्यभिज्ञा' इस अप्रकाशित के प्रकाशित होने के बोध का नाम है। नवाँ बिंदु है 'देशाकार और कालाकार का पूर्व-परत्व'। दसवाँ बिंदु है 'ज्ञान-क्रिया में ज्ञातता-घटकत्व का अनुभव सिद्ध होना'। आगे लेखक 'अनुभव का प्रामाण्य-विचार'

विषय पर पृष्ठ संख्या 197 से 221 तक विस्तृत चर्चा करते हैं। इसके अंतर्गत वे ग्यारहवें बिंदु में 'अनुभव का प्रामाण्य-विचार : आकारक क्रिया के संबंध में' तथा बारहवें बिंदु में 'अनुभव का प्रामाण्य-विचार : प्रकारक-क्रिया के संबंध में' की चर्चा करते हैं। इस प्रकारक-क्रिया के संबंध की चर्चा के अंतर्गत भी लेखक दो बिंदुओं- मूल प्रकारों के विभाग की उपपत्ति और मूल प्रकार के प्रामाण्य की उपपत्ति से; तथा पुनः मूल प्रकार के प्रामाण्य की उपपत्ति को दो बिंदुओं- प्रकार-ज्ञानोपपत्ति और प्रकार-ज्ञातता की उपपत्ति के माध्यम से विषय को स्पष्ट करते हैं। तेरहवाँ बिंदु है 'सूत्राकार और सौत्र अध्यवसाय'। चौदहवाँ बिंदु है 'अध्यवसाय-बुद्धि (अंडरस्टैंडिंग) और उपपत्ति-बुद्धि (रीजन) –सौत्र अध्यवसाय (प्रिंसिपल ऑफ़ अंडरस्टैंडिंग) और काष्ठा-निश्चय (आइडिया ऑफ़ रीजन)'। पंद्रहवें बिंदु के अंतर्गत लेखक, आत्मा, जगत् और ईश्वर, इन काष्ठा-त्रय की उपपत्ति की विवेचना करते हैं। सोलहवें बिंदु में लेखक व्याप्यता आदि (व्याप्यता, धर्मिता, कारणता और विषयता) संबंध से आत्मा और जगत् के चार भावों की तथा ईश्वर के तीन भावों की चर्चा करते हैं। ईश्वर के लिए विषयता संबंध छोड़कर शेष तीन को स्वीकार किया गया है। सत्रहवाँ बिंदु है 'काष्ठा-त्रय की ध्येयता' जिसमें लेखक का कहना है कि आत्मा आदि काष्ठा-त्रय ध्येय पदार्थ हैं, ज्ञेय पदार्थ नहीं; पर आत्मा और जगत, इनके व्याप्यता आदि भाव-चतुष्टय और ईश्वर के व्यापकता आदि भाव-त्रय, इन एकादश पदार्थों को ध्येय वस्तु के मूल प्रकार-भेद के रूप में गृहीत किया जा सकता है।

तृतीय खंड 'वेदना-परीक्षा' की विवेचना लेखक तीन बिंदुओं में करते हैं, जो निम्नवत् हैं- प्रथम, विधेय-विशेषणक और विधेय-विशेष्यक अध्यवसाय; द्वितीय, आनंदध्यानानुगत अध्यवसाय-रसात्मक और उपयोगितात्मक और तृतीय, श्रद्धाध्यानानुगत अध्यवसाय-धर्माध्यवसाय। तत्पश्चात् लेखक ने पुस्तक के चतुर्थ खंड में, संक्षेप में 'निश्चय संग्रह' की चर्चा की है।

इस प्रकार यहाँ भी देखा जा सकता है कि भट्टाचार्य जी काण्ट के दर्शन का भारतीयकरण करते हैं। यह कृति दार्शनिक जगत् की महत्त्वपूर्ण कृतियों में से एक है। चूँकि यह ग्रंथ मूलरूप से बांग्ला-भाषा में था, इसलिए हिंदी-भाषी काण्ट-प्रेमी जिज्ञासु और विद्यार्थी इसके अध्ययन से वंचित थे। किंतु समकालीन भारतीय कलाविद्, सांस्कृतिक इतिहासकार, कवि और दर्शन-प्रेमी प्रो. मुकुंद लाठ जी ने इसका यथासंभव भट्टाचार्यजी की पदावलियों का प्रयोग करते हुए बोधगम्य हिंदी-भाषा में अनुवाद करके; हिंदी-भाषी काण्ट-प्रेमी जिज्ञासुओं और विद्यार्थियों के ऊपर बहुत ही उपकार किया हैं। इस ग्रंथ को भली-भाँति समझा जा सके इसके लिए नव्य-न्याय, फ़िलॉसफ़ी ऑफ़ साइंस और काण्ट-दर्शन इत्यादि के समकालीन विद्वान् प्रो. अरविन्द कुमार रायजी ने इस पुस्तक में 136 पेज की काफ़ी विस्तृत भूमिका लिखी है। बिना इस भूमिका के काण्ट के दर्शन का तात्पर्य समझ पाना अत्यंत ही दुरूह लगता है; उनके द्वारा लिखी गयी यह भूमिका विद्यार्थियों और शोधार्थियों के लिए बहुत ही लाभप्रद है। प्रो. राय ने अपनी भूमिका में काण्ट के दर्शन को ठीक प्रकार से समझा जा सकें, इसके लिए कई एक भारतीय तथा पाश्चात्य दार्शनिकों से काण्ट के दर्शन की तुलना करके विषय-वस्तु को रोचक और सरल बनाया है। इस तुलना में वे मुख्यरूप से उपनिषदों, श्रीमद्भगवद्गीता, शंकराचार्य, न्याय-दर्शन, मीमांसा-दर्शन, काश्मीर शैव-दर्शन, बाइबिल, जॉन रॉल्स, हरमन कोहेन, एल.डब्लू. बेक और जॉन डेवी आदि के विचारों को लेते हैं। प्रो. राय ने भूमिका में काण्ट के दर्शन से संबंधित अनेक नये बिंदुओं की ओर भी हमारा ध्यान आकृष्ट कराया है जिसमें से एक बिंदु की चर्चा करना यहाँ समीचीन जान पड़ता है। वह यह है कि भूमिकाकार ने काण्ट के एक अन्य ग्रंथ 'सुंदर और उदात्त की संवेदना पर पर्यवेक्षणाएँ' की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट कराया है। यह पुस्तक काण्ट ने 1764 ई. में प्रकाशित करायी थी। इसमें क़रीब 40 पृष्ठ हैं तथा ये चार खंडों में विभक्त है। यह पुस्तक मानवशास्त्र की दृष्टि से लिखी गयी हैं, जिसमें व्यावहारिक दृष्टि से स्त्री और पुरुष को समझने की कोशिश की गयी हैं। हम देखते हैं कि प्रायः स्त्री-विमर्श को वर्तमान परिचर्चा का विषय बनाया जाता है, उस संदर्भ में भी यहाँ- 'सुंदर और उदात्त की संवेदना पर पर्यवेक्षणाएँ' -काण्ट के दर्शन में सामग्री उपलब्ध होती हैं। निश्चित ही काण्ट के दर्शन से संबंधित विभिन्न प्रश्नों तथा समस्याओं का समाधान देने के साथ ही काण्ट के दर्शन से संबंधित कई असंज्ञात विचारों की ओर भी हमारा ध्यान आकृष्ट कराने में प्रो. राय की भूमिका से संपुष्ट यह पुस्तक सफल है। ❖❖❖

बतरस की बानगी

हितेन्द्र पटेल

संपर्क :
इतिहास विभाग
रवीन्द्र भारती विश्वविद्यालय
कोलकाता

पुस्तक : मेरी तेरी उसकी बात
संपादक : यशपाल
प्रकाशक : लोकभारती प्रकाशन
प्रकाशन वर्ष : 2016

यशपाल ने 1974 में प्रकाशित 'मेरी तेरी उसकी बात' उपन्यास में गांधी युग की राजनीति पर सीधे और बहुत तीखे ढंग से लिखा। केंद्र में 1930 और 1940 के दशक की राजनीति है, लेकिन कहानी का एक सिरा प्रथम विश्व युद्ध जनित नयी राजनीति के उदय से भी जुड़ा है जिसके कारण इस उपन्यास के सहारे पूरे गांधी युग की राजनीति पर बात की जा सकती है। कांग्रेस के भीतर की वाम और दक्षिण पंथ की लड़ाई और 1942 की 'क्रांति' के बारे में इससे पहले इस तरह के वर्णन साहित्य क्या इतिहास की पुस्तकों में भी विरल है।

इस उपन्यास में दिखलाया गया है कि भारतीय राजनीति का एक नया अध्याय प्रथम विश्वयुद्ध के साथ शुरू हुआ। इस युद्ध की परिस्थिति ने व्यवसायियों को पैसे कमाने के लिए बहुत सुनहरा मौका बनाया। उस समय अंग्रेजों का भारत पर कब्जा सख्त था और भारतीय अंग्रेजों को मन ही मन घृणा करते हुए भी भय से चुप रहते थे।

भारतीय राजनेतागण उस समय अंग्रेजों के युद्ध अभियान में उनका पूरा सहयोग इस उम्मीद से कर रहे थे कि इस सेवा के कारण शिक्षित समुदाय की बातों को सरकार सुनेगी। उस समय लोगों में बाल गंगाधर तिलक, बिपिन चन्द्र पाल और लाला लाजपत राय का बहुत सम्मान था। इनमें से कोई भी उस समय युद्ध अभियान में विरोध नहीं कर रहा था। मदन मोहन मालवीय, गांधी और अन्य नरम दल के नेता अपने देश के लोगों को यह समझाने में लगे थे कि सरकार की इस समय मदद भारतीयों के लिए लाभदायक है। कांग्रेस के अधिवेशनों में यूनियन जैक फहराया जाता और अंग्रेज राजा के दीर्घायु होने की कामना की जाती थी। "युद्ध विरोध और अहिंसा के दूत महात्मा गांधी ने युद्ध में अंग्रेज सरकार के सहायतार्थ सिर कटाने के लिए इतने अधिक जवान भर्ती करवाये कि सरकार ने उनकी सेवा के पुरस्कार में उन्हें राजभक्ति का सबसे बड़ा सम्मान 'कैसरे हिंद' पदक प्रदान किया।"

प्रथम विश्व युद्ध के दौरान ही यूरोप में एक महामारी शुरू हुई। इससे बहुत सारे लोग मरने लगे, यह तेजी से फैली। यूरोप से शुरू होकर यह भारत भी आ पहुँची। डॉक्टर, हकीम और वैद्य इस बीमारी और उसकी रोकथाम के बारे में कुछ भी नहीं जानते थे। इस बीमारी को इंफ्लुएंजा (लोगों ने इसे फलंजा कहा) कहा गया। इसमें पहले गले और नाक में संक्रमण होता था और उसके बाद खाँसी और बुखार शुरू हो जाता। इसने लाखों को अपनी चपेट में ले लिया। बहुत कम लोग इससे बच सके। संक्रमित लोगों में मरने वालों की संख्या बहुत होती। एक अनुमान के अनुसार दस में से तीन मर जाते थे। चारों ओर लाशें दीखती थीं और पूरे वातावरण में भय छाया हुआ था। किसी चिकित्सक को समझ में नहीं आता कि इस बीमारी का इलाज़ कैसे करे। इस बीमारी के भय से बहुत सारे लोग गाँव और स्थान से भाग गये। लोग सोचते थे कि यह रोग हवा से फैलता है। इससे बचने के लिए लोग देशी इलाज का सहारा लेते और काढ़ा पीते।

लोगों में असंतोष बढ़ा और इस काले कानून के विरुद्ध देशव्यापी हड़ताल और प्रदर्शन हुए। अनेक स्थानों पर रेल की पटरियाँ उखाड़ी गयी और रेलवे स्टेशन और डाकखाने जलाये गये। बड़े शहरों और पंजाब में उग्र प्रदर्शन हुए और अंग्रेज पीटे जाने लगे। अमृतसर में दो अंग्रेज मारे गये। गुजराँवाला नगर पर स्थिति पर काबू पाने के लिए हवाई जहाज से बम बरसाए गये और मशीनगनों से अंधाधुंध गोलियों की बौछारें हुईं। इसी कड़ी में जालियांवाला बाग जैसा नृशंस हत्याकांड हुआ। अमृतसर नगर में ही पचास से अधिक लोग फाँसी पर लटका दिये गये। कई शहरों में बाज़ारों के चौरास्तों पर फाँसियाँ दी गयीं।

इस भयावह राजनैतिक माहौल में एक

और बड़ा परिवर्तन तब हुआ जब मुसलमानों के समर्थन से खिलाफत आंदोलन शुरु हुआ। दो अंग्रेज विरोधी शक्तियाँ एक जगह आयीं। कांग्रेस और खिलाफत का एक संयुक्त मोर्चा बना। 'वंदे मातरम्, भारत माता की जय' और 'अल्लाह हो अकबर, खिलाफत जिंदाबाद', 'सत् श्री अकाल' के नारे एक साथ लगने लगे।

यशपाल ने लिखा है कि उस समय देश में साक्षरता दो-तीन प्रतिशत भी नहीं थी। जनता राजनीति को ठीक से समझती नहीं थी। वे गांधी को 'संत-महात्मा दैवी पुरुष' समझते थे जो पाप के विरुद्ध लड़ रहे थे। उनमें लोगों का इतना विश्वास था कि वे समझते थे कि "गांधी जब चाहते हैं, जनता को दर्शन देने के लिए जेल की दीवारों और लोहे के जंगलों के बाहर आ जाते हैं। गांधी जी के एक ही समय में दिल्ली, बंबई और कलकत्ता में उपदेश देने के लिए आकाश मार्ग से यात्रा की, गांधी के इशारे से नीम और बबूल पर कपास पैदा हो जाने की कहानियाँ प्रचलित हो गयीं।"

गांधी कांग्रेस और खिलाफत दोनों के नेता मान लिये गये। उन्होंने वादा किया कि एक साल के अंदर स्वराज हासिल हो जाएगा। स्वाधीनता पाने की आस ने ग्रामीण लोगों पर प्रभाव डाला था। गाँव के लोग अहिंसा के सिद्धांत से परिचित नहीं थे और विभिन्न इलाकों- बंबई, शोलापुर और चेरापूंजी जैसी जगहों पर जनता और पुलिस के बीच झड़पें होने लगीं। जनता को हिंसा के रास्ते पर बढ़ता देख गांधी जी ने आंदोलन को स्थगित कर दिया। अब वे चरखा यज्ञ के माध्यम से शुद्धि की बात करने लगे।

यशपाल ने गांधी के आंदोलन को क्रांतिकारी नहीं माना है। उनके इस उपन्यास में यह बार-बार आया है कि गांधी का अहिंसक आंदोलन पूँजीपतियों के पक्ष में ही था। सत्याग्रह का आंदोलन और अहिंसात्मक हड़ताल का लाभ देश के पूँजीपतियों को ही मिला, जो अंग्रेज पूँजीपतियों को भारत से बाहर करना चाहते थे लेकिन किसी भी तरह से देश की जनता के लिए क्रांति के लिए किसी भी राजनैतिक प्रयास को सफल नहीं होने देना चाहते थे। गांधी के आंदोलन से कुछ भी हासिल नहीं है।

कांग्रेस 1928 से ही कुछ उग्र हुई थी। कुछ उग्र प्रस्ताव लेने के बाद गांधी और वायसराय के बीच पत्राचार हुआ। इस पत्राचार से असंतुष्ट होकर 1 जनवरी 1930 को पूर्ण स्वराज का एक प्रस्ताव लाया गया। गांधी ने इसके लिए सरकार को ज़िम्मेवार बताया। आंदोलन फरवरी 1930 में नमक सत्याग्रह से शुरू होना था। वायसराय के यह कहने पर कि कांग्रेस अपना पक्ष साफ-साफ नहीं रख रही है गांधी ने आंदोलन को एक महीने के लिए रोक दिया। इसके बाद और संवाद हुआ और अंत में वाइसराय ने कांग्रेस की किसी भी मांग को मनाने से इंकार कर दिया।

सविनय अवज्ञा आंदोलन ने ज़ोर पकड़ा और नेताओं को जेल भेजा जाने लगा। लोगों में असंतोष बढ़ा और उसके साथ ही हिंसक घटनाएँ होने लगीं। जेल में बैठे गांधी के लिए यह दुःखद था। उन्होंने शुद्धि और हरिजनों के उत्थान के लिए 4 मई 1933 को इक्कीस दिनों का उपवास आरंभ किया। कांग्रेस का उग्रवादी तबका इस तरह आंदोलन को स्थगित करने के पक्ष में नहीं था। इन उग्र कांग्रेसियों में समाजवादी और पूर्ण स्वराज के समर्थक बिना उद्देश्य की पूर्ति के आंदोलन को रोकने के पक्ष में नहीं थे। कांग्रेस के संपन्न लोग आंदोलन से थक चुके थे। वे अब असेंबलियों में प्रवेश करने और उसके माध्यम से आगे बढ़ना चाहते थे। पटना कांफ्रेंस में इस आशय का प्रस्ताव स्वीकृत हुआ, जिससे युवाओं में निराशा पैदा हुई। युवा लोग सरकार से लड़ने के पक्ष में थे। ये विक्षुब्ध लोग पटना में जुटे और उन्होंने एक अलग दल कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के नाम से बनाया। इन लोगों को लगता था कि असेंबली में जाने का निर्णय ठीक नहीं है। जो मतदाता थे वे शिक्षित और संपत्ति वाले लोग थे जो टैक्स देते थे और ये लोग पूरी जनसंख्या का बहुत ही छोटा सा हिस्सा थे। कांग्रेस समाजवादी पार्टी ने अपने को किसानों, श्रमिकों और गरीबों का प्रतिनिधि कहा जिनको वोट देने का अधिकार ही नहीं था। सभी प्रमुख शहरों में इस नये दल की शाखाएँ खोली गयी। इस दल के सदस्यों का कांग्रेस की नीतियों से मतभेद था, लेकिन इस दल के सभी सदस्यों के लिए कांग्रेस का सदस्य होना अनिवार्य था।

मार्च 1936 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का अधिवेशन लखनऊ में हुआ। कांग्रेस के समाजवादी गुट को शक्तिशाली बनाने के लिए उनके नेताओं को जुटाया गया था। नरीमन, यूसुफ मेहर अली, मीनू मसानी, कमला देवी चट्टोपाध्याय बंबई से, सोमेन ठाकुर, और माया घोष कलकता से, भाल सिंह, सरोज गुप्ता दिल्ली से, सोहन सिंह जोश, कामरेड रामचंद्र कपूर और मुंशी अहमद पंजाब से और, जयप्रकाश नारायण और रामबृक्ष बेनीपुरी बिहार से जुटे। पूर्णिमा बनर्जी और एम पी सिन्हा लखनऊ से कुछ माह पहले ही लखनऊ आ गये थे। पंडित जवाहरलाल नेहरू कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी में शामिल नहीं थे लेकिन उनकी इस दल के साथ सहानुभूति सबको पता थी।

जनवरी 1937 में चुनाव होने थे। यह पहले के चुनावों से अलग किस्म का चुनाव था क्योंकि वोटरों की संख्या बढ़ गयी थी। पहले हज़ार में एक या दो लोग ही वोट देते थे। अब हर वह आदमी जो पंद्रह रुपए टैक्स या दुकान का किराया देता था वोट दे सकता था। इसके अलावा हर मैट्रिक पास पुरुष और स्त्री भी वोट दे

सकते थे। इसका मतलब अब यह हुआ कि दो से तीन प्रतिशत लोग (हज़ार में बीस से तीस) वोट दे सकते थे।

चुनाव में जीतकर कांग्रेस को सत्ता मिली और गोविंद बल्लभ पंत प्रधानमंत्री बने। कुछ लोगों को लगता था कि असली शक्ति अभी भी कांग्रेस के मंत्रियों के पास नहीं है। पहले ब्रिटिश सरकार मंत्रियों का चुनाव करती थी - जैसे छतरी के नवाब, बाजपेयी, महाराज सिंह, सी वाई चिंतामणि जैसे लोग, अब उनकी जगह कांग्रेस मंत्री थे। असली शक्ति पहले की तरह वाइसराय और गवर्नर के पास थी। आठ महीने बाद अमरनाथ को लगा कि कुछ भी परिवर्तन नहीं हुआ।

यह स्पष्ट है कि यशपाल का उपन्यास राष्ट्रीय आंदोलन के लगातार मजबूत होने को चित्रित करता है, पर इसके साथ ही कांग्रेस के भीतर चल रहे तनावों को भी यथोचित महत्त्व देता है।

फरवरी 1939 में स्थितियाँ बदलती दिखलायी पड़ीं। गांधी ने अपने को कांग्रेस से 1934 में अलग कर लिया था लेकिन उनका नियंत्रण कांग्रेस पर बना हुआ था। इसका अंदाजा किसी को नहीं था कि गांधी जी के सुझावों को कांग्रेस नहीं भी मान सकती थी। गांधी की इच्छा के विरुद्ध अध्यक्ष बने सुभाष चन्द्र बोस कांग्रेस की नीतियों में परिवर्तन चाहते थे। वे ब्रिटिश शासन के अधीन कांग्रेस द्वारा सरकार बनाने की नीति के विरुद्ध थे। उग्र कांग्रेसी, समाजवादी और कम्युनिस्ट उनके साथ थे। वे यूरोप से लौटकर आये थे और उन्हें इस बात का अंदाजा था कि जर्मनी और इंग्लैंड के बीच हुआ म्यूनिख समझौता टिकेगा नहीं और दोनों महाशक्तियों के बीच युद्ध होकर रहेगा। उनके अनुसार ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध आंदोलन शुरू करने का यही मौका था। नेहरू ने सुभाष को गांधी के साथ रहने का सुझाव दिया, लेकिन वे माने नहीं। उनके नेतृत्व में वामपंथियों ने संग्राम की तैयारी शुरू कर दी। गांधी के समर्थक उनके प्रभाव को लेकर आश्वस्त थे। वामपंथी ग्रुप सुभाष के समर्थन में ज्यादा से ज्यादा डेलेगेट्स को जुटाने लगे।

यशपाल ने इस पूरे प्रसंग को बहुत ही विस्तार से चित्रित किया है कि कैसे गांधीवादियों ने सुभाष बोस को अपदस्थ किया।

यशपाल ने यह कहने की कोशिश की है कि युवाओं में यह भाव था कि गांधी को बार बार गलतियाँ करने के लिए नहीं छोड़ देना चाहिए। उनके अनुसार गांधी से पहली गलती 1922 में हुई जब उन्होंने आंदोलन स्थगित कर दिया। दूसरी गलती 1931 में हुई जब नमक सत्याग्रह असफल हुआ। यह तीसरी गलती थी।

त्रिपुरी में दो महीने का समय सुभाष को अपनी कार्य समिति के गठन के लिए दिया गया। इसे गांधी की सहमति से ही बनाया जाना था। मई के अंत में डेलीगेट्स का एक अधिवेशन कलकत्ता में आयोजित हुआ। बोस को अपनी कमिटी न बना पाने के कारण हटा दिया गया और राजेंद्र प्रसाद को उनकी जगह कांग्रेस का नया अध्यक्ष बनाया। वामपंथियों ने इसे व्यर्थ समझा। दरअसल त्रिपुरी अधिवेशन के बाद पाटी में शैथिल्य आ गया था। अब अधिक ध्यान स्वामी सहजानंद के प्रभाव से किसानों की ओर दिया जा रहा था।

3 सितंबर 1939 को विश्व युद्ध की घोषणा हुई। पिछले विश्व युद्ध की तरह यह समय भी कुछ लोगों के लिए रुपए कमाने का समय था। उन दिनों नब्बे से पिच्चानवे प्रतिशत दवाइयाँ यूरोप से मँगवाई जाती थीं। मलेरिया का खतरा बढ़ा हुआ था। जैसा पिछले विश्व युद्ध में इंफ्लुएंज़ा का खतरा था, इस बार मलेरिया का खतरा आ गया था और व्यवसायियों के लिए रुपए कमाने का पूरा अवसर आ गया था। निम्न मध्यम वर्ग के लिए भी रोजगार के नये अवसर पैदा हुए थे। हिटलर -मुसोलिनी के पराक्रम की अफवाहें चार-पाँच बरस से फैल रही थीं। लोग अंग्रेजों से बहुत क्रुद्ध थे और गाली देते हुए लोग कहते- "अब इन मादरचोदों की गांड़ में डंडा होगा।"

इस समय वामपंथी लोग बहुत क्षुब्ध थे क्योंकि यह साफ लग रहा था कि त्रिपुरी अधिवेशन के समय बोस का प्रस्ताव दूरदर्शिता का था। इस समय कांग्रेस को संघर्ष के लिए तैयार होना चाहिए था। कांग्रेस नेता मौन थे और गांधी की ओर देख रहे थे। कांग्रेसी समाजवादी इस बात से खफा थे कि रूस ने पोलैंड के लिए फासिस्ट जर्मनी से समझौता कर लिया और कम्युनिस्टों और समाजवादियों ने रूस की नीति का बचाव किया। बहुत सारे लोग इस उम्मीद में थे कि गांधी और कांग्रेस इस समय जरूर कुछ करेंगे। गांधी का प्रस्ताव आया कि अगर केंद्र में कांग्रेस की सरकार बन जाए और सत्ता कांग्रेस के हाथ में सौंप दी जाए तो कांग्रेस युद्ध में ब्रिटेन का समर्थन करने के लिए तैयार होगी। उन्होंने वाइसराय से मिलने का समय मांगा।

कांग्रेस के प्रस्ताव का मुस्लिम लीग ने विरोध किया और यह दावा किया कि मुसलमान इसका विरोध करेंगे। इसी बीच वाइसराय ने गांधी के प्रस्ताव को खारिज करते हुए कहा कि गांधी का प्रस्ताव मान्य नहीं है क्योंकि जब तक मुसलमान विरोध करेंगे सत्ता कांग्रेस के हाथों में नहीं सौंपी जा सकती।

वाइसराय की इस घोषणा के बाद कांग्रेस के लिए मुसीबतें बढ़ गयीं। इस समय तक उत्तर प्रदेश में मुस्लिम लीग का विशेष प्रभाव नहीं था। प्रभावशाली मुस्लिम नेता - बैरिस्टर खलीकुज्जमा, राजा महमूदाबाद, मौलाना हसरत मोहानी, मदनी नदीम साहब वगैरह कांग्रेस के साथ

थे। मुसलमानों में ज्यादा प्रभाव 'अहरार पार्टी' या 'जमायत उल उलेमा' का था। ये कांग्रेस के साथ थे। इनके लोग खद्दर पहनते थे और सत्याग्रह और असहयोग में भाग लेते थे। अब अचानक मुसलमानों का बहुमत मुस्लिम लीग के साथ आ गया। अब खलीकुज्जमा, राजा महमूदाबाद, मौलाना हसरत मोहानी, मौलाना मदनी सब लीग में सम्मिलित हो गये। महीने भर में मुसलमानों की बड़ी संख्या लाल तुर्की टोपी, काली शेरवानी और सफ़ेद पाजामा की मुस्लिम लीगी पोशाक पहने दिखायी देने लगी। लखनऊ जैसे शहर में सांप्रदायिक जुलूस निकले और उन जुलूसों में इस बड़े बदलाव को देख कांग्रेस सकते में आ गयी। मुसलमानों में यह भरोसा दिखा कि अंग्रेज सरकार उनकी सहायक है और दूसरी ओर हिंदू भी यह समझते थे कि अंग्रेज सरकार उनके पक्ष में है।

गांधी की नीतियों को लेकर बहस तेज थी। यह लोग नहीं समझ पा रहे थे कि गांधी क्या चाह रहे थे। वे गांधी के इस नैतिक आंदोलन को राजनैतिक आंदोलन के रूप में स्वीकार नहीं कर पा रहे थे। असंतुष्ट लोग गांधी में एक अहिंसक फासिस्ट भी देख रहे थे। गांधी के व्यक्तिगत सत्याग्रह का कोई प्रभाव युद्ध की तैयारी पर नहीं पड़ा। सरकार को भर्ती के लिए सिपाही, मजदूर, अन्न और कपड़े पर्याप्त मात्रा में मिल जा रहे थे। सरकारी विज्ञप्ति के अनुसार प्रतिदिन पाँच हज़ार सैनिकों को भर्ती होती थी। गांधी के नाम से चलने वाले खादी भंडारों से भी युद्ध के लिए कंबल खरीदे जा रहे थे।

यह स्पष्ट हो गया था कि लोकतंत्र की दुहाई देकर केंद्र में सत्ता हासिल करने के कांग्रेसी प्रयास का शक्तिशाली विरोध मुस्लिम लीग कर पा रही थी और ब्रिटिश युद्ध संबंधी तैयारी में कोई असुविधा नहीं हो रही थी।

द्वितीय विश्व युद्ध शुरू होने के छह महीने बाद जर्मनी और इटली के रेडियो द्वारा भारतीय क्रांतिकारियों के स्वर सुनाई देने लगे। ये लोग आम बोलचाल की भाषा में अपनी बात रखते और इनको सुनकर लोगों को बहुत मज़ा आता। लोग उनको सुनकर देश में सरकार के विरुद्ध कुछ करने के लिए मन बनाते और उन्हें लगता कि स्थानीय (कांग्रेसी) नेता उन्हें उचित निर्देश नहीं दे रहे।

जून 1940 में अचानक जर्मनी ने फ्रांस पर हमला कर दिया और एक पखवाड़े में ही फ्रांस ने घुटने टेक दिये। जर्मनी और इटली की सेना ने अफ्रीका और पश्चिमी एशिया की ब्रिटिश और फ्रेंच कॉलोनी पर हमला बोल दिया। जर्मनी ने बहुत तेजी से कई क्षेत्रों पर अधिकार जमा लिया। गांधी समेत कांग्रेसी नेताओं ने फ्रांस की हार पर दुःख प्रकट किया।

27 जनवरी 1941 को सुभाष चन्द्र बोस, जो चार महीने से नजरबंद थे फरार हो गये। किसी कांग्रेसी नेता के इस तरह फरार होने की यह पहली घटना थी। युवाओं को लगा कि सुभाष संघर्ष को जारी रखने के लिए ही भागे हैं।

आंदोलन के लिए कांग्रेस की तैयारी चल रही थी। वर्धा में एक प्रस्ताव लिया गया। सरकार भी चुनौती को स्वीकार करने के लिए तैयार थी। पुलिस अधिकारियों को छुट्टियों से वापस बुला लिया गया। यह लगता था कि 9 अगस्त के प्रस्ताव के बाद नेताओं को गिरफ्तार करके कहीं भेज दिया जाएगा। पिछले आठ महीने से यह देखा जा रहा था कि वाइसराय गांधी की बातों पर कोई ध्यान नहीं दे रहे।

सरकारी तंत्र ने जनता में संशय फैलाने का काम किया। मुस्लिम दरोगा मुसलमानों को भड़काने लगा कि मुसलमानों को अपनी रक्षा की सोचनी चाहिए। कांग्रेसी हिंदुओं ने जापानी बौद्धों को अंग्रेज, मुसलमानों और ईसाइयों से लड़ने के लिए बुलाया है!

यशपाल ने इस 1942 के अगस्त आंदोलन की गतिविधियों को उषा सेठ के माध्यम से ही मुख्यतः दिखलाने की कोशिश की है। सोशलिस्ट उषा ने इंकलाब ज़िन्दाबाद, अंग्रेजों भारत छोड़ो और करो या मरो और अन्य जोशीले नारों के बीच लोगों को ललकारा कि वे ब्रिटिश हुकूमत के सभी चिह्नों - कोर्ट, सरकारी दफ्तर, थाना, पोस्ट ऑफिस और यातायात के साधनों को नष्ट कर दें। उषा ने गुप्त कांग्रेस सर्कुलर के निर्देश भीड़ को देते हुए कहा - "साथियो, यह संग्राम है, आंदोलन नहीं।... हमारा लक्ष्य और नारा है, अंग्रेजों को भारत से निकालो! करो या मरो!" भीड़ ने फ़ेडरेशन से जुड़े छात्रों की हूटिंग भी की और उनके आंदोलन विरोधी नीति के लिए उन्हें गद्दार भी कहा। भीड़ ने तोड़-फोड़ शुरू कर दी और शहर पूरी तरह प्रभावित हो गया। पुलिस दमन लोगों को रोक नहीं पाया। जनता आंदोलनकारियों के साथ थी और हर ओर असंतोष था। कम्युनिस्टों ने लखनऊ के झंडेवाले पार्क में सभा की पर इसमें बहुत कम लोग आये। कम्युनिस्टों का आंदोलन विरोधी रवैया लोक भावना के विरुद्ध था।

उषा आंदोलनकारियों के बीच भाषण देकर वहाँ से निकाल ली गयी क्योंकि योजना के अंतर्गत उसे पुलिस के हाथों गिरफ्तार नहीं होना था और शहर छोड़ कर दूसरी जगह जाकर इस आंदोलन के लिए नेतृत्व देना था। उसके भाषण और जनता में इसके प्रभाव के कारण जनता में उषा के बारे में लोगों के बीच अफवाह फैलने लगी। नगर भर में उसकी चर्चा हो रही थी जिसमें अफवाहों का बड़ा प्रभाव था। एक ने कहा- उषा ने अपने लेक्चर में कहा- हम एक भी अंग्रेज जो जिंदा नहीं रहने देंगे। कचहरियाँ, दफ्तर, रेल, तार-डाक सब फ़ना कर दिये जाएँ। यूनिवर्सिटी के चारों ओर लठैत, बंदूकची

और घुड़सवार पुलिस का घेरा।... उषा पुलिस के घेरे को तोड़कर दौड़ी, पुलिस उसके पीछे। उषा एक-एक छलांग में यूनिवर्सिटी की ऊँची बाड़ फांदकर सड़क पर कूद गयी। सड़क पर अंग्रेज अफसर की मोटर थी। उषा ने मोटर में बैठकर ड्राइवर को पिस्तौल दिखाया, चलो! पुलिस देखती रह गयी।..."

कुछ ही घंटों में उषा एक लीजेंड बन गयी थी।

समाजवादी संपर्क-सूत्रों की सहायता से उषा लखनऊ से निकाल ली गयी।

इसी तरह की घटनाएँ बनारस शहर में भी हुईं। वहाँ भी बनारस हिंदू विश्वविद्यालय के छात्र इसमें आगे थे।

9 अगस्त 1942 को रविवार के दिन गीता पर कुलपति राधाकृष्णन का प्रवचन था। वे हाल से निककर अपनी मोटर से वाइस चांसलर निवास "भाग गये''। एक स्टूडेंट्स ने ललकार कर रेडियो का समाचार बताया- "सरकार ने हमारे लीडरों को गिरफ़्तार करके देश को चुनौती दी है। जवानो, गांधी का अंतिम आदेश है ''करो या मरो!"

आंदोलनकारी मालवीय जी का आशीर्वाद लेने उनके निवास की ओर गये। लोगों को राधाकृष्णन से निराशा हुई थी, पर उन्हें विश्वास था कि मालवीय जी उनको ज़रूर आशीर्वाद देंगे। एक ने कहा- "मालवीय जी जितने मोडरेट हों, परंतु राधाकृष्णन की तरह मर्सिनरी इंटीलेक्चुअल नहीं! राष्ट्रीय अपमान नहीं सह सकते। (मालवीय जी) बोले, गांधी की गिरफ्तारी राष्ट्र का अपमान। इस अन्याय के विरोध और गांधी के आदर में मेरा पूर्ण सहयोग... (बीमार) मालवीय जी को मसनदी तकियों के सहारे बैठा दिया गया था। वे आशीर्वाद में हाथ उठाये थे, मुंदी आंखें धंसे गालों में आंसू की धाराएँ। विद्यार्थियों में अंग्रेजों के खिलाफ क्रोध की बिजली तड़क उठी''।

बनारस में अगले दिन आंदोलन और तेज हो गया।

उषा और एक अन्य नेता कांग्रेस रेडियो से प्रसारण करते हैं और आंदोलनकारियों को निर्देश देते हैं। वे छः कमांडमेंट्स (बापू के छः निर्देश) को जनता के सामने रखते हैं। उनके प्रसारण और आंदोलन की खबरें उन्हें उत्साह से भर देती हैं। उषा और उनके साथी बलिया में आंदोलन की आग को पहुँचाना चाहते हैं। पूरब से बलिया ही यू.पी. का रास्ता। बिहार में तब तक संघर्ष बहुत बढ़ चुका था। छपरा तो लगभग हाथ में आ गया था। 1942 के मार्च में सरकार बर्मा से भागकर शिमला गयी थी और लोगों को यह लगा था कि हल्ला पूरब से आएगा। बलिया में रास्ता साफ रहना चाहिए।

उस समय तक बलिया में हिंदू मुसलमान के बीच तनातनी अनजानी बात थी। बलिया में मुसलमानों की संख्या भी आटे में नमक के बराबर थी। अब मुसलमानों को समझाया जाता- "हिंदू मुसलमान दो क़ौमें, उनका किस बात में मेल! उनका साथ क्या? इसलिए मुसलमानों के लिए अपना मुल्क जरूरी, पाकिस्तान! वहाँ सब सरकारी नौकरियाँ मुसलमानों को ही मिलेंगी। सब मुसलमानों की हैसियत अफसरान की होगी। सब कारोबार मुसलमानों के हाथ में होंगे!" यशपाल ने लिखा है- "नगर में बीस पच्चीस ऊँची तुर्की टोपी, काली शेरवानियाँ और अलीगढ़ी पाजामे दिखायी देने लगे। कुछ मुस्लिम जवान, खासकर संदिग्ध कारोबारों में संबद्ध लोग, सीना फुलाकर चलते और धौंस देते।

यशपाल ने लिखा है कि आंदोलन के बढ़ने के इस दौर में लोगों के लिए गांधी का ढुलमुल रवैया समझ में नहीं आने वाला था। गांधी एक ओर तो छः निर्देश दे रहे थे और दूसरी ओर वायसराय के प्रति सहानुभूति रख रहे थे। अगर उनके मन में इतना संशय था तो लड़ाई के लिए आह्वान ही क्यों किया था? उन दिनों पुलिस अफसर एक दोहरा खेल खेल रहे थे। चित्तू पांडे को एक स्थानीय नेता के घर छुपाया गया था जिसके बारे में पुलिस को शायद पता था। अब पुलिस अफसर नेताओं से भी अपने संबंध खराब नहीं करना चाह रहे थे। कुछ दिन पहले ये बड़े अफसर कांग्रेसी नेताओं की मातहती में काम भी कर चुके थे। जब जरूरत होती थी और पुलिस को छापा मारना होता तो वे पहले ही नेताओं को खबर दे देते थे ताकि वे आपत्तिजनक चीजें छापे के पहले इधर-उधर कर सकें। पुलिस बाहरी तौर पर सरकार के साथ अपने को दिखलाते थे पर भीतर ही भीतर नेताओं से भी मिले हुए थे।

एक ओर उषा और उनके साथी 1942 में आंदोलन में लगे थे और दूसरी ओर मुसलमानों के बीच पाकिस्तान के लिए समर्थन बढ़ रहा था। शुजा को यह परिवर्तन समझ में नहीं आ रहा था।

16 अगस्त 1942 को परिस्थिति आंदोलनकारियों के नियंत्रण में थी। पुलिस रेलवे स्टेशन और कोर्ट को बचाने में लगी थी। दिन के ग्यारह बजते बजते शहर में बहुत सारे लठैत आ जुटे और महात्मा गांधी की जय, झांसी की रानी ज़िन्दाबाद और सन सत्तावन जिंदाबाद के नारे शहर में गूंजने लगे। खबर आयी कि बलिया के पश्चिम और पूरब दोनों ओर कांग्रेस का शासन हो चुका है। भीड़ स्टेशन की ओर बढ़ी जहाँ कलक्टर पुलिस अधिकारियों के साथ खड़ा था। पुलिस की फ़ायरिंग शुरू होने पर भीड़ इधर-उधर होती, लेकिन फिर जुट जाती। अंततः स्टेशन को आंदोलनकारियों ने अपने कब्जे में ले लिया और लूटने के बाद उसमें आग लगा दी। शाम को सरकारी अन्न के भंडारों पर भी आक्रमण हुआ। भीड़ ने कुछ सरकारी मकानों, राय बहादुरों और खान बहादुरों के

घरों में आग लगा दी। पुलिस का कोई पता नहीं था और शहर पूरी तरह से आंदोलनकारियों के कब्जे में था।

यशपाल ने दिखलाया है कि आंदोलन संगठित नहीं था। यह तभी तक चल सका जब तक सेना नहीं उतारी गयी। सेना के आते ही स्थिति बदल गयी। 23 सितंबर, 1942 को खबर आई कि चार हजार सैनिक जल मार्ग से बलिया आ चुके हैं और कलक्टर वुड ने शासन संभाल लिया है। फ़ैज़ाबाद से एक पंजाबी प्लाटून सड़क के रास्ते से आयी। सेना रास्ते के गाँवों में आग लगा रही थी और दिखने वाले हर आदमी को गोली मार दे रही थी। एक पात्र शुजा के माध्यम से यशपाल ने कहलवाया है कि बिना सेना की मदद के इस तरह की क्रांति का कोई अर्थ नहीं था। रूसी क्रांति जैसी क्रांति के बारे में सोचना बहुत बड़ी मूर्खता थी ...। उसे लगता है कि जो कुछ हो रहा है उसके लिए उषा और उसके मूर्ख साथी जिम्मेदार थे। बाद में उषा ने भी स्वीकार किया कि लोगों ने ही आंदोलन का दर्द झेला।

फ़ौजियों ने आकर बहुत अत्याचार किये। वहाँ के लोगों को उनके आंदोलन के लिए सजा देने का यशपाल ने बहुत विस्तार से वर्णन किया है :- "जिन इलाकों के थानों पर कांग्रेसी झंडे फहराये गये थे, सब जगह अंग्रेज सरकार के झंडे लग गये थे। उन थानों के इलाकों को बगावत की सजा देने के लिए पुलिस-फौज गाँवों को लूटकर वहीं आग लगा रही थी। बागियों को पेड़ों के तनों से बाँधकर उनके सामने उनके घर-बार की औरतों को नंगी करके सिपाहियों और मेहतरों, मुसहरों से बेइज्जत करवा रहे थे।.."

भयानक यातनाओं के इस दौर को जनता को ही झेलना पड़ा। नेता जेलों में बंद थे और इस आंदोलन की सजा उनको झेलनी पड़ी जिन्हें भ्रम-वश लगता था कि उनकी आज़ादी अब आने ही वाली है। आखिरकार गांधी ने उन्हें निर्देश दिया था सिर पर कफन बांध कर आखिरी लड़ाई में भिड़ जाने का! इस पूरी परिस्थिति का एक आकलन करते हुए यशपाल ने लिखा है- "गांधी जी और नेताओं की गिरफ्तारियों के विरोध में जनता का आक्रोश और क्षोभ काली आंधी की तरह उठा। सरकारी सत्ता के पूर्ण ध्वंश का प्रयत्न। उसके बाद सरकार की ओर से प्रतिहिंसा में निरंकुश दमन के दावानल का संत्रास। अधिकांश राजनैतिक कर्मी गिरफ़्तार हो गये। पुलिस की संख्या दूनी-तिगुनी। सब ओर निरंकुशता, आशंका का वातावरण। जनता स्वतंत्रता संग्राम से कतराने लगी''।

अगस्त के आंदोलन के पाँच महीने बाद अंतरराष्ट्रीय परिस्थिति बहुत बदल चुकी थी। सभी ओर अंग्रेज और उनके साथी राष्ट्र जर्मनी और जापान के खिलाफ जीत रहे थे। किंतु पाठक, उषा और अन्य लोग क्रांति के कार्यक्रम पर अभी भी दृढ़ थे। उनकी मुसीबत उस वक्त बहुत बढ़ गयी जब जेल से गांधी एवं अन्य नेताओं के विचित्र वक्तव्य आने लगे। इन नेताओं ने अगस्त आंदोलन की घटनाओं के लिए खेद प्रगट किया था और उन घटनाओं के लिए सरकारी नीति को जिम्मेदार बताया था। उनका कहना था कि अगर ये नेतागण गिरफ्तार नहीं किये जाते तो जनता को शांत रखने में ये सफल होते। गांधी जी ने वाइसराय को सूचना देकर आत्म-शुद्धि के लिए अनशन आरंभ कर दिया। जनता और क्रांति के लिए प्रयत्नशील युवा, कांग्रेसी नेताओं के इन वक्तव्यों से बहुत अचंभित थे। एक ने कहा- "गांधी का यह कैसा अनशन? आत्मशुद्धि कैसी, किसकी? आत्म शुद्धि, पश्चाताप का अर्थ अपनी भूल मानना। आंदोलन की धटनाओं की जिम्मेवारी सरकार पर और आत्मशुद्धि स्वयं! क्या जनता से प्रायश्चित करवाना चाहते हैं?"

अक्टूबर 1943 में जापानी रेडियो ने समाचार दिया कि सिंगापुर में जापान के संरक्षण में नेताजी सुभाष चन्द्र बोस ने स्वतंत्र भारत सरकार की स्थापना कर दी। उस समय तक भारत छोड़ो आंदोलन पूरी तरह से बैठ चुका था। उस समय तक जर्मनी-इटली और जापान की शक्ति का हारना शुरू हो गया था। अक्टूबर में लिनलिथगो के स्थान पर वावेल वाइसराय बन चुके थे। राजनैतिक वातावरण में परिवर्तन से आशाएँ बनने लगी थी।

1944 मार्च अप्रैल तक विश्व युद्ध पूरी तरह से अंग्रेज और उनके मित्र देशों के पक्ष में जाता दिखलायी पड़ने लगा। जापान बर्मा के दक्षिण से खदेड़ दिया गया था। भारत चीन सड़क बन जाने से अंग्रेजों की स्थिति और मजबूत हो गयी थी। इंफाल और मणिपुर में कुछ जापानी पलटनें घिरी रह गयी थीं। उनके लौटने का मार्ग बंद हो चुका था। वेवेल एक कुशल आर्मी ऑफिसर होने के साथ ही एक दूरदर्शी राजनीतिज्ञ भी था। मई में उसने गांधी को बिना शर्त रिहा कर दिया।

गांधी ने जेल से निकलते ही उस समय की देश की सबसे बड़ी राजनैतिक गुत्थी हिंदू-मुस्लिम द्वंद्व को सुलझाने का प्रयास शुरू किया। मुस्लिम लीग नेता जिन्ना के साथ पत्राचार शुरू किया। यह सफल नहीं हुआ। राजनैतिक वातावरण में शिथिलता आ गयी।

युद्ध समाप्त होने के बाद ब्रिटेन में हुए चुनाव में चर्चिल की हार हुई और एटली नये प्रधानमंत्री बने। वावेल ने एटली को समझा दिया कि भारतीय सेनाओं में राजनैतिक असंतोष फैल रहा है। जापानियों के हाथ बंदी बने सैनिकों ने आज़ाद हिंद फौज बनाकर ब्रिटेन के विरुद्ध हथियार उठा लिये थे। अफ्रीका भेजी गयी भारतीय सेनाओं ने भी विरोध कर दिया था। भारतीय पुलिस, नौसेना और वायु सेना में भी असंतोष के लक्षण

दिखायी दे रहे थे। भारत को नियंत्रण में रखने के लिए अब लाखों अंग्रेजी सैनिकों को भेजा जाना संभव नहीं था। भारत को स्थाई सिरदर्द बनाये रखने के बजाए उसे स्वशासन देकर सहायक मित्र बना लेना ही बुद्धिमानी की बात होगी। आजमगढ़ किले से कांग्रेस के प्रेसिडेंट आज़ाद, नेहरू और पटेल रिहा हुए। देसाई और लियाकत बातचीत को लेकर लोगों में चर्चा होने लगी। अखबारों में छपा- देसाई को गांधी का समर्थन और लियाकत अली को जिन्ना का। शिमला में दोनों दलों के प्रतिनिधि बातचीत कर रहे थे। जिन्ना और गांधी दोनों बातचीत में शामिल नहीं थे, लेकिन वे शिमला में उपस्थित थे। समझौता हो जाएगा ऐसी उम्मीद थी। अगले दिन दस बजे दोनों पक्ष समझौते पर हस्ताक्षर करेंगे, ऐसी सूचना भी थी। लेकिन अंत में जिन्ना का वक्तव्य आ गया- "मुस्लिम लीग को ऐसा कोई भी समझौता स्वीकार नहीं हो सकता जो हिंदू- मुसलमान को दो पृथक क़ौमें मानने और पाकिस्तान की स्थापना में अड़चन बन जाए या उस मांग को एक दिन के लिए भी स्थगित कर दे।"

इसको गृह युद्ध की ललकार के रूप में देखा गया।

जिन्ना ने आखिरी समय में अपना निर्णय क्यों बदला इसके बारे में कयास लगाये गये और कुछ लोगों ने माना कि इसके पीछे ब्रिटिश आई सी एस ग्रुप के लोगों- हेली, जेंकिंस, और हैलेट जैसों का हाथ था। वाइसराय की काउंसिल के चीफ सेक्रेटरी का वायदा था कि लीग कांग्रेस से समझौता करे तो पाकिस्तान निश्चित। आई सी एस उस समय कांग्रेस से बहुत नाराज थी और फिलहाल भारत को छोड़ने के पक्ष में नहीं थी। जिन्ना के इस इंकार के पीछे "टोरियों की गहरी नीति" थी। आज़ाद हिंदुस्तान कभी भी ब्रिटेन के खिलाफ हो सकता था इसलिए इसके टुकड़े कर देना उन्हें बेहतर लगा- बर्मा, लंका, हिंदुस्तान, पाकिस्तान...।

एटली और वावेल युद्ध से जर्जर ब्रिटेन के भारत में बने रह सकने को असंभव मान चुके थे, इसलिए उन्होंने कांग्रेस से बात की और कहा कि भारत के राजनैतिक प्रतिनिधि अपनी ज़िम्मेदारी के लिए तैयार हो जाएँ। भारत में नये चुनाव हों और नयी चुनी हुई विधान सभाओं से प्रतिनिधि लेकर केंद्र में नया शासन विधान तैयार करने की व्यवस्था हो। इसके लिए कांग्रेस कार्यकर्ताओं को जेल से रिहा कर दिया गया।

इसके बाद दिसंबर 1945 में देश भर में चुनावों की उत्तेजना शुरू हो गयी। यशपाल ने इसका उल्लेख किया है कि बालिग मताधिकार नहीं था, और बाद के मताधिकार प्रयोगकर्ताओं की संख्या का दसवाँ हिस्सा भी इस चुनाव में भाग नहीं ले रहा था। कांग्रेस और लीग की प्रतिद्वंद्विता चरम पर थी। कांग्रेस का तिरंगा बीस फुट ऊँचे बाँस पर लगाया जाता तो लीग का हरा झंडा तीस फुट पर। कांग्रेस चुनौती स्वीकार करके चालीस फुट ऊँचा झंडा लगाती तो लीग का झंडा पचास फुट पर!

चुनाव फरवरी 1946 के दूसरे सप्ताह में होने वाले थे और कांग्रेस के प्रत्याशी बनने की होड़ थी। जब 1942 के आंदोलन की नायिका उषा को (जो उस समय एक मुस्लिम बनकर बंबई में रह रही थी) उम्मीदवार बनाने की बात उठी तो उषा के मुँह से यशपाल ने कहवाया है- "हमने क्या किया? लोगों को भड़का कर भाग आये। मुसीबतें तो दूसरों ने झेलीं"।

फरवरी 1946 के चुनाव के बाद नये मंत्रीमंडल बने। मुस्लिम अल्प मत प्रांतों में मंत्री-मंडल तो कांग्रेस के बने लेकिन मुसलमानों की लगभग सभी सीटें मुस्लिम लीग जीत गयी। यू पी में केवल दो मुस्लिम सीटें कांग्रेस जीत पायी। सिर्फ रफी अहमद किदवई और मुहम्मद इब्राहीम जीत पाये। आश्चर्य की बात यह थी कि मुस्लिम बहुल प्रांतों में मुस्सलिम लीग को सफलता नहीं मिली। पश्चिमोत्तर प्रांत में (जहाँ सबसे अधिक मुस्लिम जनसंख्या का प्रतिशत था) कांग्रेसी मंत्रीमंडल बना। बंगाल, पंजाब और सिंध में संयुक्त मंत्रिमंडल बना।

यशपाल ने इस उपन्यास में यह कहने की कोशिश की है कि अंग्रेजों के भारत छोड़ कर जाने का कारण कांग्रेस का आंदोलन नहीं था। जब किसी ने कहा कि 1942 का आंदोलन व्यर्थ नहीं गया और अंग्रेज इसी कारण जा रहे हैं तो एक कम्युनिस्ट पात्र के हवाले से यशपाल ने कहलवाया है- "आप लोगों का प्रयत्न! गांधी और कांग्रेस ने तो उस प्रयत्न के उत्तर दायित्व से पूर्णतः इंकार कर दिया था। देख लीजिए, उस आंदोलन में जेल जाने वाले लौटकर सौ में साठ कम्युनिस्ट बन गये हैं।" वही कम्युनिस्ट कहता है- "क्विट इंडिया की हुंकार गांधी और कांग्रेस जाने किस नशे में दे बैठे, फिर उससे मुकर भी गये... परंतु सर्व साधारण की विदेशी शासन से विरोध स्वाभाविक बात। लोगों को गांधी और कांग्रेस पर न विश्वास था, न है।"

कई अन्य उपन्यासकारों की तरह यशपाल के उपन्यास में यह बात उभर कर सामने आयी है कि आज़ादी के बाद जो स्वाधीन भारत का समाज निर्मित हुआ उसमें एक विडंबनापूर्ण स्थिति पैदा हुई। राजनैतिक पराधीनता से मुक्ति तो मिली लेकिन आर्थिक और सामाजिक ढाँचे वैसे ही बने रहे। कुल मिलाकर देश के आमलोगों के लिए जीवन वैसा ही बना रहा जैसा कि अंग्रेजों की गुलामी के समय था।

❖❖❖

ओझल अतीत का तर्कवादी विश्लेषण

अनंत विजय

संपर्क :
मो. 9871697248
anantindelhi@gmail.com

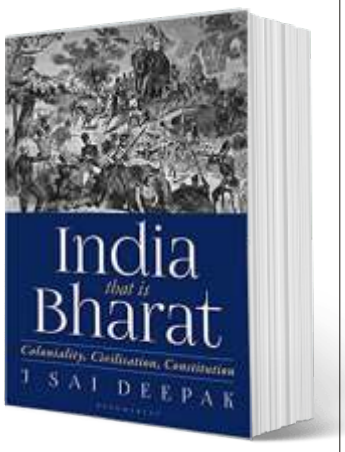

पुस्तक : इंडिया दैट इज भारत, कोलोनियलिटी, सिविलाइजेशन कंस्टीट्यूशन
लेखक : जे साई दीपक
प्रकाशक : ब्लूम्सबरी, नई दिल्ली
वर्ष : 2021
मूल्य : 799 रु.

भारत स्वाधीन हुआ। देश का संविधान तैयार करने की जिम्मेदारी संविधान सभा को दी गयी। संविधान सभा के अध्यक्ष डॉ. राजेंद्र प्रसाद थे। प्रारूप समिति के मुखिया बाबासाहेब भीमराव अंबेडकर। जब संविधान सभा की बैठकें हो रही थीं तो बाबासाहेब के प्रारूप पर काफी लंबी मंत्रणा के बाद संविधान लगभग फाइनल होने को था। उस समय भी संविधान सभा में स्वाधीन राष्ट्र का नाम इंडिया और भारत रखने को लेकर गहन चर्चा हुई थी। संविधान के प्रारूप में इंडिया दैट इज भारत लिखा गया था। संविधान सभा की 18 सितंबर 1949 की बैठक में भी स्वाधीन हुये नए राष्ट्र के नाम को लेकर विस्तृत और गहन चर्चा हुई थी। सेंट्रल प्रॉविंस और बरार के प्रतिनिधि के तौर पर संविधान सभा में सदस्य के तौर पर शामिल एच. वी. कामथ ने स्वाधीन राष्ट्र के नामकरण को लेकर अपनी राय रखी थी। संविधान के प्रारूप पर हो रही चर्चा में कामथ ने अनुच्छेद एक की धारा एक में संशोधन का प्रस्ताव संविधान सभा के समक्ष रखा था। उन्होंने दो विकल्प रखे थे। पहला यह था कि संविधान में स्वाधीन राष्ट्र का नाम 'भारत अथवा अंग्रेजी भाषा में इंडिया राज्यों का संघ' होगा। दूसरा 'हिंद अथवा अंग्रेजी भाषा में इंडिया राज्यों का संघ' होगा। इस संबंध में उन्होंने विस्तार से अपने तर्कों को संविधान सभा के सामने रखा था। अपने तर्कों में कामथ ने भारत, भारतवर्ष, भारतभूमि जैसे शब्दों की उत्पत्ति के ऐतिहासिक साक्ष्यों को संविधान सभा के सदस्यों के सम्मुख रखा था। काफी लंबी चर्चा में कई सदस्यों ने हिस्सा लिया था और अपनी बातें रखी थीं। चर्चा में हस्तक्षेप करते हुये सेठ गोविंद दास ने कहा था कि 'इंडिया दैट इज भारत' सुंदर शब्द नहीं है। उन्होनें सलाह दी कि देश का नाम भारत रखा जाए। सेठ गोविंद दास ने कहा कि उसके साथ ये भी जोड़ा जाए कि जिसको विदेश में इंडिया के नाम से भी जाना जाता है। सेठ गोविंद दास ने फिर विस्तार से अपने प्रस्ताव के समर्थन में दलील सभा के सामने रखी थी। उन्होंने बताया कि भारत नाम इंडिया से बहुत पुराना है। इंडिया तो ग्रीकों के भारत आगमन के बाद से चलन में आया, जब उन्होंने सिंधु नदी को इंडस कहना शुरु किया और उसी से इंडिया बना। सेठ गोविंद दास ने 'महाभारत' के भीष्म पर्व का उदाहरण देते हुये बताया था कि कैसे भारत नाम का उल्लेख वहाँ मिलता है। इसके अलावा उन्होंने विष्णु पुराण और ब्रह्म पुराण में भी भारत नाम के उल्लेख को अपने तर्कों के दौरान रेखांकित किया था। चीनी यात्री ह्वेनसांग के यात्रा वृत्तांत में भी भारत के नामोल्लेख की बात सेठ गोविंद दास ने संविधान सभा के सामने रखी। सेठ गोविंद दास को संविधान सभा के अध्यक्ष ने अनुमति दी थी कि वे विस्तार से अपनी बात रखें। उन्होंने कहा कि भारत के प्रधानमंत्री और कुछ सदस्य ये कहते हैं कि मुझे (सेठ गोविंद दास) पीछे की ओर नहीं देखकर आगे की ओर देखना चाहिए। मैं उनसे ये कहना चाहता हूँ कि मैं हमेशा आगे की ओर देखना चाहता हूँ। लेकिन देश का नाम भारत रखकर हम कुछ ऐसा नहीं कर देंगे जो हमें आगे बढ़ने से रोक देगा। सेठ गोविंद दास इतने पर ही नहीं रुके, उन्होंने तो यहाँ तक कहा कि गांधी जी के नेतृत्व में हमने (पूरे देश ने) स्वाधीनता की लड़ाई लड़ी। उस संघर्ष में सभी देशवासी नारा लगाते थे भारत माता की जय। देश की जनता को इस नाम से लगाव भी है। अगर संविधान सभा देश का नाम भारत रखने पर सहमत हो जाती है तो यह बेहद खुशी का दिन होगा। मद्रास के प्रतिनिधि के. सुब्बा राव और बांबे के प्रतिनिधि बी.एम. गुप्ते ने भी स्वाधीन राष्ट्र के तौर पर भारत नाम का समर्थन किया। सुब्बा राव ने तो ऋग्वेद की वो ऋचा भी बतायी जिसमें भारत नाम का उल्लेख है।

केंद्रीय प्रांत के प्रतिनिधि कमलापति त्रिपाठी ने भी भारत नाम का समर्थन किया था। उन्होंने संविधान के अनुच्छेद एक की धारा एक का आरंभ 'भारत दैट इज़ इंडिया' से करने का

प्रस्ताव किया था। कमलापति त्रिपाठी ने कहा कि इतने लंबे समय तक परतंत्र रहने के कारण हमने अपना सब कुछ खो दिया। हमने अपना इतिहास भुला दिया, अपनी संस्कृति खो दी, इंसानियत भुला दी, हमारी प्रतिष्ठा खत्म हो गयी और हमारा नाम भी कहीं खो सा गया। आज जब हम लंबी गुलामी के बाद उठ खड़े हुये हैं, स्वाधीन हैं, तो हमारे सामने अवसर है कि हम अपनी खोयी हुई चीजों को वापस हासिल करें। भारत नाम में वो जादू है जिसके उल्लेख मात्र से हमारी पूरी सांस्कृतिक पहचान चमक उठती है। उन्होंने वेद और पुराणों को उद्धृत किया था। अपने उद्धरण में कमलापति त्रिपाठी ने इस बात को रेखांकित किया था कि हमारे पौराणिक ग्रंथ बताते हैं कि देवता भी भारत में पैदा होकर अपने लक्ष्य को पूरा करना चाहते थे। भारत भूमि की इस अवधारणा पर संविधान सभा से विचार करने का अनुरोध त्रिपाठी जी ने किया था। कमलापति त्रिपाठी ने बाबासाहेब अंबेडकर को इस बात के लिए बधाई दी थी कि संविधान के प्रारूप में उन्होंने भारत नाम रखा। साथ ही त्रिपाठी जी ने संविधान सभा के सदस्यों और बाबा साहेब से यह भी अनुरोध किया कि कामथ साहब के संशोधन को स्वीकार करते हुये, भारत जिसे अंग्रेजी भाषा में इंडिया के नाम से भी जाना जाता है, को संविधान में रखा जाए। लंबी चर्चा होती रही थी और फिर संविधान सभा के अध्यक्ष ने इस संशोधन को मतदान के लिए सदन के पटल पर रखा। मतदान के लिए संविधान सभा के सदस्यों के सामने प्रश्न रखा गया था कि क्या भारत जिसको अंग्रेजी भाषा में इंडिया के नाम से भी जाना जाता है को स्वीकार किया जाए। 38 सदस्यों ने इसके पक्ष में मत दिया जबकि 51 ने इसका विरोध किया। इस तरह से कामथ का संशोधन प्रस्ताव अस्वीकार हो गया और 'इंडिया दैट इज भारत' शैल बी अ यूनियन ऑफ स्टेट्स को संविधान के अनुच्छेद एक में संशोधित कर जोड़ दिया गया। इस तरह से भारत के संविधान में इंडिया को वरीयता मिली। उपरोक्त ऐतिहासिक संदर्भ है कि कैसे इंडिया नाम संविधान में भारत के पहले आया। बहस और तर्क बहुत लंबे थे। एक सदस्य ने तो यहाँ तक कह दिया था कि सिंधु नदी के नाम से इस भौगोलिक प्रदेश का नाम इंडिया पड़ा था। स्वाधीनता के साथ भारत विभाजन भी हुआ और सिंधु नदी पाकिस्तान के हिस्से में चली गयी। तो इंडिया नाम का क्या अर्थ रह गया है। लेकिन संविधान सभा ने इंडिया दैट इज भारत के पक्ष में बहुमत से फैसला किया था।

संविधान सभा ने भले ही इस नामकरण को स्वीकार कर लिया लेकिन स्वाधीनता के बाद और भारत के गणराज्य घोषित होने और संविधान को अपनाने के बाद से अब तक नियमित अंतराल पर इंडिया और भारत को लेकर विद्वान संवाद करते रहते हैं। पक्ष और विपक्ष में तर्क आते रहते हैं। पुस्तकें प्रकाशित होती रहती हैं। आयडिया ऑफ इंडिया से लेकर भारत की अवधारणा को लेकर दर्जनों पुस्तकें लिखी गयीं। हाल ही में जे साई दीपक की एक पुस्तक आयी है जिसका नाम है 'इंडिया दैट इज भारत, कोलोनियलिटी, सिविलाइजेशन कंस्टीट्यूशन।' अंग्रेजी में प्रकाशित इस पुस्तक में लेखक ने उपनिवेशवाद, सभ्यता और संविधान के विश्लेषण के आधार पर इंडिया दैट इज भारत को व्याख्यायित किया है। जे साई दीपक की ये पुस्तक उनके द्वारा लिखी जा रही पुस्तक त्रयी की पहली पुस्तक है। साई दीपक पेशे से वकील हैं। वकालत आरंभ करने के पहले वह इंजीनियर थे। इंजीनियरिंग की पढ़ाई पूरी कर कानून की पढ़ाई की दिलचस्प कहानी इस पुस्तक में है। साई अपना एक तकनीकी पत्र पेश करने आईआईटी खड़गपुर गये थे। वहाँ उनको पता चला कि उस वर्ष से ही संस्थान कानून की पढ़ाई आरंभ कर रहा है। घटनाक्रम कुछ इस तरह घुमा कि उन्होंने वहीं से कानून की पढ़ाई की। पढ़ाई खत्म करने के बाद वकालत आरंभ किया। केस दर केस सफलता की सीढ़ी चढ़ते चले गये। सबरीमला श्री अयप्पा मंदिर केस ने उनको कानूनी परिधि के बाहर प्रसिद्धि दिलायी। अपने मुकदमों के दौरान उनको महसूस हुआ कि उनको भारतीय सभ्यता के बारे में अपनी समझ को और विकसित करना चाहिए। उन्होंने भारत रत्न वामन पांडुरंग काणे, जदुनाथ सरकार, राधाकुमुद मुकर्जी, भैरप्पा, सीताराम गोयल के लेखों, पुस्तकों का अध्ययन आरंभ किया। समझा जा सकता है समीक्ष्य पुस्तक लिखने की पृष्ठभूमि कैसे बनी होगी।

इस पुस्तक का केंद्रीय विषय भारत में उपनिवेशवाद के असर को दिखाना है। साई ने अपने तर्कों से, ऐतिहासिक प्रसंगों के आधार पर अपनी इस पुस्तक में साबित किया है कि अंग्रेजों के लंबे शासन का असर देश के मानस पर कितना गहरा है। उन्होंने ढेर सारे उद्धरणों के आधार पर अपनी बात रखी है। उन्होंने इस मान्यता को भी ध्वस्त किया है जिसमें ये माना जाता है कि 1857 के पहले भारत एक राष्ट्र के तौर पर उपस्थित नहीं था। साई ने भारत की सभ्यता के अवयवों को आधार बनाकर ये स्थापित किया है कि एक राष्ट्र के तौर पर भारत की अवधारणा काफी पुरानी है। साई को चूँकि कानून की बारीकियों की जानकारी भी है इसलिए जब वह औपनिवेशिक शक्तियों खासकर ब्रिटेन के कानूनों की व्याख्या करते हैं तब वे उसके खोखलेपन को भी उजागर करते हैं। लेखक इस बात को अपने तर्कों के साथ प्रतिस्थापित करते हैं कि ब्रिटेन के जिन कदमों को प्रगतिशील और लोकतांत्रिक माना जाता रहा है दरअसल वह प्रतिगामी थे। वह भारतीय सभ्यता और संस्कृति को नीचा दिखाने के लिए और परोक्ष-प्रत्यक्ष रूप से भी क्रिश्चियन धर्म को श्रेष्ठ बताने

वाले कदम होते थे। जबकि बहुधा ऐसा था नहीं। भारत का सनातन धर्म या हिंदू धर्म अपने विभिन्न गुणों और स्थापनाओं की वजह से अन्य धर्मों पर भारी पड़ता है। हिंदू धर्म की विशिष्टता यह है कि वह अपनी श्रेष्ठता का प्रदर्शन कभी नहीं करता और न ही उसके अनुयायी इस रास्ते पर चलने का उपक्रम करते हैं। इस बात के पर्याप्त साक्ष्य विश्व इतिहास में मिलते हैं। यह अलग बात है कि भारत के खास विचारधारा के इतिहासकारों ने उसको ओझल करने की कोशिश की। कहना न होगा कि उनके इस एकांगी व्याख्या या स्थापनाओं का काफी असर हुआ और छात्रों की कई पीढ़ियाँ इससे दिग्भ्रमित हुईं।

इतिहासकार बी एन लूनिया ने अपनी पुस्तक 'लाइफ एंड कल्चर इन एनशिएंट इंडिया' में विस्तार से भारतीय संस्कृति के वैश्विक प्रभाव को रेखांकित किया है। लूनिया ने एशिया की संस्कृति को एक दिशा देने में भारतीय संस्कृति की भूमिका या योगदान को महत्वपूर्ण माना है। उन्होंने लिखा है कि भारतीय संस्कृति, खासतौर पर हिंदू संस्कृति, ने सिर्फ सभ्यता का पाठ ही नहीं पठाया बल्कि इसने बौद्धिक जागरण, सामाजिक चेतना के विकास और भौतिक समृद्धि की राह भी दिखायी। परिणामतः हिंदू सभ्यता ने अन्य देश के लोगों को विश्व सभ्यता के विकास में अपना योगदान देने में मदद की। प्राचीन काल में जब विश्व के दूसरे देशों से संपर्क करने का माध्यम जलपोत हुआ करते थे तो हिंद महासागर में भारत की स्थिति उसको एक महत्वपूर्ण स्थान प्रदान करती थी। भारत एक समय में पूर्व और पश्चिम के देशों को जोड़ने के केंद्र के रूप में स्थापित था। महाभारत में, जातक कथाओं में और कथा सरित सागर में इस बात का उल्लेख मिलता है कि भारत के व्यापारी दूसरे देशों के साथ व्यापार करते थे। एक प्रसिद्ध जातक कथा में तो ये तक बताया गया है कि कैसे एक भारतीय व्यापारी अपने मालवाहक जहाज के साथ मोर को लेकर बेबीलोन पहुँच गया था। इसको बताने का अर्थ सिर्फ उस मान्यता का निषेध है जो यह मानती है कि 1857 के पहले तक भारत एक राष्ट्र के तौर पर स्थापित नहीं था। साई ने अपनी इस पुस्तक में इन मान्यताओं को एक बार फिर से स्थापित किया है। यह कहना अधिक उचित होगा कि साई ने अपनी इस पुस्तक में उन इतिहासकारों की मान्यताओं को गाढ़ा किया है जिन्होंने हिंदू सभ्यता की व्यापकता और महत्ता को रेखांकित किया है। साई ने भारतीय सभ्यता के गुणों को रेखांकित कर औपनिवेशिक मान्यताओं की स्थपनाओं को ठीक से ध्वस्त किया है। कानून के ज्ञाता होने के साथ-साथ साई ने प्राचीन भारतीय ग्रंथों का बारीकी से अध्ययन किया है। उनका यह अध्ययन बार-बार इस पुस्तक में चमक उठता है जब वह उपनिवेशवाद के वैश्विक इतिहास पर लेखनी चलाते हैं।

अपनी इस पुस्तक में साई ब्रिटिश काल के विभिन्न कानूनों की समीक्षा भी करते हैं। दसवें अध्याय में उन्होंने 1858 से लेकर 1920 तक के ब्रिटिश औपनिवेशिक कानूनों के पीछे छिपी हुई मंशा को उजागर करने कि कोशिश की है। कानूनों पर लिखते हुये वह 1813 से यहाँ मौजूद क्रिश्चियन मिशनरी के क्रियाकलापों और धर्मांतरण की उनकी योजनाओं को भी परखते चलते हैं। 1857 की क्रांति के बाद ब्रिटिश सेना के अत्याचारों को भी बेखौफ होकर बगैर किसी अगर-मगर के पाठकों के सामने रखते हैं। साई कहते हैं कि ब्रिटिश सैनिक सजा देने में भी भेदभाव करते थे और हिंदू और मुसलमान जनता को अलग-अलग तरीके से सजा देते थे। साई ने उन परिस्थितियों को भी अपनी इस पुस्तक में पाठकों के समक्ष रखा है जिसमें ब्रिटिश सरकार ने ईस्ट इंडिया कंपनी से भारत का शासन अपने हाथ में ले लिया। कंपनी ने गुहार लगायी। जान स्टुअर्ट मिल ने कंपनी की पैराकारी की। लेकिन सरकार ने उनकी भी एक न सुनी। भारत को सीधे अपने नियंत्रण में ले लिया ताकि लक्ष्य पूर्ति में किसी तरह की कोई बाधा न खड़ी हो सके।

साई के वकील होने के कारण उनकी भाषा तकनीकी हो गयी है जो पठनीयता के प्रवाह को कई बार बाधित करती है। बावजूद इसके साई के तर्क और उसकी पृष्ठभूमि इतनी मजबूत होती है कि पाठक भाषा की बाधा को पार करके ज्ञानार्जन करने की दिशा में बढ़ जाता है। साई की यह पुस्तक यह उत्सुकता भी जगाती है कि उसके बाद की दो पुस्तकों में वह किस तरह से अपने लेखन को दिशा देते हैं। स्वाधीनता के बाद देश के प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू को जो स्वतंत्रता मिली या जिस तरह से उन्होंने भारत के विकास यात्रा का रास्ता बनाया उसकी पड़ताल होगी। इतिहासकार परसीवियल स्पीयर ने अपनी पुस्तक अ हिस्ट्री ऑफ इंडिया (खंड 2) में लिखा है कि 1947 से लेकर 1964 तक भारत में जो एकता देखने को मिली वैसी एकता के उदाहरण इसके पहले नहीं मिलते। इस दौर में नेहरू को परिस्थितियों की वजह से अपनी नीतियों को बनाने और उसको लागू करने में जो छूट मिली या बगैर किसी प्रकार के बाधा का वातावरण मिला वैसी छूट या वातावरण तो सिर्फ मुगलों को ही हासिल था। जिज्ञासा इस बात की है कि क्या साई अपनी आगामी दो पुस्तकों में इन विषयों को छूते हैं या नहीं। समीक्ष्य पुस्तक को पढ़ने के बाद ये विश्वास तो होता है कि साई अपनी आगामी पुस्तकों में इन विषयों को भी लेकर आएँगे। तब ये देखना रोचक होगा कि एक वकील लेखक स्वाधीन भारत के पहले प्रधानमंत्री और उनके नेहरूवियन मॉडल को किस तरह से परखता है।

❖❖❖

प्रत्यक्षम् किम् प्रमाणम्

सन्नी कुमार

संपर्क :
मो. 9718196765

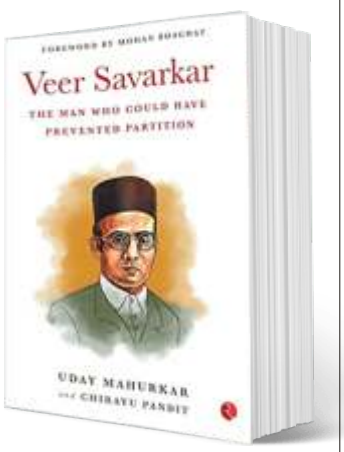

पुस्तक : वीर सावरकर : द मैन हू कुड हैव प्रिवेंटेड पार्टीशन
(Veer Savarkar : The Man Who Could have Prevented Partition)
लेखक : उदय माहूरकर तथा चिरायु पंडित
प्रकाशक : रूपा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली
वर्ष : 2021
मूल्य : 595 रु.

विनायक दामोदर सावरकर परस्पर विरोधी छवियों के समुच्चय हैं। एक वर्ग के लिए सावरकर 'वीर' हैं, जिन्होंने क्रांतिकारी आंदोलन को संगठित रूप प्रदान किया, जिन्हें अंग्रेजी शासन के सबसे कठोर कालापानी की सजा भुगतनी पड़ी और जिन्होंने हिंदू हितों के लिए मुखरता से आवाज उठायी तो दूसरा वर्ग सावरकर को सांप्रदायिक, समझौतावादी और षड़यंत्रकारी मानता है। प्रस्तुत पुस्तक भी इन्हीं दो छोरों के बीच स्थित है। पुस्तक के लेखक सावरकर को लेकर अपने सत्य को स्थापित करने हेतु तर्कों और तथ्यों की आजमाइश किस प्रकार करते हैं, इसमें प्रवेश करने के पहले एक संक्षिप्त दृष्टि इस ओर भी डालनी ही पड़ेगी कि वर्तमान की रोशनी अतीत के उस अंधेरे हिस्से पर किस प्रकार पड़ रही है जहाँ सावरकर नामक चरित्र का गढ़न हो रहा था। इस बिंदु पर स्पष्टता इतिहास की समझदारी के साथ अतीत में प्रवेश करने की सुविधा प्रदान करेगा। सावरकर पर सघन होता विमर्श अतीत की उस प्रतिक्रिया का ज्वलंत उदाहरण है। वर्तमान राजनीति का शक्ति संतुलन सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का पोषण करने वाले विचार और व्यक्तित्व की ओर झुका है। यह 'पुनर्खोज' भी इसी प्रक्रिया का परिणाम है।

पुस्तक संरचना

यह पुस्तक भी सावरकर की पुनर्खोज का ही एक स्तुत्य प्रयास है और शुरू से लेकर अंत तक पुनर्खोज की यह प्रक्रिया एकदम स्पष्ट है। लेखक द्वय इस प्रस्थापना के साथ आगे बढ़ते हैं कि विनायक दामोदर सावरकर के व्यक्तित्व को एक खास कोटि की राजनीति (पढ़ें कांग्रेस) और एक खास श्रेणी के इतिहासकार (पढ़ें वामपंथी) ने गलत तरीके से पेश किया। इतिहास में इस चरित्र के साथ अन्याय हुआ है और आवश्यक ही है कि समय को अपने सही नायक का चुनाव करना चाहिए और इसलिए ही पुस्तक की प्रस्तावना नेहरू और सावरकर की एक दिलचस्प तुलना से अपने उद्देश्य खोलती है। प्रस्तावना नेहरू के लिए इस प्रसंग का चुनाव करती है कि कुछ लोग अपने जीवनकाल में तो सफल नायक की तरह प्रतीत होते हैं, किंतु थोड़े ही समय बाद उनकी आभा नष्ट हो जाती है, जबकि सावरकर को यह उस श्रेणी में रखती है जहाँ लंबे समय तक उन के योगदान को दबाये रखा गया किंतु अंततः इतिहास अपने नायक की खोज कर ही लेता है। अपने उद्देश्य में इसी स्पष्टता के साथ पुस्तक तर्कों और ऐतिहासिक तथ्यों का चुनाव करती है। पुस्तक कई बार सावरकर के साथ हुए अन्याय की खीज के साथ आगे बढ़ती है और लगभग सफाईनुमा वक्तव्य पेश करती है। बहरहाल, विस्तृत भूमिका के अलावा पुस्तक कुल 8 अध्यायों में बँटी है। पुस्तक का शुरुआती हिस्सा जहाँ उस ऐतिहासिक परिवेश पर अधिक केंद्रित रहता है जहाँ सावरकर गढ़े जा रहे थे, बन रहे थे, वहीं उसके बाद पुस्तक क्रमशः सावरकर के विचार और नीति तथा वर्तमान में प्रासंगिकता की खोज की ओर बढ़ती है। यह पुस्तक सावरकर की जीवनी की तरह नहीं है बल्कि यह सावरकर के वैचारिक अवदान पर अधिक केंद्रित है।

धर्म की राजनीति और सावरकर का उदय

आरंभिक सावरकर एक ऐसे क्रांतिकारी के रूप में जाने जाते हैं जिन्होंने 'अभिनव भारत' जैसे संगठन की स्थापना की और अंग्रेजी शासन के विरुद्ध सशस्त्र विद्रोह को दिशा दिखायी किंतु, इसके बाद जिस सावरकर का उदय होता है वह क्रांतिकारी से अधिक वैचारिक योद्धा हैं। खासकर हिंदू हितों के लिए मुखर और सजग योद्धा। पुस्तक बताती है कि बाद के दिनों में सावरकर का इस्लाम के प्रति चाहे जो नजरिया रहा हो किंतु आरंभ में वो उसी (कांग्रेसी/गांधीवादी) धारा में शामिल थे जिनका कालांतर में उन्होंने विरोध किया। इसके लिए पुस्तक सावरकर के 1909 के दशहरा भाषण को उद्धृत करती है जो लंदन में दिया गया था और

जिसमें महात्मा गांधी भी शामिल थे। इसमें सावरकर कहते हैं कि इस्लाम समेत विभिन्न धर्म भारत की संस्कृति का इंद्रधनुष बनाते हैं। धार्मिक विविधता के प्रति ऐसा भाव रखने वाला व्यक्ति फिर कैसे हिंदू भावना तक सिमट गया? पुस्तक इसके लिए तत्कालीन राजनीतिक परिवेश को जिम्मेदार ठहराती है।

वस्तुतः तत्कालीन मुस्लिम राजनीति की दशा देखकर सावरकर को यह भरोसा हो गया कि यदि हिंदू प्रश्न को ठीक से प्रस्तुत न किया गया तो भावी स्वतंत्र राष्ट्र में हिंदू अस्मिता अपने खंडित स्वरूप में ही बची रह सकेगी। इस संदर्भ में पुस्तक में प्रस्तुत तथ्यों को तीन तरह से देखा जा सकता है। एक सावरकर के व्यक्तिगत अनुभव, दूसरा मुसलमान और मुस्लिम संगठनों की माँगें और राजनीति तथा तीसरा इसका कांग्रेसी प्रत्युतर। पहले बिंदु को देखें तो जब सावरकर अंडमान के सेलुलर जेल आये तो उन्होंने देखा कि यहाँ के मुस्लिम कैदी और मुस्लिम जेलकर्मी धर्मांतरण में सक्रियता से लिप्त थे। उसके बाद जब 1921 में सावरकर को अंडमान से रत्नागिरी जेल ले जाया गया तब वहाँ भी उन्होंने धर्मांतरण की इस कोशिश का प्रत्यक्ष अनुभव किया। इसी पृष्ठभूमि में 'हिंदुत्व' की रचना हुई।

दूसरा बिंदु कहीं अधिक व्यापक और केंद्रीय महत्त्व का है। औपनिवेशिक काल में जहाँ एक साझे राष्ट्रीय मोर्चे के तहत अंग्रेजी शासन से लड़ने की नीति तैयार हो रही थी, वहीं मुसलमान अपनी अस्मिता को लेकर ही बुनियादी लड़ाई लड़ रहे थे। इसमें मुख्यतः अलीगढ़ विचार-प्रणाली थी। यह पुस्तक इस सहमति से आगे बढ़ती है कि मोहम्मद इकबाल, चौधरी रहमत अली और मोहम्मद अली जिन्ना के रास्ते जिस पाकिस्तान का जन्म हुआ उसकी नींव अलीगढ़ आंदोलन से ही तैयार हुई थी। इसकी पुष्टि के लिए जिन्ना के इस उद्धरण का इस्तेमाल किया गया है कि 'अलीगढ़ पाकिस्तान का युद्धभंडार है।' दरअसल सर सैयद अहमद खान ने शुरुआत में ही राष्ट्रीय आंदोलन में मुस्लिम प्रश्न की रूपरेखा तैयार कर दी थी। 18 दिसंबर 1887 को लखनऊ में और 14 मार्च 1888 को मेरठ में दिये दो भाषणों में सर सैयद ने मुस्लिमों के समक्ष अपने हक के लिए संगठित होने का सूत्र पेश किया। इसमें मूल जोर 'हैसियत' पर थी और इसलिए सर सैयद ने संसदीय व्यवस्था की आलोचना की क्योंकि ऐसे में मुसलमानों को केवल उनकी संख्या के अनुपात में ही ताकत मिल पाती। सिविल सेवा की परीक्षा का भी इन्होंने इसलिए विरोध किया क्योंकि इसमें मुसलमानों की नियुक्ति कठिन थी। सर सैयद ने मुस्लिम युवाओं को न केवल ब्रिटिश सैन्य सेवा में शामिल होने का आह्वान किया बल्कि यह भी कहा कि अगर अंग्रेज हमारे ऊपर शासन कर रहे हैं तो ज़रूर सर्वशक्तिमान की यही इच्छा है, इसलिए हमें इनसे मित्रता निभानी चाहिए। इसी पृष्ठभूमि में मुस्लिम लीग जैसे संगठन का भी उदय हुआ जो गवर्नर जनरल से अपनी हैसियत वृद्धि का आवेदन लेकर गये थे। इसके बाद पुस्तक उन तमाम घटनाओं का जिक्र करती है जिससे अलगाववादी भावना प्रबलतर होती गयी और अंततः पाकिस्तान का निर्माण हो गया।

तीसरा बिंदु इस मुस्लिम प्रश्न पर कांग्रेस-गांधी प्रत्युतर का है। लेखक द्वय का मानना है कि एक तरफ मुसलमान निरंतर अपने लिए 'विशेष माँग' करते रहे और इसके लिए कभी उग्रता तो कभी शिकायत को राजनीतिक हथकंडे के रूप में अपनाते रहे, वहीं कांग्रेस 'साझे मोर्चे' के दिवास्वप्न में हिंदू हितों से समझौता करती रही और हर अवैध माँग मानती गयी। इस्लामिक प्रश्न को राष्ट्रीय आंदोलन से जोड़ने की शुरुआत 1916 के लखनऊ पैक्ट, लियाकत-देसाई पैक्ट से लेकर भारत विभाजन तक बदस्तूर जारी रहा। इस प्रकार यह पुस्तक इस निष्कर्ष तक पहुँचती है कि इस्लाम के प्रति सावरकर के जिस कठोर नजरिये को सांप्रदायिक कहा जाता है वह एक वास्तविक भय की ओर इशारा था जो अंततः सही साबित हुआ। प्रांतीय चुनाव में मुस्लिम बहुल इलाकों में लीग का शानदार प्रदर्शन, भारत का विभाजन और विभाजन के बाद 90 प्रतिशत मुसलमान सैनिकों का पाकिस्तानी सेना में शामिल हो जाना इसकी पुष्टि करता है। लेखकद्वय कहते हैं कि गांधीजी के 'पॉपुलिस्ट' विचार के विपरीत सावरकर ने इस्लाम के प्रति वास्तविक नजरिया प्रस्तुत किया और केवल इसलिए ही उन्हें सांप्रदायिक कहा गया जो कि एकदम गलत है।

सावरकर का राष्ट्रवाद

सावरकर के लिए राष्ट्रवाद सर्वोपरि था। वे जाति, धर्म, नस्ल आदि किसी भी अस्मिता से ऊपर राष्ट्र को मानते थे। सावरकर सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के पोषक थे और यह मानते थे कि वैदिक काल से ही एक निश्चित भूगोल के अंदर निवास करने वाला समुदाय राजनीतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक रूप से एक राष्ट्र के रूप में तैयार हो रहा था। यह समुदाय हिंदू कहलाता था। इसके लिए सावरकर उसी तर्क प्रणाली का सहारा लेते हैं जिससे सिंधु नदी के किनारे बसे लोगों के लिए हिंदू शब्द का प्रयोग किया जाता है। सावरकर इस धारणा को अस्वीकार करते हैं कि केवल एक भू-भाग में साथ रहने भर से कोई राष्ट्र तैयार हो जाता है बल्कि वे राष्ट्र के सदस्यों के बीच धर्म और संस्कृति के आधार पर ऐतिहासिक साझेपन की अनिवार्यता पर बल देते हैं। इसी संदर्भ में उन्होंने हिंदू राष्ट्रवाद की संकल्पना दी। उनका मानना था कि जैसे ही कोई व्यक्ति या समुदाय इस ऐतिहासिक साझेपन के अनुकूल खुद को ढाल लेगा वह राष्ट्र का अंग बन जाएगा और भारत राष्ट्र का अंग होने के लिए उसे 'हिंदू' होना होगा तभी

सांस्कृतिक ऐतिहासिकता की अर्हता पूरी होगी। सावरकर हिंदू होने के लिए यह शर्त रखते हैं कि सिंधु से सागर तक हर वह व्यक्ति हिंदू है जो इस खंड को पितृभूमि और पवित्रभूमि मानता है। पितृभूमि से आशय पूर्वजों के इसी भूखंड पर जन्म लेने से है और पवित्रभूमि से आशय किसी के धर्म का मूल और पवित्र तीर्थस्थल का इस भूमि पर होना है। इस प्रकार इस्लाम, ईसाई और पारसी जैसे धर्म को मानने वालों का हिंदू होना संभव नहीं माना गया। मूल रूप से सावरकर का हिंदुत्व 'धार्मिक, जातीय और सांस्कृतिक' पहचान से जुड़ा था।

इसी बिंदु पर सावरकर की आलोचना की जाती है कि इनका हिंदुत्व आक्रामक और बहिष्कार आधारित है जबकि लेखक द्वय का मानना है कि सावरकर 'एक व्यक्ति एक वोट' वाले राष्ट्र में भरोसा करते थे और हिंदू हितों के संरक्षण की बात करते थे। मुसलमान हितों के संवर्धन के लिए हिंदू हितों की अनदेखी का प्रतिकार ही सावरकर का हिंदुत्व था। हालाँकि सावरकर का राष्ट्रवाद इससे कहीं अधिक व्यापक था। वह एक तार्किक राष्ट्रवाद के पोषक थे और इसलिए हिंदू हितों के स्वरधारक होने के बावजूद उन्होंने गाय के प्रति आस्था को नकारा। वह अंधविश्वास और पुरातनवाद की बजाय वैज्ञानिक और विवेकपूर्ण राष्ट्र निर्माण के पक्षधर थे। यहाँ तक कि उन्होंने स्वयं के लिए बिजली दाहगृह की इच्छा व्यक्त की थी। सावरकर का राष्ट्रवाद समानता के विचार पर आधारित था इसलिए वह जाति आधारित भेदभाव को समाप्त करने के लिए सक्रिय रहे। गांधीजी से काफी पहले इन्होंने जाति आधारित इस सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध आवाज उठायी। सावरकर ने वेदों पर ब्राह्मणों के एकाधिकार को चुनौती दी और कथित दलित लोगों के बीच 'पवित्र धागे' का वितरण किया। अंतर्जातीय भोज और अंतर्जातीय विवाह को इन्होंने खूब बढ़ावा दिया। हालाँकि अंतर्धार्मिक विवाह का समर्थन इन्होंने नहीं किया। इसके अतिरिक्त वो सिंधुबंदी और शुद्धिबंदी के भी विरोधी थे। इसके अतिरिक्त सावरकर का राष्ट्रवाद संस्कृत भाषा से भी जुड़ता है। वे संस्कृत को सभी भारतीय भाषाओं का मूल मानते थे।

स्वतंत्र भारत और सावरकर के विचार

भारत ने स्वतंत्रता के बाद जिस ढाँचे में आकार लेना तय किया उसके निर्धारण में सावरकर की प्रत्यक्ष-परोक्ष व्यापक भागीदारी थी। स्वतंत्रता के बाद सावरकर ने खुले हृदय से कहा कि आज़ादी भारत को मिली है न कि किसी एक व्यक्ति को, इसलिए अगर कोई वैचारिक विरोधी व्यक्ति भी प्रधानमंत्री चुना गया है तो उसकी सरकार को राष्ट्रहित में चलने के लिए सहयोग किया जाना चाहिए। देश की आंतरिक और बाह्य सुरक्षा नीति का सावरकर सूत्र था :

'अंदर संविधान बाहर क्रांति, अंदर कानून बाहर तलवार और अंदर शांति बाहर युद्ध'।

इसके अतिरिक्त हिंदुस्तान का सदस्य बनने के लिए पितृभूमि और पवित्रभूमि की जिस संकल्पना को पेश करते हुए सावरकर बौद्ध, जैन तथा सिख को हिंदू बताते हैं, भारतीय संविधान का अनुच्छेद 25 (2) (इ) भी इसकी पुष्टि करता है। साथ ही राष्ट्रभाषा हिंदी के राजभाषा बनकर संवैधानिक हैसियत पाने के पीछे भी सावरकर का योगदान रहा है। वे हमेशा से हिंदी के प्रचलन के समर्थक रहे और इस बात पर बल देते रहे कि 'संस्कृतनिष्ठ' हिंदी का प्रचलन बढ़े। उन्होंने केवल वहाँ विदेशी शब्दों के उपयोग को ठीक बताया जहाँ अन्य शब्द उपयोग का कोई विकल्प न हो। दिलचस्प बात है कि आज जिन शब्दों का धड़ल्ले से उपयोग हो रहा है उसको हिंदी में गढ़ने का श्रेय सावरकर को ही है। उदाहरण के लिए टेलीविज़न के लिए 'दूरदर्शन', मेयर के लिए 'महापौर', शहीद के लिए 'हुतात्मा' तथा 'इंटरवल' के लिए 'मध्यांतर' शब्द का प्रयोग इन्होंने शुरू किया। सावरकर 'आदिवासी' शब्द के उपयोग का भी विरोध करते थे क्योंकि इससे किसी एक समुदाय के मूल निवासी होने और शेष के बाहरी होने का बोध उत्पन्न होता है। सावरकर के अनुसार अंग्रेजी शासन की इस भूल को सुधार कर लेना चाहिए। सावरकर ने सबसे पवित्र राष्ट्रीय प्रतीक 'राष्ट्रीय ध्वज' की संरचना पर भी मूल्यवान सुझाव दिया था। सावरकर राष्ट्रीय ध्वज के निर्माण में एकदम शुरू से जुड़े थे। 1907 में जर्मनी में मैडम भीकाजी कामा द्वारा जो झंडा फहराया गया था, उसकी वैचारिक संकल्पना सावरकर ने ही तैयार की थी। इतना ही नहीं स्वतंत्र भारत के ध्वज में 'भगवा' रंग और 'चक्र' की उपस्थिति की बात भी सावरकर ने कही थी।

सावरकर सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के पक्षधर थे इसलिए वे स्वतंत्र भारत के नाम भी इसी अनुकूल चाहते थे। दरअसल किसी शहर या स्थान के नाम का अपना एक ऐतिहासिक सांस्कृतिक संदर्भ होता है जिससे विलग उसकी पहचान नहीं की जा सकती और यह ऐतिहासिक सांस्कृतिक संदर्भ एक प्रतीक के रूप में राजनीतिक महत्त्व भी रखता है। दरअसल, कोई नाम केवल भौतिक उपस्थितियों का सूचक भर नहीं होता बल्कि यह उस विशिष्ट संस्कृति का द्योतक भी होता है जो समय के साथ वहाँ विकसित होती है। इस प्रकार नाम उसके सभ्यताई विकास और सांस्कृतिक विशेषता, दोनों के साथ रूढ़ हो जाती है; और यही वजह है कि जैसे ही किसी शहर का नाम हम सुनते हैं तो उसकी एक स्पष्ट तस्वीर हमारे आँखों के सामने उभर आती है। मसलन, नालंदा का नाम सुनते ही शिक्षा के एक केंद्र के रूप में उसकी पहचान उभर जाती है तो बनारसी शब्द एक मनमौजी संस्कृति को निरूपित करता है। ऐसे ही अन्य शहरों या प्रतिष्ठानों के साथ भी होता है। इसी संदर्भ में देखें तो सावरकर अरब सागर का नाम 'सिंधु सागर' या

'रत्नाकर' रखना चाहते थे। इसी प्रकार वो बंगाल की खाड़ी का नाम 'गंगासागर' रखने के पक्षधर थे।

सुरक्षा को लेकर सावरकर के विचार भी स्वतंत्र भारत के लिए प्रासंगिक हैं। सावरकर पौराणिक भारतीय परंपरा के 'सद्गुण नीति' के पक्षधर थे। ये थे - संधि, विग्रह, यान, असन, समषर्य तथा द्वैधभाव। लेखकद्वय का मूल भाव यह रहा है कि सावरकर के विचार ने न केवल स्वतंत्र भारत की नीति को आकार दिया बल्कि ये वर्तमान को दिशा दिखाने लायक भी है। लेखक का यह मानना है कि सावरकर के हिंदुत्व को न मानने के कारण भारत को विभाजन झेलना पड़ा, हिंदू को लड़ाकू बनाने की सावरकर की नीति को लागू न करने के कारण भारत को पीओके का हिस्सा गँवाना पड़ा, इस्लाम की शिकायती राजनीति का कोई ठोस प्रतिकार न तलाशने के कारण स्वतंत्र भारत भी लंबे समय तक मुस्लिम तुष्टीकरण का दंश झेलता रहा। वस्तुतः भारत जिस प्रकार के वैविध्य को धारण करता है वहाँ स्वाभाविक रूप से ऐसी कई दुविधाएँ हैं जो अक्सर एक-दूसरे के विरोध में खड़ी हो जाती हैं। खासकर धार्मिक अस्मिता को लेकर ये विरोधाभास और भी पैने रहे हैं। दुर्भाग्य से इन परस्पर विरोधी सांस्कृतिक मूल्यों के कारण पैदा हुई नैतिक असहमतियों का राजनीतिक हल खोजने की कभी कोशिश नहीं हुई। अक्सर ही सरकार ने एक 'सुरक्षित' रास्ता तलाशा और अधिक संतुलित दिखने वाली दृष्टि से शासन चलाया। विविधता के नष्ट हो जाने के डर या बहुसंख्यक संस्कृति के हावी हो जाने के भय से यहाँ सामाजिक एकीकरण पर बहुत ध्यान नहीं दिया गया तथा सार्वभौम नागरिक निर्माण की परियोजना अधूरी ही रह गयी। इसके अलावा वैविध्य बनाए रखने के लिए राज्य की तरफ से जो प्रयास हुए उसका एक संदेश यह भी गया कि जानबूझकर बहुसंख्यक के धार्मिक पहचान को बेअसर करने की कोशिश हुई और अल्पसंख्यक को अपना पहचान धार्मिक रूप से गढ़ने के लिए न केवल छूट दी गयी बल्कि प्रोत्साहित भी किया गया।

निष्कर्ष

कुल मिलाकर यह पुस्तक विनायक दामोदर सावरकर की 'दो खोज' करता है। एक अतीत में और एक वर्तमान में। अतीत में सावरकर की खोज करते हुए पुस्तक ज्यादातर सावरकर पर लगे अभियोग को गलत सिद्ध करने में ऊर्जा लगाती है। इसी क्रम में उन ऐतिहासिक प्रक्रियाओं का जिक्र किया गया है जो 'समस्या के मूल' में हैं। सांप्रदायिकता सावरकर की नीतियों का परिणाम नहीं था बल्कि सांप्रदायिकता सावरकर की नीतियों का कारण थी, इस सूत्रवाक्य से पुस्तक का सार प्रस्तुत किया जा सकता है। अंग्रेजी शासन से 'माफीनामा' और गांधीजी की हत्या में शामिल होने के आरोप की सफाई में यह पुस्तक बहुत पन्ने नहीं खर्चती। पहले के जबाव छिटपुट रूप से हर जगह हैं कि सावरकर ने किस तरह क्रांतिकारी आंदोलन को संगठित किया, भगत सिंह से लेकर सुभाष चंद्र बोस तक उनसे प्रेरणा पाते रहे, उन्हें अंग्रेजों ने सबसे कड़ी सज़ा दी और लगातार राजनीतिक प्रतिबंधों से बांधे ही रखा, अंग्रेजी अधिकारी की चिट्ठी में सावरकर को खतरनाक मानने जैसी बातें और स्वयं सावरकर के शिवाजी से प्रेरित होने की दलीलें दी गयीं हैं। गांधीजी की हत्या के षडयंत्र में शामिल होने की बात पर तो कानूनी निर्णय ही यही है कि वो इस अभियोग से बरी हो चुके हैं। प्रस्तुत पुस्तक इसके बाद भी सावरकर को इस मामले में घसीटने के लिए वैचारिक भिन्नता को वजह मानती है।

इस पुस्तक में सावरकर की दूसरी खोज वर्तमान में की गयी है। यह भी दो रूपों में आयी है। पहली तो यह कि कैसे सावरकर ने स्वतंत्र भारत को आकार दिया और सावरकर की नीति का विरोध किस प्रकार पाकिस्तान और चीन से लड़ने में भारत की कमजोरी का कारण बना और दूसरी यह कि वर्तमान सरकार कैसे सावरकर की विचार प्रणाली को आगे बढ़ा रही है। एक 'अनएपोलोजेटिक हिंदू' के भाव से अनुप्राणित सावरकर के विचार को वर्तमान में फलित होने की सदिच्छा, यह पुस्तक रखती है। गोपूजा और त्रावणकोर मसले पर सावरकर की राय की लेखकद्वय ने आलोचना भी की है, साथ ही उन प्रसंगों को लेकर भी वे सावरकर के नकारात्मक पक्ष को उजागर करते हैं जब वे सरसंघचालक से लेकर फील्ड मार्शल तक से नहीं मिलते और निष्क्रिय तटस्थता दिखा रहे थे। हालाँकि पुस्तक की ज्यादा रुचि सावरकर के उन पक्षों को उजागर करने पर है जिन पर बात कम होती है और जो सावरकर को एक नायक के रूप में पेश करता है। इस दृष्टि से यह पुस्तक पढ़ी जाने लायक है। तथ्यों के चुनाव, अतीत के प्रसंगों का चयन और ऐतिहासिक समझदारी के साथ उसके प्रस्तुतीकरण से यह पुस्तक एक जबावी दस्तावेज की तरह है। साथ ही पुस्तक यह भी संकेत करने की कोशिश करती है कि राष्ट्रीय नायकों के चयन में किस प्रकार की समझदारी दिखानी चाहिए। चूँकि पुस्तक अपने उद्देश्य में एकदम स्पष्ट है इसलिए 'हिंदू-मुस्लिम प्रश्न' को बहुत सरल तरीके से प्रस्तुत कर दिया गया है जबकि राष्ट्रीय आंदोलन का यह हिस्सा कहीं अधिक जटिल और कई कहानियों वाला है। यह पुस्तक एक कहानी चुनती है और उसे अन्य कहानियों से जोड़ती है। ❖❖❖

अरुणोदय की आभा

शान कश्यप

संपर्क :
मो. 9437849484
सम्प्रति :
पी-एच.डी. (इतिहास),
रेवेंशा विश्वविद्यालय, कटक

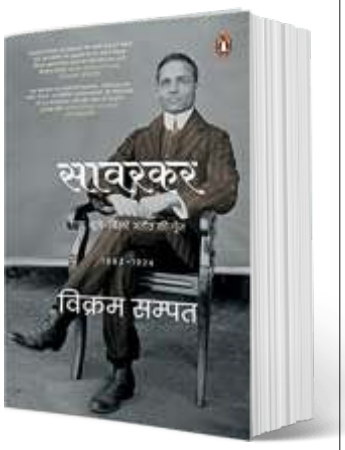

पुस्तक : सावरकर (पार्ट-1)
इकोज फ्रॉम अ फॉरगॉटन पास्ट,
लेखक : विक्रम सम्पत
प्रकाशक : पेंगुइन वाइकिंग
वर्ष : 2019
मूल्य : 450 रु.

पुस्तक : सावरकर (पार्ट-2)
अ कंटेस्टेड लिगेसी,
लेखक : विक्रम सम्पत
प्रकाशक : पेंगुइन वाइकिंग
वर्ष : 2021
मूल्य : 648 रु.

समकालीन भारत में भारतीय जनता पार्टी (भाजपा) के राजनीतिक विस्तार ने कई विद्वानों को पार्टी की हिंदुत्ववादी विचारधारा की जड़ों की गहराई से जाँच करने के लिए प्रेरित किया। वर्तमान राजनीति 'हिंदुत्व' की वैचारिक परिकल्पना को लोकप्रिय बनाने वाले विनायक दामोदर सावरकर (1883-1966) और उनकी विवादास्पद विरासत को देखने का एक उपयुक्त अवसर प्रदान करती है। सावरकर को महात्मा गांधी, जवाहरलाल नेहरू और सुभाष चंद्र बोस के साथ चार सबसे महत्त्वपूर्ण उपनिवेशवाद विरोधी राष्ट्रवादियों में रखा जा सकता है। हम इस सूची में मानवेंद्र नाथ रॉय को भी जोड़ सकते हैं। क्रांतिकारी, अंतरराष्ट्रीय राजनीति में भागीदारी, ब्रिटिश राज में मिलने वाली सबसे लंबी सजा, काला पानी की यातना, हिंदू महासभा के पूर्व अध्यक्ष, और उग्र हिंदू राष्ट्रवाद के आरंभिक प्रतिपादक के रूप में पहचाने जाने वाले सावरकर किसी भी राजनीतिक जीवनीकार के पसंदीदा विषय हो सकते हैं। साथ ही हिंदुत्व के विचारक सावरकर का हिंदू धर्म के साथ विरोधाभासी संबंध था। उन्होंने धार्मिक अनुष्ठानों की तर्कहीन प्रथाओं की निंदा की और विज्ञान के एक मजबूत आलिंगन की वकालत की, जिसे उन्होंने यंत्र युग, या मशीनों के युग के रूप में वर्णित किया। राजनीतिक जीवन में धर्म का उनका उपयोग अत्यधिक सामरिक था - जिसका ध्येय भारतीय स्वतंत्रता के लिए लोगों को एकजुट करना था। हिंदुत्व को परिभाषित करते हुए सावरकर ने एक बेहद विवादास्पद चौरस में प्रवेश किया। उनके लिए, हिंदुत्व, जिसने एक समान राष्ट्रीय पहचान बनाने में मदद की, भारतीय राज्य की क्षेत्रीय सीमाओं के भीतर अपने पितृभू (पितृभूमि) और पुण्यभू (पवित्र भूमि) दोनों की पहचान कर सकने वाले व्यक्तियों पर आधारित था। इस परिभाषा ने भारत के बाहर पैदा हुए धार्मिक संप्रदायों के नागरिकों के लिए एक दुविधा पैदा की– मुख्य रूप से इस्लाम और ईसाई धर्म के लिए।

सावरकर कभी भी हिंदुत्व की अपनी परिभाषा के साथ एक धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र के अपने विचार को एकत्र और एकजुट नहीं कर सके। भीमराव आंबेडकर ने अपनी पुस्तक थॉट्स ऑन पाकिस्तान (1945) में इसका विधिवत उल्लेख किया है। इसके अलावा अंडमान में सेलुलर जेल से लौटने के बाद मुसलमानों के खिलाफ उनकी बयानबाजी उग्र और तेज होती गयी। उनके बदले हुए दृष्टिकोण को सेलुलर जेल में बंदियों के साथ किये गये व्यवहार के साथ-साथ खिलाफत आंदोलन (1919-1924) और मोपला दंगों (1921-22) के बाद मुस्लिम अलगाववाद के बढ़ते ज्वार के लिए जिम्मेदार ठहराया जा सकता है। बाद में उन्होंने जबरन धर्म परिवर्तन की प्रथा के बारे में भी लिखा। उन्होंने दावा किया कि उन्होंने इसे सेलुलर जेल में साक्षात देखा था। सावरकर एक आधुनिकतावादी थे। वह मानव जाति की प्रगति के लिए विज्ञान और प्रौद्योगिकी के एक अटूट पैरोकार थे। मजबूत और एकीकृत राज्यों में विश्वास रखने वाले, वह इटली के ग्यूसेप माज़िनी, तुर्की के मुस्तफा कमाल अतातुर्क और तत्कालीन सोवियत संघ के व्लादिमीर लेनिन जैसे नेताओं के प्रति आकर्षित थे। सावरकर बेहद अध्ययनशील और विचारशील रहे। उन्होंने अंग्रेजी और मराठी दोनों भाषाओं में बड़े पैमाने पर लिखा। उनके लेखन में निरंतर प्रादेशिक भारत एक प्राचीन भूमि के रूप में पौराणिक-ऐतिहासिक राष्ट्रीयता की सांस्कृतिक भावना में निरूपित होता रहा जो अन्य सेक्युलर राष्ट्रवादियों, विशेष रूप से गांधी और नेहरू के लिए एक विकट चुनौती था। क्रमशः गाँधी ने इसका प्रतिउत्तर 'हिन्द स्वराज'

(1909) और नेहरू ने 'द डिस्कवरी ऑफ इंडिया' (1946) में अपने-अपने ढंग से किया।

अब प्रश्न यह शेष रह जाता है कि अगर वाकई सावरकर का महत्त्व तथा लेखन विस्तार इतना जटिल एवं विस्तृत है तो उन पर अध्ययन और शोध का विस्तार इतना सीमित क्यों है? क्या सावरकर जिस बौद्धिक बहिष्कर के शिकार हुए वह न्ययोचीत है? उनके विषम स्वतंत्रता सेनानी, क्रांतिकारी, विचारक और भारतीय स्वतंत्रता संघर्ष की हिंदू राष्ट्रवादी धुरी के मुख्य प्रणेता होने के बावजूद उन पर केंद्रित ऐतिहासिक आख्यान उनके द्वारा लिखे गये 'क्लीमेंसी पेटिशन' और गांधी की हत्या में उनका आरोपित होने तक क्यों सीमित रह जाती है? धनञ्जय कीर लिखित सावरकर की जीवनी (पॉपुलर प्रकाशन, 1966) को छोड़कर अंग्रेजी भाषा में–जिस भाषा में अक्सर भारत का प्रबुद्ध इतिहासकार लिखता रहा है–कोई अन्य विद्वत शोध उपलब्ध नहीं था। क्या सावरकर में बौद्धिक अभिरुचि केवल समकालीन राष्ट्रीय राजनीति तक ही सीमित है?

यह समीक्षा लेख इन प्रश्नों के आलोक में सावकर पर विक्रम सम्पत द्वारा लिखी दो खंडो वाली जीवनी का परिप्रश्न करेगा। जीवनी लिखने के उद्देश्य, वैचारिक धरातल, सैद्धांतिक सत्व और इतिहास-लेखन के प्रतिदर्शों के आलोक में ही समीक्षा करना उचित होगा। पिछले दो वर्षों में जब से सम्पत द्वारा लिखित प्रथम खंड प्रकाशित हुआ है, इसके इर्द-गिर्द समीक्षात्मक संवाद स्पष्ट तौर से केवल राजनीतिक रहा है। कई समीक्षकों ने स्रोत, सूचना, लेखन, आदि की प्रशंसा करने के बावजूद सैद्धांतिकी की नियमितता और 'मेथड्स' पर सवाल खड़े किये हैं। जाहिर है उन पर यहाँ भी ध्यान आकृष्ट किया जाएगा। साथ ही यह भी देखना होगा कि अंतर्विरोधों से पटे सावरकर के जीवन पर दो खंडों की यह जीवनी कितने प्रभावी ढंग से टिकती और किन आधारों पर करती है। क्या जीवनी एक बेहद महत्त्वपूर्ण प्रश्न का उत्तर दे पायी है कि समकालीन भारत में सावरकर का बौद्धिक बहिष्करण क्यों होता रहा है?

प्रथम खंड (1883-1924)

अपने विषय की पार्श्वीकरण पर टिपण्णी करते हुए सम्पत ने आरंभ में ही लिखा है, "बेशक मैंने उनका (सावरकर) नाम चलते-चलाते सुना था, हालाँकि वह विद्यालय में हमारी सभी इतिहास की पाठ्य पुस्तकों से स्पष्ट रूप से अनुपस्थित थे। सीबीएसई (केंद्रीय माध्यमिक शिक्षा बोर्ड) पाठ्यक्रम वाले विद्यालयों में अध्ययन करने के बाद मुझे निश्चित रूप से ऐसा लगा कि भारत में आने वाली केंद्र सरकारें नहीं चाहती थीं कि देश का युवा इस व्यक्ति के बारे में कुछ भी जाने। तथ्यात्मक दृष्टि से सम्पत भूल करते हैं क्योंकि बिपन चंद्र कृत मॉडर्न इंडिया (1971) जो लगभग पाँच दशकों तक एन सी ई आर टी की मॉडल पाठ्यपुस्तक रही थी जी. सावरकर को एक महत्त्वपूर्ण क्रांतिकारी के रूप में याद करती है, लेकिन भावनात्मक तौर पर सम्पत सही हैं। एन सी ई आर टी का पाठ्यक्रम अपनी 'स्क्रीनिंग बुकलेट' और 'करिकुलम एजेंडा' में जिस तरह से धार्मिक, जातीय, और भाषाई सांप्रदायिकता से परे एक संवैधानिक देशानुराग से फलीभूत और सेक्युलर नागरिक बनाने की अभिप्रेरणा से आगे बढ़ रहा था, उसमें सावरकर एक अनुपयोगी राजनेता थे। वह हिंदू राष्ट्रवाद के पैरोकार थे, मराठा थे, चितपावन ब्राह्मण थे, और कांग्रेस केंद्रित राष्ट्रवाद के विलोम थे। बल्कि सावरकर के लिए जैसी बात सम्पत ने की है वही बात बाल गंगाधर, लाला लाजपत राय, मदन मोहन मालवीय, सुभाषचंद्र बोस, भीमराव आंबेडकर, रामासामी पेरियार, श्यामा प्रसाद मुखर्जी, मोहम्मद अली जिन्नाह, आदि जैसे कई और राजनेताओं के लिए कही जा सकती है। स्कूली पाठ्यक्रम और उन पर आधारित पाठ्यपुस्तक जिस तरह का सेक्युलर इतिहास बनाने की मंशा से सामने लाये गये थे, उनमें वह हर विचारक और राजनीतिक अत्यल्प हो गया जो उस 'फॉर्मूले' का अपवाद था।

तो जाहिर है सम्पत का यह कर्त्तव्य बना कि वह अपने पाठकों से सावरकर का परिचय ठीक से करवाएँ। बिना किसी अतिश्योक्ति के यह कहा जा सकता है कि इस कर्त्तव्य को बखूबी निभाया गया है। कुल 12 अध्यायों में सावरकर के जन्म से लेकर अंडमान तक की उनकी जेल यात्रा पर विस्तार से चर्चा हुई है। सावरकर की सामाजिकी पर टिप्पणी करते हुए सम्पत चितपावन ब्राह्मणों की समकालीन मराठी समाज में केंद्रीयता से परिचित करवाते हैं। 1680 में छत्रपति शिवाजी महाराज की मृत्यु और अठारहवीं शताब्दी के आरंभ में पेशवा शासन की स्थापना के बाद चितपावन ब्राह्मणों की श्रेष्ठता राजकीय प्रशासन में दृढ़ता से निहित थी। पेशवा स्वयं चितपावन ब्राह्मण थे। हालाँकि चितपावन ब्राह्मणों का यह अद्भुत काल 1818 के बाद नाटकीय रूप से और अचानक बदल गया। ब्रिटिश विजय ने पुराने शासक वर्गों के संरक्षण को नष्ट कर दिया और चितपावनों से उनके वंशानुगत लाभ छीन लिये गये। इस पृष्ठभूमि में सम्पत ने अपने नायक सावरकर की अंग्रेजी सरकार के प्रति सहज रोष और द्वेष को संदर्भित किया है। इस बात की भी चर्चा हुई है कि कैसे बाल विनायक स्वयं को 'भागुर का नन्हा

जागीरदार' कहलवाना पसंद करता था। लेकिन, सम्पत अतीत में रही सामाजिक और फलस्वरूप आर्थिक समृद्धि का राज्य सत्ता में परिवर्तन हो जाने से उपनिवेश-विरोधी मानस बनने के कारणत्व में कई दूसरी बहसें छोड़ देते हैं। उदाहरणार्थ, क्या हम ऐसे ही सामाजिक एवं आर्थिक कारण अरोबिन्दो घोष के लिए बंगाल में तलाश सकते हैं? या भीमराव आंबेडकर के लिए महाराष्ट्र में, मदन मोहन मालवीय के लिए संयुक्त प्रांत में, और पंजाब में सोहन सिंह भकना या भगत सिंह के लिए? कदाचित नहीं। फिर सावरकर के लेखन में ही अगर ऐसे कारणत्व मौजूद हैं तो उन्हें राजनीतिक संदर्श बनने की प्रक्रिया में एक सामान्यकृत प्रस्थापना की तरह उल्लेखित किया जाना उचित है? सम्पत ने ऐसे परिचय से न चाहते हुए भी यह दिखलाया है कि अगर चितपावन ब्राह्मणों का ब्रिटिश राज से साँठ-गाँठ हो गया होता और उनके अधिकार न छीने गये होते तो वो 'कॉलेबॉरटर' हो सकते थे। क्या ऐसा था? नहीं?

इसी तरह से आगे के अध्यायों में सावरकर के पारिवारिक जीवन से होते हुए क्रांतिकारिता की बनती धारा को नाशिक और पुणे में तलाशा गया है। कम-से-कम आरंभिक तीन अध्याय सावरकार के जीवन के बेहद व्यक्तिगत और अनछुए पहलुओं से पाठक का साक्षात्कार करवाता है। बड़ी ही सुंदरता से सम्पत ने कई बार इन सालों में सावरकर की कवि अभिव्यक्ति का प्रयोग करके उनके स्वजनों से उनकी आत्मीयता का परिचय करवाया है। अध्याय 4 से कथा जानी-पहचानी लगने लगती है। सावरकर की यूरोप यात्रा का आरंभ होता है। इस अध्याय को 'इनसाइड द एनिमी कैंप' की संज्ञा दी गयी है। सम्पत की वीर गाथा में यहाँ से सैद्धांतिक प्रणाली संबंधी समस्याएँ उजागर होने लगती हैं। इतिहास, साहित्य और आलोचना में 'पोस्ट कोलोनिअलिज्म' जुम्बिश के बाद यह कई बार स्पष्ट किया जा चुका है कि 'नेटिव' और 'कॉलोनाइजर' के मध्य संबंध किसी सीधी लकीर में परिभाषित न होकर उभयभाविता (Ambivalence) के सूत्र में बँधे थे। इसी कारण आशीष नंदी जैसे विद्वान ने 'कॉलोनाइजर' को केवल 'एनिमी' न कहकर 'इंटीमेट एनिमी' 'जानी दुश्मन' कहा है। फिर आगे के अध्यायों में सम्पत स्वयं ही सावरकर को एक आधुनिकतावादी की तरह प्रस्तुत करते हैं, फिर यह कैसी आधुनिकता थी? सम्पत के पास यहाँ बड़ा अवसर था कि वह औपनिवेशिक आधुनिकता पर सावरकर जैसे रोचक ऐतिहासिक पात्र के हवाले समझने का प्रयास करते, लेकिन सम्पत के लिए सावरकर एस. एस. पर्शिया की अपनी यात्रा में एक 'नेटिव' के लिए यूरोपीय लोगों की 'आँखों में अवमानना का अनुभव' छोड़ और कुछ नहीं देख पात। इसी दौर में कई और भारतीयों के संबंध यूरोपीय लोगों से मधुर भी थे। सम्पत यह तथ्य जानते हैं। फिर उन्होंने भारतीय और यूरोपीय संबंध में केवल वैमनस्य क्यों देखने का निश्चय किया यह यक्ष प्रश्न अनुत्तरित रह जाता है, आगे के आख्यान में भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के कई ज्ञात और अज्ञात नायकों की चर्चा हुई है, जिन्होंने सावरकर के जीवन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। इनमें लाला हरदयाल, वीरेंद्रनाथ चट्टोपाध्याय, सेनापति बापट, वी.वी.एस. अय्यर, एम.पी.टी. आचार्य, जेसी मुखजी, मदन लाल ढींगरा, ज्ञानचंद वर्मा, भाई परमानंद, सरदार सिंह राणा और मैडम भीकाजी कामा के नाम प्रमुख हैं। लेकिन यह सारे नाम लंदन में इंडिया हाउस के इर्द-गिर्द घूमते रहे। सम्पत का कथानक यहाँ सावरकर के वैचारिक निर्मिति में विभिन्न प्रभावों को तलाशता है। एक बार फिर वही प्रश्न शेष रह जाता है जिसे सम्पत ने अनुत्तररित छोड़ दिया है कि अगर गांधी से लेकर सुभाषचंद्र बोस तक की मित्रता कई यूरोपीय लोगों से थी तो ऐसा कोई मामला सावरकर के लिए क्यों उजागर नहीं हो पाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि सम्पत एक ऐसे क्रांतिकारी की तस्वीर उकेर रहे हैं जो अपने स्वदेशानुराग को दूसरों के लिए वैमनस्य निहित पाता है।

इसी के साथ इस अध्याय में सम्पत एक और ऐसा विमर्श रूपक गढ़ते हैं या सूत्रपात करते हैं जो आगे के 1000 पन्नों में स्थापित है। यह विमर्श रूपक है साधारणतः कांग्रेस की अवहेलना और विशेष रूप से महात्मा गांधी की अवमानना। 1906 में गांधी की इंडिया हाउस दौरे का हर उदाहरण सावरकर की श्रेष्ठता और गांधी की निकृष्टता को दर्शाने के लिए प्रयोग में लाया गया है। इस 'ट्रोप' को गांधी की हत्या तक उसी तरह से प्रयोग किया जाता रहा है। सम्पत ने यहाँ थॉमस कार्लाइल की 'ग्रेट मैन थ्योरी' से सीख नहीं ली है। कार्लाइल की रचना ऑन हीरोज, हीरो वरशिप, एंड द हीरोइक इन हिस्ट्री (1840) में प्रतिपादित महापुरुष सिद्धांत 19वीं सदी का एक विचार है जिसके अनुसार इतिहास को बड़े पैमाने पर महापुरुषों, या नायकों के प्रभाव से समझाया जा सकता है; अत्यधिक प्रभावशाली और अद्वितीय व्यक्ति, जो अपनी प्राकृतिक विशेषताओं, जैसे कि श्रेष्ठ बुद्धि, साहस, असाधारण नेतृत्व क्षमता या दैवीय प्रेरणा के कारण, एक निर्णायक ऐतिहासिक प्रभाव रखते हैं। सम्पत ने सावरकर जैसे महापुरुष को

केवल उनकी क्षमताओं के आधार पर इतिहास के केंद्र में स्थापित न करके गांधी के पतन पर सावरकर की महानता का आधार रखा है। यह 'ट्रोप ऑफ डिस्कोर्स' बड़ी स्पष्टता से दूसरे खंड में सामने आता है जब सामाजिक सुधार, जाति, हिंसक क्रांतिकारिता का पक्ष-विपक्ष, इन सभी विषयों पर गांधी को दरकिनार करके सावरकर और आंबेडकर को एक मत दिखाने का प्रयास हुआ है। इसके लिए सम्पत ने निरंतर जिन समकालीन स्रोतों से उद्धरण उपलब्ध करवाएँ हैं, उन्हें उनकी राजनीतिक समकालीनता में संदर्भित नहीं किया है। साथ ही अगर सम्पत पाठ्य पुस्तकों से सावरकर का नदारद होना किसी विशेष राजनीतिक षड़यंत्र का हिस्सा मानते हैं, तो उनके आख्यान में गांधी की अवहेलना करके उन्हें अत्यल्प करने की मंशा को षड़यंत्र क्यों न माना जाए?

इस भाग के आखिर में "क्लीमेंसी पेटिशन" पर चर्चा करना महत्त्वपूर्ण है क्योंकि वर्तमान राजनीति का चक्का वहीं जाम हो रखा है। सम्पत ने इस विषय की महत्ता को गंभीरता से लेते हुए इस विवाद पर 'पक्षधर बेसरोकारी' (Aligned Neutrality) का प्रदर्शन किया है। यह समीक्षक इसे 'पक्षधर बेसरोकारी' इस कारण कहता है क्योंकि सम्पत ने राज्यक्षमा के लिए सावरकर के लिखे आवेदनों को सटीक ऐतिहासिक संदर्भ में समझा है, किंतु उसके पीछे की अभिप्रेरणा को वर्तमान राजनीति का संदर्श दिया है। सम्पत ने यह बहुत सटीकता से तर्क किया है कि ब्रिटिश राज में उत्पीड़न और विभीषिका के नाते कई तरह के जेल अनुभव थे। जवाहरलाल नेहरू का नैनी जेल या अहमदनगर फोर्ट में, और गांधी का आगा खान महल में कारावास के तौर पर काटा हुआ समय और सावरकर का काला पानी की निर्धारित पचास बरसों की सजा किसी भी तरीके से तुलना योग्य नहीं है। सम्पत इसे स्पष्ट करने के लिए काला पानी में कैद कई बंदियों का उदाहरण भी देते हैं। कैदियों की सजा-यातना के मध्य अंतर को समझना महत्त्वपूर्ण है और इसी क्रम में कैदियों को कानून के अनुसार मिलने वाला लाभ भी समझना होगा। 15 नवंबर 1913 को नंद गोपाल की याचिका में इसे विस्तार से समझाया गया है। नंद गोपाल ने कोल्हू के काम के खिलाफ प्रतिरोध का बीड़ा उठाया था और एक याचिका भी प्रस्तुत की थी, जो उनका वैध अधिकार था। सम्पत और भी उदाहरण देते हैं। पत्र के प्रारूप और आवेदन की भाषा पर जैसे समकालीन भारत में बहुत सी बहसें हुई हैं, उसे भी सम्पत उसकी ऐतिहासिकता में सटीकता से समझाते हैं। बात जब कार्य-कारण-संबंधों की ओर जाती है तब सम्पत की यह विवेचना कि सावरकर की राज्यक्षमा की याचिका केवल एक कानूनी दाँव था, ऐतिहासिक विवेचन की राजनीतिक अधिकता से प्रेरित लगता है। सम्पत ने सावरकर को यहाँ मानवीय न बनाकर लोकातीत प्रस्तुति में ढाल दिया है। जेल की दीवारों पर कविता लिखने वाले सावरकर, तमाम यातनाएँ सहने वाले सावरकर, प्रतिरोध के स्वर सावरकर का राज्यक्षमा माँगने का यह निश्चय एक स्पष्ट मानवीय घटना है। उसे उसी संवेदना में प्रस्तुत किया जाना चाहिए था। यह ध्यान रखना होगा कि वह कई प्राथमिक स्रोत विशेषकर सावरकर का अनुस्मरण–जिन पर सम्पत अपनी विवेचनाओं को रखते समय आश्रित हैं, वह घटनाक्रम के काफी बाद दर्ज की गयी थीं। सावरकर लिखित 'माय ट्रांसपोर्टेशन फॉर लाइफ' ऐसा ही एक उदाहरण है।

दूसरा खंड (1924-1966)

जीवनी का दूसरा खंड सेलुलर जेल से बाहर आकर येरवडा जेल में आये सावरकर के साथ आगे बढ़ता है। वहाँ से रिहाई और आगे नज़रबंदी की तरफ बढ़ रहे सावरकर की दुर्दशा पर टिप्पनी करते हुए सम्पत ने हृदय विदारक चित्रण किया है 'रिहाई के समय सावरकर की इतनी दयनीय स्थिति थी कि जेल से बाहर निकलते समय उनके पास नागरिक कपड़े भी नहीं थे। म्हात्रे नाम के एक सहृदय जेल कर्मचारी ने उनकी हालत पर तरस खाते हुए अपने पुराने कपड़े सावरकर को दे दिये। वे कपड़े बेमेल थे लेकिन उस 'अपराधी' को जिसने राज्य के खिलाफ युद्ध छेड़ा था और चौदह साल तक कैद का सामना किया था यही ठाट मिल सकता था।" आगे चलते हुए सम्पत ने सिलसिलेवार तरीके से स्रोतों को उद्धृत किया है। यह एक बेहद सकारात्मक पहल है क्योंकि 1920 के दशक के बाद भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अलावा किसी और राजनीतिक आंदोलन का पूर्ण और गंभीर वृत्तांत कम मिलता है। उदाहरण के लिए, 'हिंदुत्व' के विचार की पृष्ठभूमि में ख़िलाफ़त आंदोलन और मोपला दंगों के प्रभाव को समझा जा सकता है, लेकिन सम्पत के सहारे हमें सावरकर और मौलाना शौकत अली के मध्य 25 फरवरी 1925 में हुई लंबी बातचीत का ब्यौरा प्राप्त होता है। लोकमान्य और महरत्ता में बैठक की विस्तार से रिपोर्ट की गयी थी। दोनों नेताओं की चर्चा उस समय राष्ट्र और उसके धार्मिक नेतृत्व की मनोदशा की एक आकर्षक तस्वीर प्रस्तुत करती है। अगले चरण में सावरकर रत्नागिरी पहुँचते हैं और राजनीतिक संघर्ष का आरंभ करते हैं। सम्पत बताते हैं कि सावरकर के रत्नागिरी पहुँचने के एक पखवाड़े के भीतर, 23

जनवरी 1924 को वहाँ एक हिंदू सभा शुरू हुई। बैठक में बाबाराव, अधिवक्ता भास्कर नानल, महादेव सहस्रबुद्धे, विष्णु पटवर्धन, पुरुषोत्तम भीकाजी जोशी, गजानन पटवर्धन, हरि गांधी, नारायण जोग, प्रह्लाद जोशी और महादेव पटवर्धन ने भाग लिया। सावरकर स्वयं बैठक में शामिल नहीं हुए, लेकिन उन्हें इसकी जानकारी थी और उन्होंने इसे अपना मौन समर्थन दिया था। अब यहाँ एक महत्त्वपूर्ण पहलू सामने आता है। यह सभी नाम कांग्रेस केंद्रित राष्ट्रीय इतिहास अध्ययन करने वालों के लिए नये हो सकते हैं। सम्पत के आख्यान की सुंदरता यही है कि उन्होंने अभिलेखागार से एकत्र किये गये स्रोत बिंदु, व्यक्ति, स्थान, संगठन, भाषण, लेख, साक्षात्कार, सरकारी रिपोर्ट, प्राइवेट पेपर, खुफ़िया विभाग के नोट, संस्मरण, प्राइवेट पेपर, कविता, नाटक, सभी का समेकित समायोजन किया है। इस नाते यह जीवनी केवल एक व्यक्ति विशेष की कथा न होकर स्वतंत्रता आंदोलन की एक धुरी का इतिहास भी बन जाता है- हिंदू राष्ट्रवादी राजनीति का इतिहास।

पहले खंड की ही तरह इस खंड में भी कुल 12 अध्याय हैं। रत्नागिरी में सावरकर द्वारा किये गये सामाजिक सुधार प्रयासों का विस्तार से लेखा-जोखा मिलता है। सम्पत के अनुसार रत्नागिरी में सावरकर द्वारा किये गये सामाजिक सुधारों का "पूरा धर्मयुद्ध गतिविधि के चार स्तंभों पर आधारित था। स्पष्टतः तार्किक तर्कों के माध्यम से रूढ़िवादी और संशयवादियों को राजी करना; तथाकथित अछूतों में भी प्रचलित उच्च और निम्न जातियों के बारे में बात करना और उनके पूर्ण उन्मूलन का आह्वान करना; मुसलमानों और ईसाइयों के बीच मौजूद अस्पृश्यता की गणना करके एक सजातीय समाज के मिथक को बेनकाब करना (और इसलिए यह स्थापित करना कि धर्मांतरण अस्पृश्यता के लिए रामबाण नहीं था); और अंत में, उदाहरण के लिए सरल, व्यावहारिक कदमों के माध्यम से नेतृत्व करें जो सामाजिक सद्भाव, जाति बाधाओं को दूर करने और हिंदू समाज की एकता की ओर ले गये। इसी क्रम में इस पुस्तक विमर्श का चित्त परिचित अलंकार वापस आता है, जहाँ सामाजिक सुधार और जातीयता उन्मूलन के प्रश्न पर सावरकर और आंबेडकर में जुगलबंदी दिखाकर गांधी को पीछे धकेलने का प्रयास किया गया है।

उसके आगे सांप्रदायिकता पर हुए इतिहास लेखन की मार्क्सवादी -राष्ट्रवादी सूत्रीकरण को उलटकर स्वामी श्रद्धानंद की हत्या के सहारे कांग्रेस और गांधी के मुस्लिम तुष्टीकरण की चर्चा हुई है। एक तरह से स्वतंत्रता आंदोलन के एक रेखीय गांधीवादी जन आंदोलन के चित्त परिचित सरोकार से अलग हिंदू और मुस्लिम सांस्कृतिक विरोधाभासों को रेखांकित करके सम्पत ने नयी खिड़की खोली है। यह एक महत्त्वपूर्ण हस्तक्षेप है। ठीक इसी तरह आगे के अध्याय में क्रांतिकारी आंदोलन पर सावरकर को उसका भागीदार और समर्थक दर्शाया गया है, और कांग्रेस और गांधी का अनमना रवैया सामने लाया गया है। यह जिस तरह के स्रोतों के आधार पर हुआ है, उससे यह बहस कभी ख़त्म नहीं होगी कि भगत सिंह की फांसी किसने रोकनी चाही और किसने नहीं। जाहिर है सावरकर विरोधी राजनीति की ओर से ऐसे स्रोत अवश्य सामने लाये जाएँगे जहाँ कांग्रेस और गांधी को भगतसिंह और साथियों के साथ दर्शाया जाएगा और सावरकर को उनके विरोध में। यह न सुलझने वाली राजनीतिक बहसों से इतर सम्पत के इस योगदान की सराहना होनी चाहिए कि उन्होंने कई सारे घटनाक्रमों पर जहाँ कोई स्रोत उपलब्ध नहीं थे, वहाँ नये स्रोत उपलब्ध करवाए हैं। फिर उसी तरह आगे जाते हुए सावरकर का हिंदू महासभा में योगदान, द्वितीय विश्व युद्ध और भारत छोड़ो आंदोलन की पृष्ठभूमि में उनकी वैकल्पिक राजनीति में सक्रियता, विभाजन पर उनका रवैया, और गांधी हत्या में उनको अभियुक्त बनना और आख़िरकार बरी होना। इन सभी विषयों पर ब्योरेवार अभ्युक्ति हुई है, जिसे पाठक पढ़ कर अवश्य लाभान्वित होंगे। इनमें से कुछ विषय, जैसे, गांधी हत्या के षडयंत्र में सावरकर के लिप्त होने की बात न्यायिक तंत्र से भी मुक्त हो चुकी है, लेकिन राजनीतिक गलियारों में यह बहस कहाँ बंद होने वाली है। राजनीतिक स्वार्थ की पूर्ति के लिए विद्वान स्रोतों को रुचिकर विवेचनाओं में जकड़ते रहेंगे।

पहले और दूसरे खंड में घटनाक्रम के अलावा सावरकर की लेखनी पर गंभीरता से चर्चा हुई है। फलतः सम्पत ने न केवल राजनीतिक जीवनी लिखी है बल्कि बौद्धिक इतिहास लेखन का भी प्रयास किया है जो कि बहुत ही सराहनीय है। उदाहरण के लिए, सम्पत इस और चर्चा करते हैं कि भारतीय इतिहास पर व्याख्यान की शृंखला जो सावरकर अपनी राजनीतिक गतिविधियों पर प्रतिबंध के समय से दे रहे थे, उन्हें अप्रैल 1963 में एक पुस्तक के रूप में संकलित किया गया था, जिसका शीर्षक भारतीय इतिहास 'साहा सोनेरी पाने' या सिक्स ग्लोरियस एपोक्स ऑफ इंडियन हिस्ट्री है। सम्पत बताते हैं कि अंग्रेजी अनुवाद एस.टी. गोडबोले ने किया जो अपनी प्रस्तावना में कहते हैं कि

'इस प्रकार की पुस्तक को प्रमाणों के साथ प्रमाणित किया जाना था, खासकर जब यह विचार-उत्तेजक कभी-कभी चौंकाने वाले-कथनों और निष्कर्षों से भरा हुआ था'। सावरकर ने उद्धरणों और संदर्भों का उल्लेख नहीं किया था। चूँकि वे तब तक अस्सी वर्ष की आयु के करीब थे और इस तरह के कठिन शैक्षणिक कार्यों के लिए बहुत अस्वस्थ थे, गोडबोले ने इस पुस्तक को पूर्ण करने में उनकी सहायता की। एक पुस्तक के तौर पर 'सिक्स ग्लोरियस एपोक्स' को कोई कैसे देखता है यह दूसरी बहस है। सम्पत की चर्चा इस तरह से सार्थक है कि ऐसी पुस्तकों के बारे में तथ्यपरक जानकारी उपलब्ध हुई है। दोनों खंड में कई महत्त्वपूर्ण परिशिष्ट उपलब्ध हैं। कई चित्र भी दिये गये हैं।

निष्कर्ष के नाते यह कहना उचित होगा कि सम्पत ने एक बेहद शोधपरक और तथ्यों से पूर्ण जीवनी लिखी है। अक्सर राजनीति में बढ़ते अधिकार का मेल इतिहास लेखन में बढ़ते प्रभुत्व से होता है। वर्तमान की राजनीति हिंदुत्व और 'असली हिंदू कौन है?' के इर्द-गिर्द चक्कर काट रही है। इस संदर्भ में सावरकर केंद्र में है। उन पर जानकी बाखले और विनायक चतुर्वेदी जैसे इतिहासकार भी काम कर रहे हैं। पॉपुलर हिस्ट्री से भी हस्तक्षेप अवश्य होंगे। आशा यही की जा सकती है कि भविष्य में प्रकाशित होने वाले शोध कार्य विनायक सावरकर जैसे जटिल व्यक्तित्व को समझने में सहायक बनें न कि 'वीर' और 'माफ़ी वीर' के निरर्थक अतिरेकों में फंसे रहें। सम्पत ने वर्तमान की दृष्टि से सावरकर को परखा है। उन्होंने इतिहास को इतिहास की शर्तों पर विवेचित न करके वर्तमान राजनीतिक मानदंडों पर धकेला है। इसी कारण सम्पत का आख्यान हमेशा गांधी, आंबेडकर और सावरकर के त्रिकोणीय संघर्ष में खड़ा दिखायी देता है। वर्तमान में चूँकि आंबेडकर से हर राजनीतिक विचारधारा का मोह है, इस कारण उन्हें सावरकर के समीप रखा गया है। यह तथ्य विपरीत प्रश्न को जन्म देता है कि अगर यह जीवनी दो दशक पहले लिखी गयी होती, या धनञ्जय कीर के आसपास लिखी गयी होती तब इसकी दशा और दिशा कैसी होती। कई 'मेथड्स' के भी सवाल रह जाते हैं जिन पर समीक्षात्मक टिपण्णी हुई है। हालाँकि इन सबके परे दो भागों में लिखी इस जीवनी को जिस स्तर पर अभिलेखीय स्रोतों से सँवारा गया है, वह अनुकरणीय है। धारणाओं पर आधारित बहस के युग में तथ्यों पर होने वाली हर बहस का स्वागत होना चाहिए। तथ्य निर्माण की राजनीति एक अलग विषय है। वह पंक्तियों के मध्य तनन और लचक खोज लेती है।

❖❖❖

विश्व राजनीति और भारत

डॉ. अंशु मिश्रा

संपर्क :
एसोसिएट प्रोफेसर,
राजनीति विज्ञान
श्री बलदेव पी जी कॉलेज,
बड़ागाँव, वाराणसी

पुस्तक : परिवर्तनशील विश्व में भारत की रणनीति
लेखक : एस. जयशंकर
प्रकाशक : प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली, 2022
वर्ष : 2022
मूल्य : 600/- रु.
पृष्ठ : 221

आदर्श राज्य की संकल्पना के साथ ही राजनीति के व्यवस्थित अध्ययन, आदर्श एवं शांतिमय वैश्विक व्यवस्था की अवधारणा तथा अंतरराष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन की शुरूआत हुई। आज 21वीं शताब्दी में, अंतरराष्ट्रीय पटल पर अनेक ऐसी घटनाएँ घटित हुई हैं, जिन्होंने अंतरराष्ट्रीय राजनीति में व्यापक स्तर पर परिवर्तन ला दिया है। अब पूँजीवादी और समाजवादी विचारधारा का संघर्ष समाप्तप्राय है, बल्कि उसकी जगह वैश्विक आर्थिक प्रभुसत्ता स्थापित करने का संघर्ष आरंभ हो गया है। इस नवीन संघर्ष में शक्ति-संघर्ष का केंद्र यूरोप से विस्थापित होकर एशिया महाद्वीप में केंद्रित हो गया है। दक्षिण एशिया में अवस्थित देश भारत भी वैश्विक मानचित्र पर एक बड़ी शक्ति बन कर उभरा है। इस बदले परिदृश्य में भारत की विदेश नीति की दशा और दिशा पर देश के विदेश मंत्री डॉ. सुब्रह्मण्यम जयशंकर जिनके द्वारा लिखित पुस्तक 'The Indian Way- Strtegies for an Uncertain World' विशेष प्रकाश डालती है। यह पुस्तक मूलरूप में अंग्रेजी में हार्पर कोलिन्स पब्लिकेशन्स द्वारा 2020 में प्रकाशित हुई, जिसका हिंदी अनुवाद 2022 में प्रभात प्रकाशन द्वारा 'परिवर्तनशील विश्व में भारत की रणनीति' नाम से किया गया है। पुस्तक का अंग्रेजी से हिंदी में अनुवाद दीपक नरेश द्वारा किया गया है।

पुस्तक की प्रस्तावना में तमिल कवि तिरूवल्लुवर के एक कथन को बड़े ही सुंदर ढ़ंग से प्रस्तुत किया गया है कि 'बुद्धिमत्ता यही है कि बदलते विश्व की बदलती शैलियों की लय में निरंतर चलते रहें।' इनकी यह पुस्तक इनके चार दशक की विदेश सेवा का निचोड़ मानी जा सकती है।

संपूर्ण पुस्तक आठ अध्यायों में विभाजित है। प्रत्येक अध्याय को भारतीय परिवेश से जोड़ते हुए उसका एक सुंदर एवं आकर्षक शीर्षक दिया गया है। पहले अध्याय का शीर्षक है- 'अवध की सीख।' अध्याय के आरंभ में ही ग्रीक विचारक प्लेटो का उद्धरण है कि शासन से मुख मोड़ने का दंड इंसान को अयोग्य से शासित होकर चुकाना पड़ता है। लेखक ने मुशी प्रेमचंद की कहानी 'शतरंज के खिलाड़ी' जिस पर अस्सी के दशक में सत्यजीत रे ने एक चर्चित फिल्म भी बनायी थी, के उदाहरण से सचेत करने का प्रयास किया है कि आज चीन के उदय को वैश्विक जगत में आँखें मूद कर अनदेखा करने का हमें भविष्य में भारी मूल्य चुकाना पड़ सकता है। भारत में वैश्विक प्रगति के युग में आर्थिक विकास की जो बीसवीं शताब्दी में उपेक्षा हुई, उसकी भरपाई 1991 के आर्थिक सुधार, 1998 के परमाणु परीक्षण तथा 2005 की परमाणु डील के बाद भी नहीं हो पायी है। लेखक का कहना है कि वर्तमान में अमेरिका पुनः रणनीतिक क्षेत्र में अपनी पहचान बनाने को प्रयत्नशील है तथा भविष्य में अमेरिका-चीन का पारस्परिक गत्यात्मक संबंध निश्चय ही विश्व राजनीति पर प्रभाव छोड़ेगा एवं भारतीय नीति निर्धारण की पृष्ठभूमि बनेगा।

लेखक ने इस अध्याय में भारतीय विदेश नीति की भूतकाल में हुई त्रुटियाँ बतायी हैं जो आज भी भारतीय विदेश नीति को प्रभावित कर रही हैं- प्रथम, देश का विभाजन, जिससे देश जनसंख्यात्मक रूप से छोटा हो गया एवं चीन सामरिक रूप से महत्त्वपूर्ण स्थिति में हो गया, द्वितीय- आर्थिक सुधारों में देरी तथा तीसरी- न्यूक्लियर विकल्प कार्यक्रम को देर से अपनाया जाना। लेखक का कहना है कि वर्तमान समय भारतीय दृष्टिकोण से ऐसा समय

है जब हमारे लिए यह आवश्यक है कि हम अमेरिका को एनगेज करके चीन को मैनेज करें, यूरोप से संबंध बनाएँ, रूस को आश्वस्त करें, जापान को अपने खेल में शामिल करें, पड़ोस का विस्तार करें तथा पारंपरिक भरोसे वाले क्षेत्रों का दायरा बढ़ाएँ। एशिया में स्थायी संतुलन का सृजन करना भारत की सबसे पहली प्राथमिकता हो। केवल बहुध्रुवीय एशिया ही बहुध्रुवीय विश्व का मार्ग प्रशस्त कर सकता है। सबका साथ, सबका विकास, सबका विश्वास की अवधारणा विदेश नीति के प्रसंग में भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण है, जितनी घरेलू मोर्चे पर। भारत आज स्वयं की खोज की यात्रा पर है और अवध की सीख एक दिशा सूचक यंत्र के समान है।

पुस्तक का द्वितीय अध्याय 'विचलन की कला', में लेखक कह रहे हैं कि पिछले दो दशक से चीन बिना लड़े जीत रहा है और अमेरिका बिना जीते लड़ रहा है। आज प्रतिकूल परिस्थितियों में अमेरिका अनुबंध की शर्तों में बदलाव पर ज्यादा ध्यान केंद्रित करता नजर आ रहा है। संपूर्ण विश्व आज एक ऐसी व्यवस्था की प्रासंगिकता पर विमर्श में व्यस्त है, जिसे विकसित तो स्थापित महाशक्तियों ने किया परंतु उसका बुद्धिमत्तापूर्ण प्रयोग एक उभरती हुई शक्ति ने अपने हितों की पूर्ति के लिए किया। चीन और अमेरिका के बीच की प्रतिद्वंद्विता एक लंबी और कठिन प्रतिस्पर्धा बनने वाली है। कोरोना महामारी भी आगे चलकर वैश्विक राजनीति में एक जटिल कारक बनकर उभरेगी। वर्तमान विश्व में भारत के लिए यह जरूरी है कि वह अपने तरीके से विश्व राजनीति को संचालित करे, जो है- ढेर सारे मित्र, कम शत्रु, विशेष प्रतिष्ठा तथा अधिक प्रभाव हासिल करना।

पुस्तक का अंतिम अध्याय 'प्रशांत भारतीय', 'इंडो पैसिफिक' का हिंदी अनुवाद है। इसमें लेखक ने इक्कीसवीं सदी में शक्ति संघर्ष के नये केंद्र इंडो पैसिफिक को समझाने का प्रयास किया है। वह कहते हैं कि यह ग्रेट गेम की वह रणभूमि है जहाँ भिन्न-भिन्न अपेक्षाएँ लिये बहुत सारे योद्धा अपने रणनीतिक कौशल का प्रदर्शन कर रहे हैं। भारत के लिए इंडो पैसिफिक पर अपना मत स्पष्ट रखने के लिए आवश्यक है कि वह हिंद महासागर की रणनीति पर अधिक कुशलता से काम करे।

पुस्तक का तृतीय अध्याय श्रीकृष्ण का विकल्प गोएथे के एक उद्धरण से आरंभ होता है- ''जो देश अपने अतीत का सम्मान नहीं करता, उसका कोई भविष्य नहीं है।'' इसमें लेखक ने यह आश्चर्य प्रकट किया है कि भारत में आज भी कौटिल्य की पुस्तक 'अर्थशास्त्र' एवं 'महाभारत' को राजनीतिक अध्ययन में महत्त्व नहीं दिया जाता। पश्चिम में होमर की 'इलियड' और मैकियावली की 'द प्रिंस' का उल्लेख के बिना कोई रणनीतिक अध्ययन नहीं होता। इनका कहना हैं कि प्राचीन भारतीय साहित्य की शेष विश्व द्वारा शायद इसलिए उपेक्षा हुई क्योंकि हम हर परिस्थिति में सही विकल्प चुनने को प्राथमिकता देते हैं जबकि पश्चिम 'जो जीता सब उसका' को मानता है। साथ ही परिणाम साधनों को न्यायोचित बना देता है, को मानता है। 'महाभारत' कर्तव्यबोध के महत्त्व और दायित्वों की शुचिता पर ध्यान देने वाला महाकाव्य है। 'महाभारत' में सबसे ज्यादा महत्त्व श्रीकृष्ण का है, जिन्होंने चुनौतियों से निपटने के लिए रणनीतिक मार्गदर्शन, सामरिक ऊर्जा और नीतिगत प्रज्ञा का दिग्दर्शन कराया। इस संपूर्ण अध्याय में जयशंकर जी ने महाभारत की घटनाओं के माध्यम से विदेश नीति निर्धारण की सलाह दी है।

नेपोलियन के कथन ''इतिहास अतीत की घटनाओं का एक ऐसा संस्करण है, जिसे लोगों की सहमति प्राप्त है,'' से चौथे अध्याय 'दिल्ली की रुढ़िगत मान्यताएँ' आरंभ होता है। इस अध्याय में लेखक कह रहे हैं कि आज बदलती दुनिया में भारत को उसी अनुरूप सोचने, वार्ता करने और कार्यप्रणाली अपनाने की जरूरत है। अमेरिकी राष्ट्रवाद, चीन का उदय, ब्रेक्जिट तथा वैश्विक अर्थव्यवस्था के पुनर्संतुलन आदि परिवर्तन संपूर्ण विश्व को प्रभावित कर रहे हैं। आज विकसित होते विश्व में राष्ट्रीय रणनीति निश्चल नहीं हो सकती, दुनिया द्विध्रुवीय से एक ध्रुवीय और अब बहुध्रुवीय में बदल चुकी है। अगर हम स्वतंत्र भारत की यात्रा पर पीछे मुड़ कर देखते हैं तो इसकी क्षमताओं और प्रभाव में वृद्धि को आगे कर, इसके द्वारा गवायें गये अवसरों और दोषों पर हमें परदा नहीं डालना चाहिए। लेखक ने आजादी के बाद विकसित भारतीय विदेश नीति को निम्न चरणों में विभाजित किया है-

प्रथम चरण : 1946-1962
द्वितीय चरण : 1962-1971
तृतीय चरण : 1971-1991
चतुर्थ चरण : 1991-1999
पंचम चरण : 1999-2014
षष्ठ चरण : 2014- आदिनांक

आजादी के सत्तर सालों में भी सीमा विवाद के हमारे कई मसले अनसुलझे हैं। वर्तमान में, विश्व हमसे नयी सोच की अपेक्षा रखता है। अतः रूढ़िगत मान्यताओं

को पीछे छोड़ देना ही भारतीय विदेश नीति की यात्रा के लिए शुभ है।

पुस्तक का पाँचवाँ अध्याय है- 'बाबूगिरी और जनमानस।' अध्याय की शुरुआत अमेरिकन दार्शनिक विल डूरंट के कथन से पाँचवें अध्याय 'बाबूगिरी और जनमानस', 'भारत माता कई मायने में हम सबकी माँ' है। इसमें लेखक ने यूरोप केंद्रित विश्लेषण के दायरे से निकल कर राष्ट्रवादी दृष्टिकोण से विदेश नीति को देखने का समर्थन किया है। आज अंतरराष्ट्रीय स्तर पर जी-20 और ब्रिक्स (BRICS) बड़े मंच बन कर उभरे हैं तथा वैश्विक एजेंडा भी अब पहले की अपेक्षा बदले मुद्दों जैसे जलवायु परिवर्तन आदि पर केंद्रित हो गया है। भारत एक उभरती हुई शक्ति हो सकता है, लेकिन अभी भी उसे लंबा रास्ता तय करना है।

छठें अध्याय 'निम्जो-इंडियन डिफेंस' में महाशक्ति बनते चीन से किस प्रकार भारत संबंध स्थापित करे, इसके बारे में बताया गया है। अध्याय को चुग लियांग के बड़े ही खूबसूरत कथन से आरंभ किया गया है, जो भारत-चीन संबंध पर सटीक बैठता है। लेखक कह रहे हैं कि भारत-चीन संबंध निकट भविष्य में वैश्विक स्तर पर निर्णायक भूमिका निभा सकते हैं। चीन को सही तरीके से समझना भारत के भविष्य की संभावनाओं के लिए बहुत अहम है। दोनों देशों के रिश्ते, इतिहास और भूगोल दोनों के चलते कई वास्तविकताओं से जूझते आये हैं। 1962 की लड़ाई में हार सिर्फ भारत की नहीं, बल्कि आपसी रिश्तों की भी हार हो गयी थी। तिब्बत के मसले तथा चीन -पाकिस्तान मैत्री ने भी भारत-चीन संबंधों को प्रभावित किया। आज 21वीं सदी में भारतीय उपमहाद्वीप में चीन के आर्थिक और राजनैतिक प्रभाव में अभूतपूर्व वृद्धि हो चुकी है। चीन की 'बेल्ट एंड रोड इनिशिएटिव' योजना इसके राष्ट्रीय उद्देश्यों को ही पूरा करने वाली ज्यादा नजर आती है। आज भारत इकलौता देश नहीं है जो शक्तिशाली चीन के साथ हालात के मुताबिक समझौतों पर ध्यान केंद्रित कर रहा है, बल्कि पूरा विश्व आज ऐसा ही कर रहा है।

पुस्तक का सातवाँ अध्याय है- 'नियति में देरी'। इस अध्याय में लेखक भारत द्वारा विगत वर्षों में 'लुक ईस्ट और एक्ट इस्ट पॉलिसी' अपनाये जाने के भविष्य में लाभ का परिदृश्य प्रस्तुत किये हैं। भारत सदैव भारत रहा है, किंतु एशिया होने का इसका आधुनिक बोध 'ईस्ट' की ओर ध्यान देकर और उस दिशा में काम करके ज्यादा प्रबल हो गया है। आज भारत द्वारा स्पष्ट रूप से यह स्वीकार किया जा रहा है कि जापान के साथ सहयोग की अपार संभावनाएँ उपलब्ध हैं। जापान के साथ भारत का संबंध भारत को दक्षिण एशिया के साथ ही दक्षिण-पूर्व एशिया में उसके प्रभाव को बढ़ाने में सहायक होगा। लेखक का कहना है कि भारत और जापान लोकतंत्र, सहिष्णुता, बहुलतावाद और खुले समाज के प्रति प्रतिबद्धता रखते हैं। जापान को भारत आज एक ऐसे भागीदार के रूप में देखता है जो इंडो-पैसिफिक और उसके बाह्य क्षेत्रों में शांति स्थापित करने में भी मददगार होगा। जापान के साथ ही आसियान भी भारत के लिए पूर्व के द्वार के समान है।

पुस्तक का अंतिम अध्याय 'प्रशांत भारतीय', 'इंडो पैसिफिक' का हिंदी अनुवाद है। इस में लेखक ने इक्कीसवीं सदी में शक्ति संघर्ष के नये केंद्र इंडो पैसिफिक को समझाने का प्रयास किया है। वह कहते हैं कि यह ग्रेट गेम की वह रणभूमि है जहाँ भिन्न-भिन्न अपेक्षाएँ लिए बहुत सारे योद्धा अपने रणनीतिक कौशल का प्रदर्शन कर रहे हैं। भारत के लिए इंडो-पैसिफिक पर अपना मत स्पष्ट रखने के लिए आवश्यक है कि वह हिंद महासागर की रणनीति पर अधिक कुशलता से काम करे।

उपसंहार में लेखक ने कोविड उपरांत विश्व व्यवस्था के स्वरूप पर चर्चा की है। वायरस ने मतभेदों को तीव्र और अर्थ व्यवस्था का राजनीतीकरण कर दिया है। अब कोरोना राष्ट्रवाद अवतरित हो चुका है। कोविड के वैश्विक प्रभाव से भारत भी प्रभावित है। आज वर्ष 1991 के बाद के मंत्रों (विदेश नीति से तात्पर्य) को अजमाने का कोई अर्थ नहीं है। राष्ट्रीय और वैश्विक दोनों ही परिस्थितियाँ आत्मनिर्भरता पर बल दे रही हैं। अशांत विश्व के बीच भारत का उत्कर्ष स्वयं को दूसरों से अलग दिखा पाने की उसकी योग्यता पर निर्भर करेगा, भारत की रणनीति का स्वरूप भविष्य में निर्णायक भूमिका निभाने वाला होगा, जो जलवायु परिवर्तन के मुद्दे पर स्पष्ट हो चुका है। एस. जयशंकर की यह पुस्तक 21वीं सदी में भारतीय विदेश नीति की दिशा और दशा को समझने के लिए निश्चय ही एक उपयोगी पुस्तक है। अंग्रेजी से हिंदी अनुवाद करने में भाषा थोड़ी क्लिष्ट हो गयी है, परंतु पुस्तक की विषयवस्तु के आगे यह कमी विशेष मायने नहीं रखती है। संपूर्ण पुस्तक 221 पृष्ठों में समाहित है। यह पुस्तक राजनीति विज्ञान के छात्रों के अलावा निश्चय ही सभी वर्ग को पसंद आएगी। ❖❖❖

जलवायु इतिहास की प्रासंगिकता

विपुल सिंह

संपर्क :
प्रोफेसर, इतिहास विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

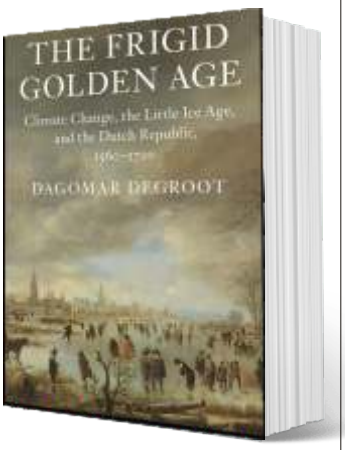

पुस्तक : द फ्रिजिड गोल्डन एज : क्लाइमेट चेंज, द लिटिल आइस एज एंड द डच रिपब्लिक, 1560-1720

लेखक : डेगोमर डेग्रूट

प्रकाशक : न्यू यॉर्क : कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस

वर्ष : 2018

पृष्ठ : 364

मूल्य : 2312 रु.

पिछले दो दशकों में पर्यावरण इतिहास से संबंधित शोधों की विपुल शृंखला प्रकाशित हुई है। पर्यावरण इतिहास का, इतिहास की एक नयी विधा के रूप में अपना स्थान बना पाने का मूल कारण इसकी शोध विधि और वर्तमान समस्याओं से इसका जुड़ाव है। उदाहरण के लिए आज ग्लोबल वॉर्मिंग एक बड़ी समस्या के रूप में देखा जा रहा है। वैज्ञानिकों का मानना है कि भविष्य में कार्बन डाइऑक्साइड के विशाल संचय से पृथ्वी की नाटकीय वार्मिंग होगी। दुनिया भर में औसत तापमान बीसवीं शताब्दी की शुरुआत से लगभग 0.5 डिग्री सेल्सियस बढ़ गया है। यदि उत्सर्जन वर्तमान दर पर जारी रहता है, तो 2030 तक 1.5 डिग्री सेल्सियस से 4.5 डिग्री सेल्सियस तक तापमान बढ़ने की संभावना है। तापमान की यह वृद्धि वर्तमान में हो रही असामान्य बारिश और सूखा के कारण के रूप में देखी जा रही है। अतीत में भी जलवायु परिवर्तन के कई उदाहरण दर्ज हैं और एक इतिहासकार इन बदलावों को मानव इतिहास के परिपेक्ष्य में देखने का प्रयास करता है।

पर्यावरण इतिहासकार अपनी व्याख्या में जलवायु, जल, नदी, वन, खेतिहर भूमि, रोग आदि में परिवर्तन के अध्ययन के साथ पारंपरिक ऐतिहासिक स्रोतों और अभिलेखों का प्रयोग करते हैं, जो उनकी कहानी को काफ़ी रोचक बनाते हैं। इसी अध्ययन का एक हिस्सा है जलवायु परिवर्तन का इतिहास। पहले भी प्रकृति से जुड़े अनुसंधान होते रहे हैं, परंतु इन अनुसंधानों में मानवीय पक्ष को लगभग अनदेखा किया गया है।

प्रस्तुत पुस्तक 'द फ्रिजिड गोल्डन एज' जलवायु इतिहास के अध्ययन पर एक शानदार शोधपरक पुस्तक है। इसके लेखक, डेगोमर डेग्रूट ने यह बताने का प्रयास किया है कि जलवायु परिवर्तन विभिन्न समाजों को अलग-अलग तरीक़े से प्रभावित कर सकता है। वे किसी भी तरह के व्यापक सामान्यीकरण के खिलाफ हैं। उनका मानना है कि लिटिल आइस एज को अबतक इतिहास में जिस प्रकार से उसके मनुष्य पर प्रभाव के रूप में दिखाया गया है वह पूरी तरह से सच नहीं है, इससे प्रभावित सामाजिक-आर्थिक संबंध कहीं अधिक जटिल थे।

डेगोमर डेग्रूट ने दिखाया है कि पारंपरिक ऐतिहासिक स्रोतों के साथ पिछले शताब्दियों के वैज्ञानिक अध्ययनों का उपयोग करके, जिसे डोनाल्ड वॉर्स्टर 'प्राकृतिक वैज्ञानिकों' की 'सबसे विचित्र भाषा' बोलते हैं, इतिहासकार ऐतिहासिक घटनाक्रमों को पूरी तरह से नयी अंतर्दृष्टि प्रदान कर सकते हैं। पर्यावरण इतिहास के विषय पर कई लेखों की तरह, डेग्रूट भी अपनी इस पुस्तक में मानव-केंद्रीयता की पारंपरिक धारणा को खारिज करते हैं। उनका तर्क है कि मानव इतिहास प्राकृतिक बाधाओं से मुक्त नहीं है, और जलवायु परिवर्तन जैसी घटनाओं के 'विभिन्न समाजों के लिए बहुत असमान परिणाम' हो सकते हैं। यह न केवल उन समाजों को नुकसान पहुँचा सकता है जिनके पास दोहन करने के लिए कुछ संसाधन हैं, बल्कि उन्हें भी जिन्हें समृद्ध होने के लिए प्रचुर संसाधनों की आवश्यकता होती है। लेखक, डच गणराज्य, जो सत्रहवीं शताब्दी में समृद्ध था, को एक असाधारण मामले के रूप में प्रस्तुत करते हैं। यह समृद्ध इसलिए था क्योंकि इसकी अधिकांश संपत्ति व्यापारिक गतिविधियों से प्राप्त हुई थी। इसे जलवायु परिवर्तन से अप्रत्यक्ष रूप से लाभ हुआ।

पृथ्वी और जलवायु जैसे विषयों पर वैज्ञानिकों का वर्चस्व रहा है। ऐसे ही एक वैज्ञानिक हैं जॉन एलन एडी, जिन्होंने यह साबित करने के लिए कि सत्रहवीं शताब्दी (1645-1715 के मध्य) 'लिटिल आइस एज' का काल था, ऐतिहासिक वृत्तांतों से अनेक जानकारी निकाली। उन्होंने इस अवधि को

'मॉनडर मिनिमम' के नाम से लोकप्रिय बनाया। एडी ने सौर गतिविधियों के सभी उपलब्ध रिकॉर्डों के गहन विश्लेषण के बाद न्यूनतम सनस्पॉट के साथ इन 70 वर्षों की अवधि की पुष्टि की, जिसमें खगोलविदों द्वारा सनस्पॉट अवलोकन के रिकॉर्ड और पेड़ के छल्ले के कार्बन-14 रिकॉर्ड शामिल हैं। छोटे हिमयुग के इस सबसे ठंडे चरण के दौरान संकेत मिले हैं कि यूरोप और उत्तरी अमेरिका में औसत सर्दियों का तापमान वर्तमान की तुलना में 2 डिग्री सेल्सियस कम था। इस कालखंड में पूरे उत्तरी गोलार्द्ध में, विशेष रूप से यूरोप में, सर्दी और गमी अक्सर ठंडी और आर्द्रता भरी रहीं। बीसवीं शताब्दी के मध्य तक वैज्ञानिकों द्वारा की गयी 'लिटिल आइस एज' की व्याख्या लगभग सर्वमान्य रही और इतिहासकार इस अनुसंधान से पूरी तरह से दूर रहे। एनाल्स स्कूल के इतिहासकारों ने कुछ हद तक जलवायु परिवर्तन को मानव इतिहास के एक कारक के रूप में देखा। परंतु, उनकी व्याख्यायों में जलवायु परिवर्तन कोई विशिष्ट स्थान नहीं बना सका और अधिकतर पाद टिप्पणियों तक ही सीमित रह गया। एनाल्स इतिहासकारों के अतिरिक्त इस बहस में प्रवेश करने वाले सबसे पहले इतिहासकारों में से एक थे जेन डी ब्राइस। उन्होंने पहली बार 'लिटिल आइस एज' का मानव पर प्रभाव को ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में समझने की कोशिश की। 1978 में उन्होंने सुझाव दिया कि 'लिटिल आइस एज' की सर्द और अनिश्चित जलवायु अन्य यूरोपीय देशों की तरह डच अर्थव्यवस्था के लिए आपदा लेकर नहीं आयी (जेन ब्राइस, 'द इकोनॉमिक क्राइसिस ऑफ द सेवेंटीन्थ सेंचुरी आफ्टर फिफ्टी इयर्स')। लगभग ढाई दशक बाद इतिहासकार जेफ्री पार्कर ने दुनिया भर में तबाही के लिए सत्रहवीं सदी की ठंडक को जिम्मेदार ठहराया (जेफ्री पार्कर, ग्लोबल क्राइसिस वॉर, क्लाइमेट चेंज एंड कैटास्ट्रोफ इन द

विभिन्न अध्यायों में विभाजित यह पुस्तक मुख्य रूप से डच गणराज्य की बदली हुई जलवायु में सामाजिक और आर्थिक परिवर्तनों के इर्द-गिर्द घूमती है, परंतु साथ ही साथ यह संकेत देती है कि विश्व के अन्य पूर्व-आधुनिककालीन शक्तिशाली राज्यों ने इन बदलावों पर किस प्रकार अपनी प्रतिक्रियाएँ दीं एवं इसका सामना कर किस प्रकार इससे उबरे भी और भारत में मुगल साम्राज्य, जापान में तोकुगावा और चीन में मिंग और किंग राजवंशों ने मानसून की विफलताओं और विनाशकारी अकाल का अलग तरह से जवाब दिया। संभवतः वैश्विक परिदृश्य पर एक अलग अध्याय इस पुस्तक को और भी अधिक रोचक बना सकता था।

सेवेंटीन्थ सेंचुरी, न्यू हेवन एंड लंदन, येल यूनिवर्सिटी प्रेस, 2013)। उन्होंने तर्क दिया कि जलवायु शीतलता की स्थिति के कारण व्यापक स्तर पर फसलें बर्बाद हुईं तथा अकाल पड़ा और जनसंख्या में गिरावट आयी। युद्ध और सामाजिक अशांति के स्तर में वृद्धि हुई क्योंकि आबादी का बड़ा हिस्सा भुखमरी और गरीबी की चपेट में आ गया था।

लेखक ने स्वीकार किया है कि इमैनुएल ले रॉय लादुरी, ह्यूबर्ट लैम्ब और क्रिश्चियन फ़िस्टर जैसे विद्वानों के अग्रणी काम के कारण 'लिटिल आइस एज' का मानव इतिहास की मुख्यधारा में प्रविष्ट हुआ। हालाँकि उन्होंने स्पष्ट रूप से यह उल्लेख नहीं किया है कि एनाल्स स्कूल के इतिहासकार, विशेष रूप से फर्नांड ब्रॉडेल, कई दशकों से अपने सामाजिक इतिहास में पर्यावरणीय पक्ष पर ध्यान आकर्षित करते रहे हैं। डेगोमर डेग्रूट यह भी देखते हैं कि हाल के वर्षों में ही जलवायु कारक को मानव इतिहास के पाठ्यक्रम में एक महत्त्वपूर्ण प्रभाव के रूप में पुनर्गठित क्यों किया जा रहा है। 1970 के दशक में एनाल्स के इतिहासकार इमैनुअल ले रॉय लादुरी ने हालाँकि जलवायु को इतिहास से जोड़ने में संकोच किया, लेकिन यह भौगोलिक दृष्टि से डेंड्रोक्रोनोलॉजी के सीमित आँकड़ों पर उनकी निर्भरता के कारण हो सकता है (इमैनुअल ले रॉय लादुरी, टाइम्स ऑफ फीस्ट, टाइम्स ऑफ फेमिन, ए हिस्ट्री ऑफ क्लाइमेट सिंस दि ईयर 1000, गार्डन सिटी, एन.वाय. डबलडे, 1971, (पृष्ठ 120)। डेगोमर डेग्रूट किसी भी प्रकार के पर्यावरणीय नियतिवाद के खिलाफ हैं, और जलवायु परिवर्तन एवं मानव गतिविधि के बीच संबंधों को 'जटिल और प्रतिवाद' के रूप में देखते हैं क्योंकि वे भौगोलिक रूप से व्यापक डेटा के माध्यम से जलवायु परिवर्तन और मानव इतिहास के बीच संबंध की जाँच करते हैं।

डेगोमर डेग्रूट द्वारा विभिन्न श्रोतों का उपयोग, सूचना और विश्लेषण दोनों ही मामलों में, पुस्तक को बहुत विशिष्ट बनाता है। उन्हें आश्चर्य होता है कि सदियों से समुद्री बेड़ों के लॉग बुक जैसी अधिकांश सामग्री के बावजूद, इतिहासकारों ने सत्रहवीं शताब्दी के इतिहास को लिखने के लिए ऐसे स्रोतों का उपयोग नहीं किया है। उनका कहना है कि इन लॉग बुक्स में ज्वार और हवाओं, समुद्री धाराओं, जलवायु और मौसम आदि से संबंधित महत्त्वपूर्ण जानकारी मिलती है। डेगोमर डेग्रूट नवीनतम वैज्ञानिक शोधों और विविध पाठ्य स्रोतों, जैसे पत्र, खूफिया रिपोर्ट, डायरी प्रविष्टियाँ और लॉग बुक्स के उपयोग से नये निष्कर्ष पर पहुँचकर 'लिटिल आइस ऐज' की परिकल्पना को आगे बढ़ाते हैं। इन सभी स्रोतों का इस्तेमाल करके वे यह दर्शाते हैं कि जलवायु परिवर्तन ने लोगों को किस प्रकार प्रभावित किया। उनका मानना है कि ये स्रोत बहुत महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि जिन लोगों का जीवन और आजीविका मौसम पर निर्भर रही है, उन्होंने ही इनमें से अधिकांश दस्तावेज लिखे हैं। लॉग बुक्स पर अपनी

निर्भरता पर लेखक का विशेष ज़ोर है क्योंकि आम लोगों की तुलना में नाविक मौसम पर अधिक निर्भर थे।

प्रस्तुत पुस्तक, 'लिटिल आइस एज व डच रिपब्लिक पर इसके प्रभाव का शानदार विश्लेषण है। लेखक का कहना है कि डच सफलता की कहानी का एक हिस्सा जलवायु परिवर्तन का सामना करने में गणतंत्र का लचीलापन था, जिसने यूरोप में कहीं और आपदा में योगदान दिया। वे दर्शाते हैं कि सत्रहवीं शताब्दी में डच गणराज्य की समृद्धि और शक्ति इन आपदाओं से बचने की क्षमता के कारण थी। लेखक ने अपनी पुस्तक में उत्तरी गोलार्द्ध में 1560 से 1720 के बीच की पूरी ठंड की अवधि को शामिल किया है, जिसमें दो ठंडी जलवायु व्यवस्थाएँ थीं – 'ग्रिंडेलवाल्ड फ़्लक्चूएशन' या उतार-चढ़ाव (1560-1628) और 'मॉनडर मिनिमम' (1645-1720)। डेगोमर डेग्रूट दर्शाते हैं कि मौसम ने डच स्वर्ण युग के इतिहास को आकार दिया। उनका कहना है कि लिटिल आइस एज के सबसे ठंडे चरणों में, मौसम के रुझान का 'वाणिज्य और युद्ध छेड़ने के विशिष्ट डच तरीकों के लिए लाभकारी परिणाम' था। (पृष्ठ 5) जलवायु परिवर्तन ने निश्चित रूप से डच नागरिकों के लिए चुनौतियाँ पेश कीं, लेकिन इसने व्यापारियों, नाविकों, सैनिकों और अन्वेषकों के लिए भी अवसर खोले। वास्तव में, अन्य यूरोपीय देशों के विपरीत, डच अपनी समृद्धि के लिए घरेलू कृषि उत्पादन पर निर्भर नहीं थे। डच गणराज्य की समृद्धि की जाँच करते हुए यह पुस्तक वैश्विक जलवायु प्रवृत्तियों और स्थानीय वातावरण के बीच जटिल संबंधों पर प्रकाश डालती है। यह दर्शाता है कि बदलती जलवायु ने परिवहन संजाल को किस प्रकार प्रभावित किया, जिसने डच व्यापारिक साम्राज्य को बनाये रखने में मदद की। ठंडी जलवायु में मौसम ने प्रस्थान करने वाले जहाजों की यात्रा को कुछ और तीव्र गति दी। लेखक हमें यह भी बताते हैं कि बदली हुई जलवायु ने हमेशा डचों के पक्ष में काम नहीं किया। 1630 और 1650 के दशक में, मौसम ने स्पेनिश नीदरलैंड्स में डच आक्रमणों को बाधित किया और प्रथम एंग्लो-डच युद्ध के दौरान गणतंत्र के नौसैनिक अभियानों को विफल कर दिया। 'लिटिल आइस एज' ने डच गणराज्य के भीतर भूमि सुधार, कृषि उत्पादन, पशुचारण और उद्योग को भी प्रभावित किया। यह निश्चित रूप से डच गणराज्य में विनाशकारी तूफान और बाढ़ का कारण बना जिससे अर्थव्यवस्था और समाज प्रभावित हुआ, लेकिन दूसरी तरफ़ इसने समाज को प्रोत्साहित किया कि वे अन्य विकल्पों की तलाश करें (पृष्ठ 6)। इसी क्रम में हिंद महासागर में डच भौगोलिक अन्वेषण की शुरुआत हुई। इस प्रकार, इस पुस्तक के सबसे महत्त्वपूर्ण सिद्धांतों और परिकल्पनाओं में से एक यह है कि पर्यावरणीय परिस्थितियों में मामूली बदलाव भी समाज के लिए असंगत परिणाम ला सकते हैं।

पर्यावरण इतिहास का सबसे जटिल और चुनौतिपूर्ण खंड यदि कोई है तो वह है जलवायु इतिहास। इसका मुख्य कारण जलवायु से संबंधित प्रत्यक्ष स्रोतों का अभाव है। लेखक जलवायु इतिहास की इन सीमाओं से भली-भाँति परिचित है। उनका कहना है कि ऐतिहासिक रिकॉर्ड के माध्यम से जलवायु परिवर्तन को स्पष्ट रूप से जोड़ना बहुत कठिन है। वे बतलाते हैं कि कैसे छोटे और स्थानीय पैमानों पर जलवायु प्रवृत्तियों को मानवीय गतिविधियों से जोड़ना मुश्किल है (पृष्ठ 14)। इसके लिए इतिहासकार अपेक्षाकृत सीमित स्रोतों के साथ काम करते हैं। दूसरी ओर, वैज्ञानिक 'बड़े डेटा' का उपयोग करके इन संबंधों को स्थापित कर सकते हैं, जो उन्हें दुनिया भर के हजारों मौसम स्टेशनों द्वारा एकत्र किये गये मौसम संबंधी आँकड़ों की व्याख्या करने में मदद करते हैं। डेगोमर डेग्रूट का यह भी मानना है कि जलवायु इतिहासकारों को 'संभाव्यता' का सामना करना पड़ता है और इसीलिए जलवायु परिवर्तन से संबंधित इतिहास में अधिकांश इतिहासकार संभाव्यता पर जोर देते हैं। उनका यह भी मानना है कि इतिहासकार शायद ही कभी उन सभी छोटे संयोजनों को स्थापित कर सकते हैं जो ऐतिहासिक प्रवृत्तियों और घटनाओं को एक साथ जोड़ते हैं। चूँकि जलवायु इतिहास लेखन में रुझान बहुत विशाल है, इसलिए उन्हें मानवीय पैमाने पर अलग-अलग घटनाओं से जोड़ना इतिहासकारों के लिए बहुत चुनौतीपूर्ण हो जाता है। जलवायु इतिहास लिखते समय इतिहासकारों के सामने एक और चुनौती होती है। वे सरल नियतिवाद के जाल में फँस सकते हैं- यह विचार कि जलवायु परिवर्तन ने मानव इतिहास को निर्धारित किया है। डेगोमर डेग्रूट का तर्क है कि जलवायु इतिहास की संभाव्य प्रकृति के कारण ही बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में जलवायु परिवर्तन और मानव इतिहास के बीच संबंधों के बारे में व्यापक धारणाएँ बनायी गयीं। इसका परिणाम यह हुआ कि इससे मुख्यधारा के इतिहासकारों और जलवायु परिवर्तन को समझने वाले विद्वानों के बीच दूरियाँ बढ़ने लगीं, क्योंकि इतिहासकार किसी भी प्रकार के नियतात्मक इतिहास के पक्षधर नहीं थे। लेखक इस तथ्य के प्रति आशावादी हैं कि हाल के वर्षों में जिस तरह इतिहासकारों ने वैज्ञानिक जलवायु पुनर्निर्माण डेटा और पुराने दस्तावेजों में मौसम की जानकारी को समझने के तरीकों का अधिक-से-अधिक उपयोग करना शुरू किया है, इसने उन्हें स्थानीय स्तर पर जलवायु परिवर्तन के परिणामों को ट्रैक करने की अनुमति दी है। वह इस बात की वकालत करते हैं कि इतिहासकार प्रकृति वैज्ञानिकों द्वारा किये गये वैज्ञानिक पुनर्निर्माणों पर निर्माण कर सकते हैं और उन्हें मानव इतिहास से इस

तरह से जोड़ सकते हैं जिससे भविष्य की हमारी समझ को समृद्ध किया जा सके।

पुस्तक में सात अध्याय हैं। प्रथम अध्याय सर्वेक्षण करता है कि 'लिटिल आइस एज' विश्व स्तर पर कैसा दिखता था। इसमें लेखक ने यह दिखाया है कि डच वाणिज्य को किस प्रकार प्रभावित किया, और जिससे नाविकों और व्यापारियों की अपनी दुनिया में आगे बढ़ने की क्षमता में बदलाव आया। उन्होंने तर्क दिया है कि जलवायु परिवर्तन ने कभी-कभी व्यापार और यात्रा को बाधित किया, लेकिन अक्सर विभिन्न प्रकार के डच व्यापार और यात्रा को इसने लाभान्वित भी किया। द्वितीय अध्याय में चर्चा है कि 'लिटिल आइस एज' ने एशिया के साथ व्यावसायिक संबंध स्थापित करने और बनाये रखने के डच प्रयासों को कैसे प्रभावित किया। जलवायु शीतलन के स्थानीय परिणामों ने एक निश्चित मार्ग को चिह्नित करने के प्रयासों को विफल तो किया, लेकिन इसने उन खोजों को भी जन्म दिया जिसने आर्कटिक की समझ को बदल दिया और एक आकर्षक लेकिन पारिस्थितिक रूप से विनाशकारी व्हेल उद्योग के विकास को प्रोत्साहित किया। इस अध्याय में डच और ईस्ट इंडिया कंपनी के मध्य प्रतिद्वंदिता को भी दर्शाया गया है। इसी अध्याय में लेखक ने यह भी दर्शाया है कि अटलांटिक महासागर के ऊपर वायुमंडलीय परिसंचरण में परिवर्तन ने जोखिम बढ़ा दिया, लेकिन इससे समुद्री बेड़ों की गति भी बढ़ी। तीसरे अध्याय की शुरुआत इस जाँच से होती है कि जलवायु परिवर्तन ने बाल्टिक सागर में डच वाणिज्य को कैसे प्रभावित किया। यह दिखाता है कि कैसे वैश्विक जलवायु परिवर्तन और क्षेत्रीय वातावरण के बीच जटिल संबंधों ने 'लिटिल आइस एज' के सबसे ठंडे दशकों के दौरान डचों को महत्त्वपूर्ण लाभ प्रदान किये। चतुर्थ अध्याय स्पेनिश साम्राज्य से स्वतंत्रता के लिए डच संघर्ष पर प्रकाश डालता है, जिसे अस्सी साल के युद्ध (1568-1648) के रूप में जाना जाता है। यह वर्णन करता है कि कैसे जलवायु शीतलन ने निम्न देशों के स्पेन के नियंत्रण में मौजूदा कमजोरियों को बढ़ा दिया और इस तरह 1568 में विद्रोह को भड़काने में मदद की। यह दिखाता है कि कैसे ठंडी, गीली और तूफानी परिस्थितियाँ, एक सर्द जलवायु के दौरान आमतौर पर मनुष्य के लिए मुश्किल भरी होती हैं। परंतु, इस तरह के मौसम ने आमतौर पर डच सैनिकों और नाविकों को महत्त्वपूर्ण लाभ पहुँचाये। पाँचवाँ अध्याय माउन्डर मिनिमम की शुरुआत के दौरान डच गणराज्य और उसके उभरते वाणिज्यिक प्रतियोगी इंग्लैंड के बीच शत्रुता की जाँच करता है। यह बताता है कि अंग्रेजी और डच नौसेना प्रणालियों के बीच महत्त्वपूर्ण अंतर ने प्रत्येक को जलवायु शीतलन और वायुमंडलीय परिसंचरण में इसके संबंधित परिवर्तनों के लिए अलग-अलग प्रतिक्रिया देने के लिए प्रेरित किया। पहले एंग्लो-डच युद्ध (1652-1654) में प्रचलित पश्चिमी हवाओं ने अंग्रेजी बेड़ों को महत्त्वपूर्ण लाभ प्रदान किया। फिर भी पूर्वी हवाएँ अधिक सामान्य हो गयीं क्योंकि माउंडर न्यूनतम गहरा हो गया, डच बेड़ों को लाभ हुआ, जिन्होंने अंग्रेजी रणनीति और प्रौद्योगिकी को अपनाया था। छठें अध्याय से पता चलता है कि डच गणतंत्र के कुछ नागरिकों ने जलवायु परिवर्तन के बारे में एक अस्पष्ट जागरूकता विकसित की है, जिसने संभवतः वाणिज्यिक और सैन्य रणनीतियों को सूचित किया और जिसका उद्देश्य इसके द्वारा आगामी अवसरों का फायदा उठाना हो सकता है। यह इस बात पर भी प्रकाश डालता है कि कैसे स्वर्ण युग की पेंटिंग कभी-कभी जलवायु परिवर्तन के वास्तविक परिणामों को दर्शाती हैं। सातवाँ एवं अंतिम अध्याय बताता है कि जलवायु परिवर्तन ने प्रौद्योगिकियों को किस प्रकार प्रभावित किया। इससे पता चलता है कि कई मानचित्रों और पैम्फलेटों में प्रतीकों ने आंशिक रूप से 'लिटिल आइस एज' के मौसम को दर्ज किया है। यह बताता है कि कैसे और क्यों डचों ने ऐसे तकनीकों का आविष्कार या कार्यान्वयन किया, जिससे उन्हें लिटिल आइस एज के सबसे ठंडे चरणों के बीच पनपने में मदद मिली।

विभिन्न अध्यायों में विभाजित यह पुस्तक मुख्य रूप से डच गणराज्य की बदली हुई जलवायु में सामाजिक और आर्थिक परिवर्तनों के इर्द-गिर्द घूमती है, परंतु साथ ही यह संकेत देती है कि विश्व के अन्य पूर्व-आधुनिककालीन शक्तिशाली राज्यों ने इन बदलावों पर किस प्रकार अपनी प्रतिक्रियाएँ दी एवं इसका सामना कर किस प्रकार इससे उबरे भी और भारत में मुगल साम्राज्य, जापान में तोकुगावा और चीन में मिंग और किंग राजवंशों ने मानसून की विफलताओं और विनाशकारी अकाल का अलग तरह से जवाब दिया। संभवतः वैश्विक परिदृश्य पर एक अलग अध्याय इस पुस्तक को और भी अधिक रोचक बना सकता था।

फिर भी यह पुस्तक सत्रहवीं शताब्दी को एक नया परिप्रेक्ष्य देने में कामयाब रही है। जिस प्रकार से इसमें जलवायु से संबंधित ऐतिहासिक साक्ष्यों के साथ-साथ समुद्री बेड़ों के दुर्लभ एवं अप्रयुक्त लॉग्स का प्रयोग किया गया है। इस पुस्तक की अनुसंधान क्रियाविधि यह भी दर्शाती है कि बीते शताब्दियों के दिलचस्प पर्यावरण इतिहास लिखने के लिए इतिहासकार, सोशल साइंटिस्ट और नैचरल साइंटिस्ट एक साथ कैसे आ सकते हैं। ❖❖❖

ऋतुजा का अनहद नाद

कैलाश मण्डलेकर

संपर्क :
15/16, कृष्णपुरम कॉलोनी,
जेल रोड, माता चौक,
खंडवा म.प्र. 450001
मोबाइल : 9425085085,
9425085855
Kailash.mandlekar@gmail.com

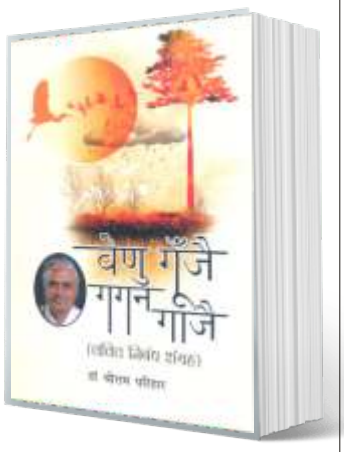

पुस्तक : वेणु गूँजै गगन गाजै
लेखक : डॉ. श्रीराम परिहार
प्रकाशक : राष्ट्रीय पुस्तक न्यास भारत
मूल्य : 220 रु.

हिंदी में ललित निबंध की सुदीर्घ परंपरा है, जो मुख्य रूप से आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, विद्यानिवास मिश्र तथा कुबेरनाथ राय आदि के विपुल लेखन से समृद्धतर होती चली गयी है। ललित निबंध के बारे में अज्ञेय जी कहते हैं कि कोई विशेष मनोदशा जब अपने को प्रकट करने के लिए कोई लीलाभाव अपनाये अथवा जब निबंध में प्रस्तुत की गयी वस्तु का चयन और नियोजन राग रंजित दृष्टि से किया जाए तभी कोई रचना लालित्य पूर्ण होती है और तभी निबंध को ललित निबंध कहा जाएगा। इन पंक्तियों के परिप्रेक्ष्य में देखा जाए तो डॉ. श्रीराम परिहार इसी परंपरा के ललित निबंधकार हैं। उनके निबंधों की आधार भूमि लोक संस्कृति से निर्मित होती है। लोक के भूले-बिसरे चित्र, स्मृतियाँ और शब्दावली उनके निबंधों में आत्यंतिक रूप से नुमाया होती है। लोकभाषा के वे शब्द और परंपराएँ जिनसे आम शहरी दूर होता जा रहा है तथा जिन्हें उपयोग करने में किंचित संकोच महसूस करता है। वह डॉ. परिहार के ललित निबंधों में पूरी धमक और अर्थवत्ता के साथ प्रकट होते हैं। उल्लेखनीय है कि 'वेणु गूँजै गगन गाजै' डॉ. श्रीराम परिहार का चौबीस ताजा निबंधों से सजा नया ललित निबंध संग्रह है जो नेशनल बुक ट्रस्ट से प्रकाशित है और ये निबंध इस बात को प्रमाणित करते हैं कि रागात्मकता और सौंदर्य दोनों ही ललित निबंध के प्राण तत्त्व हैं और इन्हें संजोये रखना ही ललित निबंधकार का दायित्व है।

डॉ. परिहार के निबंधों में प्रकृति, संस्कृति और मनुष्य के अंतर्संबंधों की विरल व्याख्याएँ हैं जिनके मार्फत वे, वर्तमान जीवन में उपस्थित गतिरोधों को समझने का प्रयास करते हैं। दरअसल, यह वह दौर है जब समूची मानव सभ्यता एक किस्म के सांस्कृतिक संकट का सामना कर रही है। यह संकट कई रूपों में दिखायी देता है या कई बार नहीं भी दिखायी देता। लेकिन वह है - भूमंडलीकरण और बाजारवाद ने न केवल हमारे संबंधों और आपसदारी को खंडित किया है बल्कि हमारे पुरुषार्थ के समक्ष भी अनेक चुनौतियाँ उपस्थित की हैं। आज का आदमी चाहे या अनचाहे एक ऐसी प्रतिस्पर्धा में धकेला जा रहा है जो स्वाभाविक नहीं है और जो उसका यथेष्ठ भी नहीं है पर वह विवश है। एक ललित निबंधकार के तौर पर डॉ. परिहार इस विवशता को समझते हैं। और यही कारण है कि उनके निबंधों में हमारे सांस्कृतिक जीवन- मूल्यों की हिफाजत की चिंताएँ प्रमुख रूप से दिखायी देती हैं।

लोक के प्रति परिहार की निष्ठा और प्रेम असंदिग्ध है। इस कृति की भूमिका में वे ललित निबंधकार होने का श्रेय अपने किसान पिता और माँ को देते हैं जो निरक्षर होने के बावजूद लोक के प्रति गहरी निष्ठा रखते हैं। माँ ने अपनी स्मृति में जिन लोक गीतों और लोक संस्कृति की विविध छवियों को बचाकर रखा था वही सब परिहार के ललित निबंधों के सृजन का प्रस्थान बिंदु है। पुस्तक की भूमिका में उन्होंने प्रेमचंद प्रसाद और हजारीप्रसाद द्विवेदी की विस्मृत होती जा रही सृजन परंपरा का भी जिक्र किया है साथ ही वे बाजारवाद से उपजी

अपसंस्कृति के प्रति गहरा क्षोभ प्रकट करते हैं। यहाँ भूमिका की ये पंक्तियाँ रेखांकित की जा सकती 'हमारे समय को नाना प्रकार के प्रदूषणों ने घेर रखा है। सबसे बड़ा प्रदूषण बाजार द्वारा फैलाया हुआ है : उसी से नानाविध प्रदुषणों का जन्म हुआ है। इसके कारण मनुष्य सहित सृष्टि के जीवों की प्राण वायु और संस्कृति दोनों पर संकट के बादल घिर आये हैं। भूमंडलीकरण की चुड़ैल की ठग क्रियाएँ बाजार की गलियों के ओर-छोर तक पसर रही हैं। बाजार की सारी चालबाजी व्यापार पर केंद्रित है। प्यार और व्यापार एक साथ नहीं निभ सकते।'

संग्रह के पहले निबंध का शीर्षक है -'लालित्य की संस्कृति' लालित्य संस्कृति के केंद्र में कला है। यहाँ कला और जीवन अथवा कला और मनुष्य को जोड़ते हुए डॉ. परिहार कला के अनेक आयामों की चर्चा करते हैं। कला वस्तुतः एकांगी नहीं होती उसकी बहुविध छवियों और माध्यम हैं, वह चिड़ियों के द्वारा बनाये गये घोसलों तक में अभिव्यक्त होती है। हमारा आधुनिकता बोध भले ही तकनीकी पर निर्भर हो लेकिन सृजन की संभावनाएँ फिर भी क्षीण नहीं होती। परिहार नयी पीढ़ी का आह्वान करते हुए मानते हैं कि तमाम आधुनिक संचार माध्यमों को कला के उत्स और प्रयोजन से जोड़ा जा सकता है। कला को लेकर निबंधकार की चिंताएँ हैं कि आदिवासी जन और लोक जीवन की कलाएँ बाजार की नुमाइश का शिकार हो रही हैं। वे सचेत करते हैं कि कला पारखी लोगों को जंगलों में भी जाना होगा जहाँ निसर्ग भी कला की अभ्यर्थना में संलग्न है। जरूरत उस दृष्टि की है जो कला को उसके अंतर्भूत और मौलिक सौंदर्य के साथ देख सके।

"संग्रह में सृष्टि के प्रथम संवाददाता देवर्षि नारद" और "चिदंबरम में नटराज" नामक निबंधों में क्रमशः नारद जी और भगवान् शिव की भाव भंगिमाओं तथा कल्याणकारी स्वरूप की अभ्यर्थना है। जबकि विज्ञान की चमक, आध्यात्म की धमक और साहित्य की महक भूमंडलीकरण का बाज और साहित्य संस्कृति की चिरैया तथा भाषाओं के 'आमकुंज में साहित्य की कोकिल' आदि निबंध अलहदा भावभूमि लिए हुए हैं। ओंकारेश्वर के मंदिरों का सांस्कृतिक सौष्ठव निसर्ग की सुषमा और मैनपाट का वैभव तथा जौनसार के सुरम्य संस्कृति शिखर इत्यादि निबंध शोध परक एवं यात्राधाम हैं। भाषा कहन और अंतर्वस्तु की दृष्टि से ये बहुत रोचक तथा अर्थपूर्ण हैं। इनमें नदी पहाड़, रास्ते और जंगल के वैशव को लेकर गंभीर विवेचन है।

'धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र', चिंतन परक निबंध है जिसमें भारतीयता और सौहार्द को लेकर बहुत गहरे विमर्श हैं तथा जातियों के बीच विषाद और वैमनस्य को लेकर चिंताएँ भी हैं। जीवन और संसार की रचना में द्वैत है और यह स्वाभाविक भी है। पर बड़ी बात यह है कि सकारात्मता से किसी भी द्वंव्द का सामना किया जा सकता है और समाधान भी यहीं मौजूद हैं। परिहार जी का मानना है कि हमारा सारा संत साहित्य प्राकारांतर से हर तरह के कुरुक्षेत्र को धर्मक्षेत्र में परिणत करने का अनुष्ठान और उपक्रम है। यह शताब्दियों से होता आया है। पावस और सर्जन नामक निबंध में पृथ्वी पर जल तत्त्व की महत्ता का गहन विवेचन है। यहाँ पावस ऋतु का बहुत लालित्यमय वर्णन है। जल के बिना जीवन संभव नहीं है। जल को जीवन का आदिस्रोत निरूपित करते हुए परिहार जी कहते हैं कि पावस और सर्जन दोनों में एक युक्ति संगत साम्य है। पावस में प्रकृति सृजनधर्मा हो जाती है। पावस की रसमीनी आर्द्रता सीधे-सीधे सृजन को प्रेरित और उत्फुल्लित करती है।

डॉ. परिहार यह मानते हैं कि साहित्य में खंड दृष्टि का कोई औचित्य नहीं है। जबकि वादों और मतों ने साहित्य को बाँट रखा है। निबंधकार की कामना है कि सर्जनात्मकता कल की प्रेरणा और कल के पथ को प्रशस्त करने में सहायक बने तथा पावस और मानव की सर्जनात्मकता दोनों ही श्रेष्ठता की रचना के पथ का पाथेय बने। प्रकृति और पुरुष की आदिम वसंत कथा भी मूलतः ऋतुधर्मी निबंध ही है। कथा शैली में लिखे गये इस निबंध में उल्लास और अंतरंगता के दुर्लभ बिंब हैं। निबंधकार बसंत को प्रेम की ऋतु कहते हैं। यह प्रकृति और पुरुष का प्रेम है। बसंत दरअसल प्रकृति और पुरुष के उद्दाम प्रेम की परिणति है। डॉ. श्रीराम परिहार कहते हैं- 'जब कभी आदिम प्रिया अनादि को बासंती गलियों में देखती है तो पलकों की टहनियों पर आँसू के फूल खिल जाते हैं।' ऐसी प्रेम पगी पंक्तियाँ ललित निबंधकार ही लिख सकते हैं। प्रेम दरअसल मनुष्य की आदिम लालसा है। उसे सभ्यताओं और मजहबों की सीमाओं में आँटा नहीं जा सकता। वह उन्मुक्त है। बल्कि बहुत गहरे

में प्रेम मुक्ति का ही पर्याय है। यही कारण है कि वह काल और अवधि के परे है। परिहार जी के शब्दों में कहें तो अनहद नाद से भी पुराना तथा पृथ्वी का पहला गीत इस आलेख में प्रेम और ऋतु की विरल व्याख्या है। आषाढ़ पूर्णिमा ज्ञान पंछी की चहक के केंद्र में गुरु माहात्म्य है। गुरु का तो अर्थ ही है जो अंधकार से मुक्ति प्रदान करे। डॉ. परिहार ने इस निबंध में विभिन्न काल अवधियों में गुरुजनों ने जिस तरह सामाजिक चेतना का विस्तार किया तथा मानवता के कल्याण के लिए सुदीर्घ विचार सरणि निर्मित की, वह अप्रतिम और अनुपमेय है। राम और कृष्ण जैसे मानवेतर युग पुरुषों के अवतरण को, निबंधकार गुरुश्रेष्ठों के पुरुषार्थ का ही प्रतिफल मानते हैं। मौसम अथवा ऋतुएँ ललित निबंधकारों को बहुधा सम्मोहित करते रहे हैं। हालाँकि आधुनिकता बोध और वस्तुवाद की गहमा-गहमी के चलते हमारा ऋतुबोध लगभग क्षीण होता जा रहा है, और यह दुःखदायी भी है, पर निबंधकार बार-बार ऋतुओं की स्मृति को सजीव करते हुए उसके शीतल ऊष्म मोहपाश की याद ताजा कर जाते हैं। शरद ऋतु पर लिखा गया यह निबंध इस दृष्टि से बहुत रोचक है। शरद को परिहार जी प्रकृति की किशोरावस्था कहते हैं। तुलसी ने उसे बरसात का बुढापा कहा है निस्संदेह शरद ऋतु मोहक है। यह फसलों के पकने का मौसम है और किसान के सपनों के साकार होने का भी।

परिहार जी के ऋतु धर्मी निबंधों की एक ख़ास बात यह भी है कि वे हर ऋतु को किसान के योगक्षेम से जोड़कर देखने के पक्षधर हैं और कदाचित यही उनके लोकधर्मी निबंधकार होने की प्रामाणिकता भी है। 'वेणु गूँजे गगन गाजे शब्द अनहद बोले' शीर्षक निबंध में भक्तिकालीन कवियों की प्रेमोपासना और काव्य सर्जना पर विशद चिंतन किया गया है। निबंधकार की चिंता यह है कि समय की टकराहटों और आधुनिक जीवन-मूल्यों ने हमारी चिंतन धारा को बहुत प्रभावित किया है। प्रेम की गहरी अनुभूतियों में देह की कोई जगह नहीं है, लेकिन नयी पीढ़ी के संस्कारों में देह की अनिवार्यता ही प्रेम का पर्याय है। डॉ. परिहार यह मानते हैं कि शताब्दियों तक हमारे सामाजिक जागरण में भक्त कवियों की अनन्य भूमिका रही है। भक्तिकालीन कविता में निजी और वैयक्तिक कुछ नहीं था, वह मूलतः सामाजिक जागरण की कविता है। यहाँ कबीर, तुलसी, मौरा तथा सूर आदि भक्तिकालीन कवियों के पदों की प्रासंगिकता और सरोकारों की रोचक व्याख्या की गयी है। वे बताते हैं कि 'वेणु गूँजे गगन गाजे' नामक पद मूलतः मराठी कवि नामदेव का है जिसकी अनुगूँजें अब भी विद्यमान हैं। जिन्होंने संत कवि नामदेव के अभंग सुने हैं, वे इसकी प्रामाणिकता को और बेहतर समझ सकते हैं। सच तो यह है कि जिसे हम युग की चेतना कहते हैं, वह सही अर्थों में भक्ति कालीन कविता में ही मुखर हुई है।

'संग्रह में सृष्टि के प्रथम संवाददाता देवर्षि नारद' और 'चिदंबरम में नटराज' नामक निबंधों में क्रमशः नारद जी और भगवान् शिव की भाव भंगिमाओं तथा कल्याणकारी स्वरूप की अभ्यर्थना है। जबकि विज्ञान की चमक, आध्यात्म की धमक और साहित्य की महक भूमंडलीकरण का बाज और साहित्य संस्कृति की चिरैया तथा भाषाओं के 'आमकुंज में साहित्य की कोकिल' आदि निबंध अलहदा भावभूमि लिये हुए हैं। ओंकारेश्वर के मंदिरों का सांस्कृतिक सौष्ठव निसर्ग की सुषमा और मैनपाट का वैभव तथा जौनसार के सुरम्य संस्कृति शिखर इत्यादि निबंध शोध परक एवं यात्राधाम हैं। भाषा कहन और अंतर्वस्तु की दृष्टि से ये बहुत रोचक तथा अर्थपूर्ण हैं। इनमें नदी पहाड़, रास्ते और जंगल के वैशव को लेकर गंभीर विवेचन है। अपने अनुभव से कहूँ तो ओंकारेश्वर सैकड़ों बार गया हूँ, पर स्थापत्य और संधान को लेकर डॉ. परिहार ने जिस मनोयोग से मंदिर के इतिवृत्त को उजागर किया है, वह पठनीय भी है और संग्रहणीय भी। यहाँ विस्तार भय से अनेक उल्लेखनीय प्रसंग छूटते जा रहे हैं, 'काल एक सत्य एक अनुभव' जैसे कतिपय निबंध में संदर्भों की वजह से गद्य की जटिलता दिखायी देती है जिन्हें पर्याप्त धैर्य से पढ़ने की जरूरत है। अंत में यही कहूँगा कि डॉ. परिहार के निबंध प्राचीनता और आधुनिकता के बीच एक प्रीतिकर सेतु निर्मित करते हैं। उनके पास भाषा और शिल्प का वह मुहावरा है जिसमें भारतीयता की माटी की महक और लोक वैभव की चित्ताकर्षक छवियाँ एक साथ साकार हैं। ❖❖❖

सतरंगी काव्य कला की सृष्टि

प्रो. कृष्ण गोपाल मिश्र

संपर्क :
प्रो. कृष्ण गोपाल मिश्र
विभागाध्यक्ष : हिंदी,
शासकीय नर्मदा महाविद्यालय
होशंगाबाद (म.प्र.)

अवधपुरी, भोपाल-462022 (म.प्र.)
मो. 9893189646

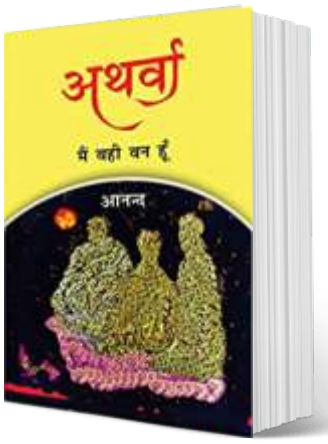

पुस्तक : अथर्वा
लेखक : आनंद कुमार सिंह
प्रकाशक : नयी किताब, नयी दिल्ली
पृष्ठ संख्या : 512
वर्ष : 2021
मूल्य : 495 रु.

'अग्निपुराण' के रचयिता ने कवि को काव्य-जगत का ब्रह्मा कहा है। पुराणकार के अनुसार अपार काव्य संसार में कवि ही प्रजापति (ब्रह्मा) है। उसको जैसा रुचिकर लगता है, वैसा ही काव्य विश्व वह रच देता है-

''अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः।
यथा वै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते।।''

(अनिपुराण - 339/10)

इस श्लोक में कवि की रचनात्मक स्वायत्तता और स्वतंत्रता की स्पष्ट स्वीकृति रेखांकनीय है। प्रत्येक रचनाकार का अपना परिवेश, अपना अध्ययन, अपना अनुभव-संसार, अपने संस्कार, अपनी रुचियाँ, अवधारणाएँ, मान्यताएँ और अपने आग्रह होते हैं। इनके विविधवर्णी सूत्र ही उसके सतरंगे काव्यलोग की सृष्टि करते हैं और इन्हीं आधारों पर एक कवि का काव्य दूसरे कवि के काव्य से भिन्न और नवीन होता है। काव्य और कला के विस्तृत क्षेत्र में नये प्रयोगों के द्वारा भी सत्य अनावृत्त होता है। यदि कवि-कलाकार को रचना-स्वातंत्र्य न मिले तो उसकी कला-सृष्टि में मौलिकता एवं नूतनता का समावेश संभव नहीं। प्रत्येक देश-काल में कवि-कलाकार अपने रचनात्मक- स्वातंत्र्य का उपयोग करते हुए नयी कलाकृति रचते रहे हैं और आज भी रच रहे हैं। डॉ. आनंद सिंह की प्रकाशित काव्यकृति 'अथर्वा' भी इस तथ्य की साक्षी है।

डॉ. आनंद सिंह अज्ञेय-साहित्य के सुधी अध्येता हैं। उनकी पूर्व प्रकाशित समीक्षा-कृति 'सन्नाटे का छंद' अज्ञेय-साहित्य पर लिखित महत्त्वपूर्ण रचना है। इससे स्पष्ट होता है कि डॉ. आनंद सिंह पर हिंदी-काव्य में प्रयोगवाद के प्रवर्तक अज्ञेय का गहरा प्रभाव है। अज्ञेय की प्रयोगशील काव्य परंपरा को नव-प्रवाह प्रदान करते हुए उन्होंने 'अथर्वा' के काव्य-शिल्प को नये आयाम दिये हैं। 'वस्तु' और 'शिल्प' दोनों स्तरों पर यह रचना अपनी प्रयोगधर्मी- प्रकृति का सशक्त परिचय देती है। इसकी प्रस्तुति गद्य-पद्यमयी है, किंतु यह

चंपू-काव्य नहीं है। इसमें कहीं गद्य की कथात्मकता एवं नाटकीय- संवादात्मकता है तो कहीं अतुकांत शैली की नयी कविता अथवा छंदबद्ध पारंपरिक कविता का रस-संसिक्त मोहक प्रवाह है; कहीं आवेगपूर्ण भाव-धाराओं की अति तीव्र गति है तो कहीं विचार के गंभीर आवर्त हैं; पाठक कहीं सुदूर अतीत के इतिहास-गह्वरों में विचरता हुआ सभ्यता की विकास-यात्रा का परिचय पाता है तो कहीं अद्यतन परिस्थितियों से साक्षात्कार करता हुआ विश्वमानव के मंगलमय भविष्य का स्वर्णिम-पथ अन्वेषित करता है। इसलिए यह रचना समकालीन युगीन-संदर्भों में महत्त्वपूर्ण होने के साथ-साथ विविध परिप्रेक्ष्यों में शाश्वत महत्त्व की भी है।

'अथर्वा' का रचना-विधान प्रबंध-काव्यात्मक है, किंतु इसकी प्रबंधात्मकता का स्वरूप पारस्परिक लक्षणों के रूढ़ि बंधनों से प्रायः मुक्त है और अनेक प्रयोगधर्मी नवीनताओं से युक्त है। बौद्ध धर्म-ग्रंथों एवं अन्य अनेक साहित्यिक-ऐतिहासिक ग्रंथों से सूत्र संजोकर डॉ. सिंह ने इस वृहत्काय प्रबंधकाव्य का कथानक रचा है जिसमें चीनी यात्री फाह्यान और ह्वेनसांग बौद्ध धर्म-ग्रंथों की दुर्लभ पांडुलिपियों की खोज में भारत आते हैं।

उनके माध्यम से सृष्टि की उत्पत्ति, विकास और विभिन्न परंपराओं का परिचय पाने का प्रयत्न करते हैं। 'हिरण्यगर्भ', 'वातायन', 'कुण्डलवन', ब्रह्मावर्त', 'स्त्रीसूक्त', 'तंत्रालोक', 'महाश्मशान', 'प्रति नारायण', 'लोपामुद्रा', 'मायादर्श', 'समुद्रकल्प', 'पृथ्वीसूक्त', 'अतिमानस', 'जम्बूद्वीप', 'आनंदवल्ली' और 'षोडशी' शीर्षकों में ग्रंथ की विषय वस्तु निबद्ध है। उपर्युक्त शीर्षकों को दो खंडो में वर्गीकृत किया गया है। खंड-एक 'पूर्वार्चिक' में 'हिरण्यगर्भ' से लेकर 'महाश्मशान' तक प्रारंभिक आठ शीर्षक हैं जबकि खंड- दो 'उत्तरार्चिक' में 'प्रति नारायण' से 'षोडशी' तक के आठ शीर्षक प्रस्तुत किये गये हैं। प्रत्येक शीर्षक को कवि ने 'पांडुलिपि' संज्ञा दी है जो प्रयोग एवं अर्थ की दृष्टि से सर्ग, कांड, प्रकरण, अध्याय आदि की समानार्थी है। जिस प्रकार 'रामायण' में प्रत्येक 'कांड' के अंतर्गत और 'महाभारत' में प्रत्येक 'पर्व' के अंतर्गत अनेक अध्यायों में निबद्ध कथा-विन्यास मिलता है। उसी प्रकार उपर्युक्त प्रत्येक शीर्षक में अन्य अनेक उपशीर्षकों की व्यवस्था की गयी है। प्रत्येक शीर्षक से पूर्व उसका कथा सूत्र 'इतिहास किशोर' और 'हिंदी शिशु' संज्ञक दो सूत्राधारों के कथन के रूप में गद्य में प्रस्तुत किया गया है। विभिन्न संबद्ध-असंबद्ध कथासूत्रों को एक साथ परस्पर संपृक्त किये जाने से कथानक जटिल बन गया है और प्रस्तुत अन्वितियाँ प्रायः बाधित हुई हैं। इसकी कथावस्तु को समझने के लिए विभिन्न धार्मिक-ऐतिहासिक परंपराओं की विशिष्ट समझ अपेक्षित है। हिंदी के साधारण पाठक के लिए इन कथासूत्रों के मर्म को समझ पाना सहज नहीं है।

प्रबंधकाव्यों की रीति पर इस रचना में भी बहुत से पात्रों का नामोल्लेख है, जो अपने भावों-विचारों की अभिव्यक्ति से इस कृति का कथा-कलेवर पुष्ट करते हैं। कवि के सनातन प्रतिकार्थ में 'अथर्वा' प्रमुख पात्र है। दीर्घतमाः, वृद्धक्षवाः, श्वेतकेतुः, मधुछन्दा, मातरिश्वा, अपाला आदि पात्रों के नाम वैदिक साहित्य से चयनित हैं। अब्राहम, वज्रविरोचन, महमूद गजनवी, औरंगजेब, वाजिद अली शाह, महात्मा गांधी आदि अनेक पात्र-संज्ञाएँ इतिहास से संबंधित हैं। डॉ. सिंह ने इनके कथनों के माध्यम से मानव सभ्यता पर इनके प्रभाव को परिलक्षित करने का यथासंभव प्रयत्न किया है। उसी में इनके व्यक्तित्व-कृतित्व की हल्की-सी झलक मिल जाती है। पात्रों के चारित्रिक वैशिष्ट्य को रेखांकित करने में कवि की रुचि प्रायः नहीं रही है।

भाव एवं विषय-बोध की व्यापकता के अनुरूप प्रयुक्त काव्यभाषा के प्रभाव ने इस रचना को अपूर्व उत्कर्ष प्रदान किया है। संस्कृतनिष्ठ तत्सम प्रधान शब्दावली में सन्निहित अलंकारिकता, बिंबात्मकता, प्रतीकात्मकता और लयात्मकता ने इस काव्यकृति के कलापक्ष को चारुतर बनाया है। उपमा के उचित प्रयोग इस कृति में स्पृहणीय हैं। इस संदर्भ में एक अंश निम्नवत द्रष्टव्य है-

'यह जीवंत इतिहास एक मरियल बैल-सा मुँह से झाग फेंकता-सा लगता है, हम कहीं सब कुछ से छूट न जाएँ। मुझे भय है अथर्वन् मुँह फाड़े व्याघ्र-सा यह दूसरा इतिहास हमें लील न ले, लील न ले कहीं'

डॉ. आनंद सिंह की इस काव्य-रचना का कथानक मुख्य रूप से 'उत्पाद्य' अर्थात् कल्पित कोटि का है। यद्यपि इसमें कथावस्तु बौद्ध धर्म ग्रंथों, इतिहास-साहित्यादि ग्रंथों से सूत्र रूप में चुने जाने और पात्रों के वैदिक-ऐतिहासिक स्रोतों से प्रतीक रूप में ग्रहण किये जाने से इसके कथानक में 'प्रख्यात' होने की गंध समाहित है किंतु, यह गंध अत्यंत विरल है और कथानक का अधिकतम अंश कवि-कल्पित है। इसलिए इसकी कथावस्तु 'उत्पाद्य' कोटि में मान्य होने योग्य है। प्रस्तुत काव्यकृति के प्रारंभ में डॉ. आनंद सिंह ने इस रचना के कथास्रोतों पर 'रचना प्रक्रिया और ऋण ज्ञापन' शीर्षक से लिखा है- ''पांडुलिपियों की कहानी गढ़ने में मैंने आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की कृति 'अनामदास का पोथा' जेम्स रेडफील्ड की 'सेलेशियल प्रोफेसी', अम्बेर्तो इको की 'द नेम ऑफ रोज' और खलील जिब्रान की कृति 'द प्रॉफेट' से सहायता ली है। कविता के भाषिक शिल्प पर प्रसाद, निराला, पंत, अज्ञेय, मुक्तिबोध और नरेश मेहता की शब्दावली मंडराती रहती है। सच्चिद्वेनन, तंत्रालोक, प्रतिनारायण और अतिमानस के शीर्षक क्रमशः मुक्तिबोध, अभिनवगुप्त, कुबेरनाथ राय तथा श्री अरविंद से उद्धृत हैं। कुंडलवन के अंतिम चार अंशों को रचने में वासुदेव शरण अग्रवाल की 'भारत सावित्री' से सहायता ली गयी है जबकि कृति की दार्शनिक उड़ान रचने में श्री अरविंद की 'सावित्री', प्रसाद जी की 'कामायनी' और दिनकर जी की 'उर्वशी' ही आदर्श रही है। पूरी कृति में इनकी प्रतिध्वनि मिलेगी...।'' डॉ. सिंह की इस ईमानदार स्वीकारोक्ति से स्पष्ट है कि विषय की दृष्टि से उनकी यह रचना अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रंथों की एकान्वित प्रस्तुति है, जिसे काव्य-सृजन की रेचन-विरेचन प्रक्रिया द्वारा रचा गया है। कथा-विस्तार की व्यापकता भी इसी ओर संकेत करती है। साथ ही यह डॉ. सिंह के अध्ययनशील स्वभाव और कठिन अध्यवसाय की भी साक्षी है। साहित्य, दर्शन, इतिहास और समाज के उलझे सूत्रों से ग्रंथित इस काव्यकृति की कथा किसी तपस्वी के जटिल जाल-सी है जिसे सुलझाने और समझने के लिए इस रचना के रचनाकार जैसा ही गहन-गंभीर अध्ययन अपेक्षित है। यह विशिष्ट पाठक की विशिष्ट निधि है। हिंदी का सामान्य पाठक वर्ग जो उपर्युक्त महत्त्वपूर्ण साहित्यिक-ऐतिहासिक कृतियों

से नितांत अपरिचित है, इस रचना का मर्म समझ पाने में कठिनाई अनुभव कर सकता है। तथापि कवि का यह सारस्वत-श्रम विशिष्ट बौद्धिक वर्ग के लिए तो निश्चय ही आनंदप्रद सिद्ध होगा, ऐसा मेरा विश्वास है। कृति अपने कृतिकार के व्यक्तित्व की छाया होती है, यह तथ्य भी इस ग्रंथ से प्रमाणित होता है। डॉ. सिंह का दार्शनिक व्यक्तित्व उसमें निहित अज्ञेय के प्रभाव की अज्ञेयता, बौद्ध-मान्यताओं और विश्वासों में उनकी रुचि और भारतवर्ष की समसामयिक राजनीतिक-सामाजिक स्थितियों के गंभीर प्रभावों की प्रतिछायाएँ - सबकी संयुक्त प्रस्तुति ने इस ग्रंथ को ऊर्जास्वित कर महत्त्वपूर्ण बनाया है।

लेखकों से मानव सभ्यता के इतिहास लेखन में सत्ता अधिष्ठानों पर प्रतिष्ठित शक्तिमंत इतिहास अपने हित में लिखवाते रहे हैं; बुद्धिजीवियों, कलावंतों और कवियों को पद-पुरस्कार देकर अपने पक्ष में करते रहे हैं। सामंतवादी राजतंत्र का युग बीत जाने के बाद आज भी सत्ता का स्वभाव अपरिवर्तित है।

''सिर्फ परकोटों और धान्यागारों
को भरने के लिए ही उपयोगी हैं इतिहास।
जन/शरण्य हैं कलाविद मात्र ताँबे की
कुल्हाड़ियाँ बनाने को।
एकमात्र बस, वे ही वे ही
मूल्यवान शरण्य हैं, न जाने।।''

'ताँबे की कुलहाड़ियाँ'-प्रयोग की व्यंजना युगीन विडंबना को दूर तक व्यक्त करती है। मानव-मनीषा एक स्वर से संसार के रचनाकार के रूप में एक ही ईश्वरीय शक्ति की कल्पना करती है। संसार के सभी धर्म और आस्तिक दर्शन उस अज्ञात परमसत्ता को मान्यता देते हैं किंतु धर्म का ढोंग रचने वाली धार्मिक विस्तारवादी दृष्टि आज भी धर्म के नाम पर रक्तपात करने, कुचक्र रचने में व्यस्त है। 'तद्वन संगीत' की निम्नांकित पंक्तियाँ युग जीवन के इस निर्मम सत्य को इन शब्दों में व्यक्त करती हैं-

'उस अविनाशी एक सत्य की अनेकांतता दली गयी है वहाँ धर्म का ढोंग किराये पर चलता है बहुत नहीं, पर वह चलता है।'

पांडुलिपि : ग्यारह के 'समुद्र कल्प' शीर्षक में 'धर्मचक्र' उपशीर्षक के अंतर्गत डॉ. आनंद सिंह ने अपने युग की परिस्थितियों का तथ्यपूर्ण विवेचन करते हुए बिना किसी पूर्वाग्रह ग्रस्त धर्मरूढ़ि में बंधे युक्तियुक्त संदेश देकर इस रचना को सार्थक बनाया है-

''भिक्खुओं, मत करो ध्यान पहर यह ठीक नहीं है
अभी भी दुखों में डूबी है पृथ्वी। इधर गांधार जनपद में अभी भी घटाटोप अंधेरा है। सब कुछ ठीक नहीं है फिलहाल यहाँ हवाएँ आतंक और घृणा की बन चुकी हैं हिंसक आँधियाँ

भिक्खुओं, प्रार्थना का समय बीतने लगा है।''

अपने युग की आतंकवादी हिंसक गतिविधियों के शमन में सद्भावों की सात्विक सुपदेशात्मकता की विफलता से व्यथित कवि क्षत्रियोचित भावोत्तेजना महाकवि दिनकर के स्वर में स्वर मिलाकर आपद्धर्म के रूप में युद्ध के लिए भी सन्नद्ध रहने, वीरभाव जाग्रत करने के लिए प्रबोधित करती है-

''फूँको मंत्र ज्वाल रसना से पढ़ो गगन तक भास्वर,
शौर्य रचो उज्ज्वल दिगंत तक ज्वाला लहराने दो!
बढ़ हिमाद्रि पर रखो चरण निभिर्य भूगोल दबाकर,
गढ़ो नया इतिहास सुलगने दो वाडा ज्वाला को
पंथ नामित हो दे देगा फिर एक बार रत्नाकर।''

'अथर्वा' की भावभूमि में वैचारिक-संपदा का वर्चस्व है। डॉ. सिंह ने यांत्रिक सभ्यता के संत्रास से मुक्ति के लिए पुनः प्रकृति की ओर लौटने का आग्रह किया है। पांडुलिपि : दो 'वातायन' शीर्षक में 'वीखस्या' के अंतर्गत रचित निम्नांकित पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं-

''ओ मेरी जननी वनदेवी
मैं तेरा शिशु तू फिर से मुझे जन;
फिर से लौटा दे मुझे
वनानियों के तृणगुल्म पथ...
ओ मेरी माँ शैलोदा वत्सला शैलझरा
तू अपनी धरा से मुझको भिगो
छू सकूँ तेरा मन
मुझे गोद में वनौषधि पिला
मेरी अंबा, कर तू प्रलय में सृजन!''

आडंबरों, पाखंडो और रूढ़ियों के मकड़ जाल में जकड़ा मनुष्य विकास नहीं कर सकता। विकास के लिए तर्कशील स्वतंत्र चेतना आवश्यक है। समकालीन समाज उपर्युक्त बंधनों में बंधकर, खंडित समूहों में विभक्त होकर संघर्षरत है। इस सनातन संघर्ष को शांत करने के लिए डॉ. आनंद सिंह स्वातंत्र्य एवं स्वायत्तता को महत्त्व देते हैं-

''उड़ती हुई चिड़ियों के पदचाप पड़ते नहीं हैं गगन में, खुले पंखों वाले तिरते हैं अपने अनुभव के बल से, सर्वथा अपने ही पथ पर अलग-अलग जीवन विहंगम बस, जीवन का सूत्र भी यही है।
कैद किया है हमने उसे, अपनी मूढ़ताओं के विपर्यय में, इसीलिए नहीं खिल सके हैं समूहजन!''

डॉ. आनंद सिंह मानवीय धरातल पर विश्व-बंधुत्व की संयोषक चेतना के संवाहक है किंतु उनकी राष्ट्रीय भावना विश्वस्तर पर व्याप्त सर्वग्रासी-युद्धोन्मादी मानसिक विकृति के समक्ष आत्मसमर्पण करने अथवा तथाकथित शांति की बलिवेदी पर अपनी राष्ट्रीय अस्मिता और सांस्कृतिक गौरव की बलि देने को प्रस्तुत नहीं है। पांडुलिपि चौदह में 'जम्बूद्वीप' के अंतर्गत प्रस्तुत 'चिन्मय भारत' में उनकी राष्ट्रीय भावना का यह स्वरूप प्रभावपूर्ण ढंग से प्रकट हुआ है। भारत के स्वरूप-वर्णन और उसके भावी नेतृत्व के संदर्भ में प्रस्तुत कवि-दृष्टि अत्यंत महत्त्व की है- भारत का निम्नांकित वर्णन

''भारत महा ज्योति भूमा है, सीमाबद्ध नहीं है,

सूक्ष्म चेतना है विराट मंगल की;
ऊर्जा द्रव से बनी हुई इसकी सीमाएँ
भूमण्डल पर प्रसरित,
भारत एक प्रतीक देश है जिसका सृजन-विसर्जन आत्माओं के कर्मपंथ को खोल दिया करता है...''

भारतवर्ष के भावी नेतृत्व को रेखांकित करती निम्नांकित पंक्तियाँ भी इन्हीं भावों से समृद्ध हैं-

''आगे चलकर नये राष्ट्र जो भी नेतृत्व करेंगे, भारतवंशी होंगे वे चेतना और प्रतिभा में,

मिलकर वे ही खोज सकेंगे नये राष्ट्र को फिर से पुनः जगाकर भारत को अवभृथ स्नान करेंगे।''

'अथर्वा' की कथा में वैदिक, बौद्ध आदि दार्शनिक परंपराओं की विविध धाराएँ साथ-साथ प्रवाहित हुई हैं। उपनिषद की मान्यता है कि उसी परमात्मा का प्रकाश सर्वत्र व्याप्त है- 'न तत्र सूर्यो भाति, न चंद्र तारकम्...तस्य भासा सर्वमिदम् विभाति' - यही दृष्टि 'केवल मैं' शीर्षक में व्याप्त हुई है-

''जहाँ न पथ है न विपथ
जहाँ न काल है न व्योम
जहाँ न विस्मय है न स्फुरण
जहाँ न गति है न प्रकाश
जहाँ न जल है न वैश्वानर...
वाक् का शृंगार उद्गीथ प्रणव
मानस वन में अस्पर्श नाद भरता
मैं वही वन हूँ!''

इसी शीर्षक में 'श्रीमद्भगवत गीता' में वर्णित विराट रूप के दर्शन में श्रीकृष्ण के आत्म परिचय का प्रभाव ध्वनित हुआ है। निम्नांकित पंक्तियाँ इस तथ्य की परिचायक हैं-

''मैं निद्रा मैं ध्यान मैं करुणा मैं काव्य
मैं अमृत और हलाहल
मैं वैवस्वत यम मैं समुद्र और मंदराचल
मैं रत्न और राशि मैं योजक और गोप्ता
मैं यज्ञ मैं होता मैं मंत्र मैं फल...''

अन्य दार्शनिक अवधारणाओं की प्रस्तुति ने भी इस काव्यकृति को समृद्ध किया है। रचना का समापन अंश संस्कृत काव्यों की परंपरा के अनुरूप मंगल कामनाओं की अभिव्यक्ति से हुआ है। कवि की मंगलभावना का समुत्कर्ष देखते ही बनता है-

''वाणिज्य के छल-छंद शांत हों,
बुद्धि का विकास हो
धर्म है प्रकृति की चेतना
उसी की जय हो...
वसुधा प्रतिक्षण शांत हो
सभ्यता-संस्कृति-प्रकृति के सुमेल से
बढ़े जगमंगल/अचल हो!''

भाव एवं विषय-बोध की व्यापकता के अनुरूप प्रयुक्त काव्यभाषा के प्रभाव ने इस रचना को अपूर्व उत्कर्ष प्रदान किया है। संस्कृतनिष्ठ तत्सम प्रधान शब्दावली में सन्निहित अलंकारिकता, बिंबात्मकता, प्रतीकात्मकता और लयात्मकता ने इस काव्यकृति के कलापक्ष को चारुतर बनाया है। उपमा के उचित प्रयोग इस कृति में स्पृहणीय हैं। इस संदर्भ में एक अंश निम्नवत द्रष्टव्य है-

''...यह जीवंत इतिहास एक मरियल बैल-सा मुँह से झाग फेंकता-सा लगता है हम कहीं सब कुछ से छूट न जाएँ। मुझे भय है अथर्वन् मुँह फाड़े व्याघ्र-सा यह दूसरा इतिहास हमें लील न ले, लील न ले कहीं...''

इस अकेले अंश में 'बैल-सा' और 'व्याघ्र-सा' प्रयोग सार्थक अपमान चयन के कौशल का निदर्शन करते हैं तो इनमें अंतर्निहित प्रतीकात्मकता भी प्रभावित करती है। शब्दों के माध्यम से प्रस्तुत चित्रात्मकता दृश्यात्मक बिंबों की सृष्टि में सफल हुई है। 'लील न ले, लील न ले कहीं' में एक ओर 'भय' संचारी भाव प्रकटन हुआ है तो इन वर्णों में प्रस्तुत अनुप्रासिकता भी स्पृहणीय है। पुनरूक्ति प्रकाश अलंकार भी इन पंक्तियों में दृष्टव्य है। निम्नांकित पंक्ति में अनुप्रास अलंकार और नाद-बिंब की संयुक्त प्रस्तुति अपूर्व बन पड़ी है-

''डमड् डमड् डम् डम्...
डमड् डमड् डम् डम् ...

निम्नांकित पंक्तियों में छांदसिकता, वर्ण बिंबात्मकता, मानवीकरण की अलंकारिता डॉ. सिंह की काव्य प्रतिभा की उत्तम साक्षी है-

''सोने के रस से दिन पीले
रात चाँदनी भर लाती है
कर देती है देह रूपहली
छाया में आकाश पनपता
साँस छोड़ती सौरभ गीले...
ताक रही है मुझे अकेली
चिड़िया खोले अपनी पाँखें
कहती जैसे-
तू भी मुक्त गगन में जी ले!

जहाँ उपर्युक्त पंक्तियों में गीतात्मकता संवलित पद्य का चरम सौंदर्य व्यक्त हुआ है, वहीं इस रचना की निम्नांकित गद्य पंक्तियाँ कथा का आनंद प्रदान करती हैं-

''वही ह्वेनसांग का आज दोपहर का कलेवा था जिसे खाकर वह दोपहरी में खुले आसमान के नीचे एक लकड़ी की चौकी पर जिस पर मुंजवंत की सूखी घास के ऊपर कौशेय चादर बिछा दी गयी थी उसी पर बहुत थोड़ी देर के लिए उठंग रहा था।...

इस प्रकार भाव, विषय और शिल्प की दृष्टि से यह रचना सर्वथा नवीन प्रयोग है। डॉ. आनंद सिंह की प्रयोगोन्मुखी रचना-चेतना ने इसे अधिकाधिक प्रभाव संपन्न बनाने के लिए सर्वोत्तम प्रयत्न किये हैं।

❖❖❖

उजास अस्मिता का 'लोक' तंत्र

आदित्य कुमार गिरि

संपर्क :
24 परगना (दक्षिण)
कोलकाता, पश्चिम बंगाल

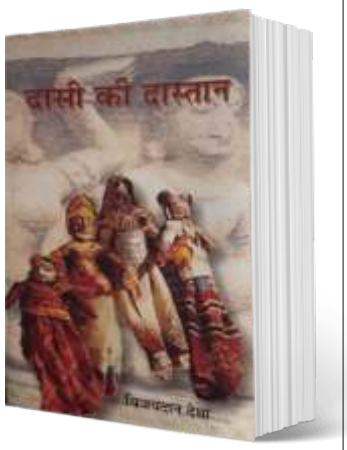

पुस्तक : दासी की दास्तान
लेखक : विजयदान देथा
प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ
वर्ष : 2011
मूल्य : 390 रु.

लोक और शास्त्र का द्वंद्व हमेशा चलता रहता है। इस द्वंद्व में लोक, शास्त्र के बरअक्स अपने विरोध को दर्ज करता है। असल में कोई भी अस्मिता अपने स्वभाव के विपरीत व्यवहार मिलने पर विद्रोही हो जाती है। इस विद्रोह के पहले सहनशीलता की एक यात्रा होती है। यह सहनशीलता जब सीमा पार कर जाती है तब ही लोक का विद्रोह फलित होता है। यह विद्रोह किसी सभ्य सांस्कृतिक समाज में सांस्कृतिक तौर पर ही प्रकट होता है। यह कभी-कभी नृत्य, गान, चुटकुलों और चित्रकला के माध्यम से प्रकट होता है।

असल में शास्त्र और लोक के द्वंद्व में लोक के विरोध का तरीका नागरी तरीकों से भिन्न होता है। वह कई बार बल्कि हमेशा एक प्रतीकात्मक और व्यंग्यात्मक रूप लिये होता है। चूँकि लोक को, शास्त्र सम्मत अध्ययन-अध्यापनों से दूर रखा जाता है और इसी कारण वह उससे भिन्न भाषा में निर्मित होता है और दूसरे शायद इसी कारण उसका समूचा शिल्प शास्त्र के शोषण के विरुद्ध खड़ा होता है। अतः वह अव्यवस्थित और बिखरा-सा होता है। शास्त्र से एकदम विपरीत और उसी की व्यवस्था की बायनरी में समाजशास्त्री बद्री नारायण इस अव्यवस्था और बिखराव को लोक के प्रतिरोध की अनिवार्य शर्त मानते हैं क्योंकि, लोक, शास्त्र के विरुद्ध ही संरचना प्राप्त करता है। असल में ऐसा प्रतिरोध जनसमूह की मानसिक अभिव्यक्ति होने के कारण अव्यवस्थित एवं अनिश्चित होता है। मानसिकता के विभिन्न धरातलों पर छुपे हुए प्रतिरोध विभिन्न रूपों में अपने को अभिव्यक्त करते हैं। कई बार तो मुहावरें, लोकोक्तियाँ, लोक कथाएँ, लोकस्मृतियाँ, इनके संवहन का माध्यम बनते हैं।

लोक संस्कृति में प्रतिरोध :

असल में लोक साहित्य मनोरंजन का साहित्य होता ही नहीं, जैसा कि आधुनिक समाजों में समझा जाता है बल्कि यह प्रतिरोध का सशक्त माध्यम होता है, जिसके मूल में शोषणमूलक प्रवृतियों के विरुद्ध मुक्ति की कामना होती है। बद्री नारायण लिखते हैं- प्रतिरोध की संस्कृति भी होती है। प्रतिरोध की संस्कृति बोलती भी है और चुप भी रहती है। प्रतिरोध की बोलती संस्कृति के अनेक रूप होते हैं, तो चुप संस्कृति के भी सहस्र रूप। प्रतिरोध के इन दोनों रूपों की आविष्कृति हम जन सामान्य के व्यवहार के प्रतिदिन के स्वरूपों में कर सकते हैं। इतिहास जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में महान अज्ञातों की तलाश करता है।

विजयदान देथा ने लोक कथाओं को प्रतिरोध के शस्त्र के रूप में इस्तेमाल किया है। वे लोककथाओं के संचयक या संग्राहक ही नहीं थे, बल्कि उनका पुनर्सृजन करके सभ्यताओं के जटिल आवरण में एक प्रतिरोधात्मक हस्तक्षेप भी करते थे। उन्होंने इन कहानियों पर पड़ी वक्त की धूल-गर्द छांटी, उन्हें समकालीनता के शीशे से तराशा और अपनी कल्पनाशील कलम का ऐसा स्पर्श दिया कि वे कहानियाँ जादू जैसी बन गयीं। उनकी बारीक दृष्टि ने इन कहानियों में छुपा वह जनपक्षीय तत्त्व खोजा जो राजा की हेकड़ी को अँगूठा दिखाता है और गड़रिये की फकीरी को सलाम करता है। उनकी कहानी का भांड साधु का रूप धरकर एक सेठ को इस तरह मोह लेता है कि वह अपनी पूरी संपत्ति साधु के नाम कर देता है, लेकिन इस मौके पर भांड अपने असली रूप में आ जाता है और गाल बजाता हुआ कहता है कि, यह रिजक की मर्यादा के विरुद्ध है। यह कंगाली की वह बादशाहत है जो

आखिरकार अत्याचारी राजा और उसके साले के खात्मे का जरिया बनती है। बिज्जी जैसी पारदर्शी आँख ही किसी सियारिन के भीतर दुनिया की सुंदरतम स्त्री जैसा गुरुर देख सकती है और किसी सियार में एक ऐसे गर्वीले प्रेमी का अभिमान जो सूरज और चाँद से लड़ने को तैयार हो जाए। सियारिन प्यास बुझाने झील किनारे जाती है तो रात में चाँद और दिन में सूरज की परछाई देख उसे पराए मर्द की अशिष्टता बताती है। अपने शील अपने सत को लेकर वह इतनी सजग है कि उसे धूप और हवा का पर भी नहीं सुहाता।'

'दासी की दास्तान' पुस्तक में उनकी सात कहानियाँ हैं। ये सातों की सात कहानियाँ सात लोक कथाओं का परिमार्जित और पुनर्सृजित रूप हैं। बिज्जी ने सामंती समाजों में पल रहे हेरारिकी और शोषण को अपनी कहानियों के मजबूत कलेवर से डिकोड किया है। इस संग्रह की विशेषता यह है कि इसकी सारी कहानियाँ प्रेम कहानियाँ हैं और सबकी सब स्त्री पात्रों की प्रमुखता को लिए हुये हुए हैं। इन कहानियों को पढ़ते हुए एक सरल सहजता का बोध होता है, ऐसा लगता है कि जीवन को देख या समझ रहे हैं। असल में यह स्वाभाविकता ही बिज्जी का पुनर्सृजन है। वे लोककथाओं को इस तरह समायोजित करते हैं कि लगता है समूचा कलेवर स्वाभाविक है जबकि कथानकों का संपूर्ण आधार सामंती समाज से लिया हुआ है अर्थात् सामंती समाजों में स्त्री मात्र एक वस्तु होती है फिर उनकी मुख्यता स्वाभाविक कैसे हो सकती है। लेकिन बिज्जी की कहानियों का कथानक स्वाभाविक लगता है और उनमें दर्शाये गये स्त्री चरित्र बलशाली। यही उनका प्रभाव है जो लोककथाओं को अपना 'टच' देता है। कहने का आशय यह है कि उनकी कहानियों में स्त्री पात्रों की सशक्तता निर्मित या थोपी हुई नहीं लगती बल्कि भारतीय लोक जीवन की स्वाभाविक जीवनशैली का अंग लगती है। 'उपाय' की मूमना हो या 'मरवण' की मरवण इनके सामने पुरुष पात्र बेतरह पनाह माँगते दिखते हैं। मरवण को तो उसके पिता अपना गुरु तक कह देते हैं क्योंकि वह उनके भीतर के हिंसक, लोभी सामंत को सद्भावनायुक्त कर देती है। वे कहते हैं ''पहले मुझे भी अन्य राजाओं की तरह लूट-खसोट की बेहद लालसा रहती थी, लेकिन रानी की बारंबार सीख और उसकी संगति से मेरे कई हिंसक एवं बर्बर नखदंत झड़ गये। यों कहने को तो मरवण मेरी बिटिया है, परंतु उससे बड़ा गुरु मुझे आज दिन तक कोई नहीं मिला। न तो उसने शब्दों के द्वारा मुझे कुछ सिखाया और न मैंने कुछ सुना।''

ऐसी ही उनकी कहानी 'उपाय' में मूमना का चरित्र भी ध्यान खींचता है। वह अपनी सूझ-बूझ के लिए दूर-दूर तक प्रसिद्ध है। सिंध के नवाब तो सारा राज-पाट ही उसकी सूझ-बूझ से चलाते हैं। वहीं 'थटाभखर' के बादशाह का भांजा जलाल जो हर तरह के पौरुष गुण से सराबोर है लेकिन मूमना के आगे नतमस्तक हो जाता है। ठीक मरवण की तरह मूमना का भी पुरुष पात्रों पर गुणात्मक प्रभाव पड़ता है। जलाल कहता है- 'यहाँ की हवा और तुम्हारे अनोखे स्वभाव का मुझ पर ऐसा जादू हुआ कि उसे बयान करने के लायक मेरे पास शब्द नहीं हैं। एक ही काया में मुझे दूसरा जन्म मिला। पारस पत्थर के छूने से सोना बनने का करिश्मा तो बचपन से सुनता आ रहा हूँ, लेकिन आँखों से रू-ब-रु देखा नहीं। मगर किसी की संगति से कौआ, हंस क्यों बन जाता है, मेरे साथ हू-ब-हू यही बीती है। तुम्हें कभी ऐतबार नहीं होगा कि यहाँ आने से पहले मैं कैसा बर्बर था। मुझे भी मुश्किल से विश्वास हुआ। पति के अधिकार से मैं तुम पर कभी आधिपत्य नहीं जमाऊँगा। जैसी तुम्हारी इच्छा होगी, उतने ही कदम भरूँगा।'

'अनदेखा-अन्तस' की जसमा के रूप पर पाटन का राजा ऐसा मुग्ध होता है कि उसके आगे राज-पाट भी न्यौछावर करने को तैयार हो जाता है। वह अपनी सारी रानियों को जसमा की दासी बनाने को भी प्रस्तुत है। लेकिन, जसमा उसके हर प्रलोभन के इतर अपने 'सत्य' पर टिकी रहती है। वह अपनी बातचीत में राजा को प्रेम का मर्म भी समझाती है। उसके स्त्री को भोगने की प्रवृति पर व्यंग्य भी करती है। राजा अपने प्रेम प्रस्ताव में उसे अपनी हैसियत की धौंस दिखाता है। उसे लगता है जसमा एक देह है, जिसे हैसियत की धौंस से अपनी ओर खींचा जा सकता है, लेकिन जसमा उसे फटकारते हुए कहती है- 'मेरे ख्याल से राजा तो रानियों से बढ़कर ही होता है। जब वह एक भिखारी के उन्मान मुझ जैसी औरत के पीछे-पीछे लार टपकाता है, तब उसकी शान नहीं घटती? ऐसी दोगली मर्यादा से राजा का काम चल सकता है, हम ओडो का नहीं चलता। कल मेरी पीठ देखने से ही तुम बेहोश हो गये थे, तभी मुझे अनुमान हो गया कि पाटन के राजा को मेरे तलवे चाटने में कतई आनाकानी नहीं होगी।'

सबसे आश्चर्य तो तब होता है जब जसमा का पति यह जानकर कि पाटन के राजा उसकी पत्नी का प्रेम प्रस्ताव लेकर आये हैं। कहता है- 'कोई बात नहीं। प्रीत

करना बुरा नहीं है।'

आगे यह सुनकर कि वे जसमा के लिए अपना आधा राज-पाट भी देने को तैयार हैं। कहता है- 'यह बुरी बात है। प्रीत के बदले भाव-ताव तो वेश्याओं से किया जाता है। प्रेम तो बदले में निखालिस प्रेम की ही माँग करता है। तू इनसे प्रेम करे तो मुझे एतराज नहीं होना चाहिए। यह बहुत बेजा बात है।'

स्त्री के लिए पति का ऐसा रवैया सामंती परिवेश तो बहुत दूर आधुनिक काल की स्त्रियों के लिए भी स्वप्न सरीखा है। बिज्जी की स्त्रियों के इर्द-गिर्द बंधन या रोक-टोक का बूँद भर भी निशान नहीं है। वे स्वतंत्र हैं, उनका सार्वजनिक जीवन है जहाँ वे खुद ही फैसले लेती हैं, बर्ताव करती हैं, जीती हैं। उनके यहाँ पुरुष सिर्फ साथी हैं, उनके पति या मालिक नहीं। स्त्रियाँ भी मात्र स्वाभिमानी, तेज तर्रार और प्रेम पर न्यौछावर होने वाली होती हैं। वे एक गरीब मजदूर की पत्नी होकर रह सकती हैं क्योंकि वह उन्हें टूटकर चाहता है, उनके अस्तित्व को बिना किसी हस्तक्षेप के स्वीकार करता है, लेकिन ऐसे राज-पाट को भी अस्वीकार कर देती है जहाँ इंसान की जगह देह है, वस्तु है, सिर्फ काम-वासना के लिए उपयोगितावादी दृष्टि से देखी-माँगी गयी वस्तु है। जसमा, पाटन के राजा को सुनाकर व्यंग्य में कहती है- 'ऐसे लिजलिजे आदमी की प्रीत मात्र रानियों और बांदियों के भाग्य में ही लिखी होती हैं। इस तरह के राजा या महाराजा से प्रीत करने की खातिर मेरी गधी भी तीन बार सोचेगी... तीन बार। दुनिया की किसी औरत को माँगने वाली प्रीत सपने में भी नहीं सुहाती। प्रीत करे तो रिरियाने की दरकार ही कहाँ है। भले ही वह राजा हो चाहे अखूट मायापति। सच पूछिए तो मुझे बेचारी रानियों और बांदियों पर तरस आता है कि उन्हें एक ढुलमुल राव-उमरावों से मुहब्बत करनी पड़ती है।'

ऐसी स्त्रियाँ नागर साहित्य में दुर्लभ हैं, वह इसलिए क्योंकि वहाँ की नैतिकता गढ़ी और निर्मित है। बिज्जी की कहानियों में ऐसा बेलौस आत्मविश्वास अपने मूल स्वभाव के जुड़ाव से आता है। लोक की संस्कृति बंधन से मुक्त होती है। वहाँ वासना नहीं, शोषण नहीं, वहाँ तो सिर्फ मुक्ति होती है। एक स्वतंत्र अस्तित्व की स्वीकार्यता जिसे किसी भी प्रकार के प्रलोभन या नागरी सभ्यताओं की चमक-दमक से दबाया नहीं जा सकता। लोक का संपूर्ण जेस्चर ऐसे ही संवादों में काम करता है। उसका विरोध इसी तरह प्रतिपक्ष के निर्माण के द्वारा कार्य करता है। कुछ-कुछ सूर के 'भ्रमर गीत' की तरह। वहाँ भी गोपियाँ नागर सभ्यता के प्रतीक उद्धव को कोसती हैं, टोकती हैं, उलाहने देती हैं और फिर 'बदल' देती हैं। स्त्रियों का संसार अतरंगा होता है। वह स्वभावतः लोकतांत्रिक होता है। उनका समूचा जीवन 'स्वतः' को 'टूल' की तरह इस्तेमाल करता है। वे जबरन प्रेम में विश्वास नहीं करतीं। वे पुरुषवाद से भिन्न संरचना को लिए होती हैं। उनका समाज जब बनेगा वह स्वतःस्फूर्त होगा। वहाँ हायरार्की नहीं होगी, छोटे-बड़े का भेद नहीं होगा। कोई शोषण नहीं होगा, कोई दमन नहीं होगा। सबको बराबरी का अवसर होगा जहाँ अपनी कुंठाओं के वहन के लिए किसी की हत्या, किसी के दमन की जरूरत नहीं होगी। पुंसवादी समाज में स्त्री की रोज-रोज हत्या होती है और यह सिर्फ और सिर्फ पुरुष के अहम् की तुष्टि के लिए। इसलिए स्त्रियों का लोकतंत्र अगर कभी बना तो बंधन मुक्त, शोषण मुक्त, भेदमुक्त होगा।

बिज्जी ने ऐसे समाजों की नींव में प्रेम को बड़ा कारक माना है। इस संग्रह की सातों कहानियों में प्रेम को 'टूल' की तरह इस्तेमाल किया है। प्रेम से बड़े-बड़े सामंत, बड़े-बड़े राजा, बड़े-बड़े बादशाह बदल जाते हैं। अपनी हिंसक मनोवृति को छोड़ एक भीतरी उजास से भर जाते हैं। बिज्जी की स्त्रियाँ इतनी सशक्त और भीतरी उजास से ओत-प्रोत हैं कि उनके दर्शन मात्र से रूपांतरण घट जाता है। स्त्री पात्रों को सायास कुछ करना नहीं पड़ता, बल्कि उनकी उपस्थिति मात्र से सब कुछ सुखद हो जाता है। फिर वही बात कि स्त्री का लोकतंत्र कभी जबरन गठित नहीं होगा। वह जब बनेगा सहमति से, स्वतंत्रता से विकसित होगा। 'दासी की दास्तान' हो या 'संजोग' या फिर 'भरम' की मूमल। मूमल के सौंदर्य की आँच में महेंद्र जैसा जन्म-जन्म का भूखा, नित नवीन की तलाश में भोग करता व्यक्ति भी बँध जाता है। उसकी नये-नये की खोज की सारी क्षुधा मूमल के सौंदर्य को देखकर शांत हो जाती है। लेकिन, मूमल की प्रेम की शर्त पर वह खरा नहीं उतरता इसलिए उसे 'रिजेक्शन' मिलती है।

सामंती समाज में स्त्री वस्तु होती है। वह पुरुष की भोग्या और देहमात्र होती है, लेकिन बिज्जी की स्त्री, पुरुष को रिजेक्ट करती है। महेंद्र द्वारा मूमल को 'छिनाल' कहना मूमल को महेंद्र के प्रति घृणा से भर देता है और वह मुँह फेर लेती है। अपने प्रेमी की प्रतीक्षा में सदियों से पलकें बिछायी स्त्री में प्रेम के उदात्त के प्रति अडिगता के साथ ही स्त्री के 'स्व' और 'स्वाभिमान' के प्रतीक का भी अंकन किया गया है। बिज्जी की कहानियों में स्त्री ऐसे पुरुष को कभी क्षमा नहीं कर सकती

जो उसके प्रति सम्मान का भाव न रखता हो। वह वस्तु नहीं, एक अस्मिता है और उसकी अस्मिता के प्रति बराबरी की भावना न रखने वाले के लिए उसके पास एक बड़ी 'ना' है। महेंद्र की बाह्य आकृति को देख उसे जो प्रेम का भरम हुआ था, वह पल भर में जाता रहा और वह किसी अजनबी की तरह उससे मुँह मोड़ लेती है। गुलाब कहती है- 'नयी-नयी खोज के उछाह में हजरत ने सात बार ब्याह रचाया और यह नया नजारा देखते ही आँखों में अंगारे दहक उठे? चुपचाप सीढ़ियाँ उतरकर अमरकोट की राह पकड़ने में ही खैरियत है, वरना ये निरीह भुजाएँ दूसरों की देह पर ही नजर आएँगी।'

प्रेम में इस प्रतीक्षा को इंगित करती हुई संग्रह की एक अन्य कहानी 'हिम-समाधि' में और स्पष्टता दी गयी है। जहाँ सैणी-बैणी अपने प्रेमी बीजानंद की प्रतीक्षा में प्राण-त्याग देती हैं लेकिन किसी और से नहीं जुड़तीं। ठीक वैसे ही जैसे मूमल सदियों से एक उचित पात्र की प्रतीक्षा करती है, उसकी शर्तों पर खरा न उतरने के कारण वह कई पुरुषों को रिजेक्ट कर चुकी है। यह जानते हुए कि ऐसा करते-करते उसे अंततः अकेला भी रहना पड़ सकता है लेकिन वह पुंसवादी पुरुषों को स्वीकाने को प्रस्तुत नहीं। असल में मूमल आधुनिक स्त्री का प्रतीक है। वह किसी के भी साथ रह लेने को प्रस्तुत नहीं। उसे वही पुरुष वरण कर सकता है जो उचित तरीके से, उसके साथ रह सके, जिसमें पात्रता हो। महेंद्र भी मूमल की तरह अछूता होता और स्त्री के प्रति सम्मानजनक नजरिया रखता तो वह जरूर उस योग्य हो सकता था लेकिन वह भी आम पुंसवादी पुरुषों की तरह स्त्री को भोग्या समझता है और मूमल ऐसे पुरुषों को देखना तक नहीं चाहती। असल में प्रेम में प्रतीक्षा का बहुत महत्त्व होता है। जो व्यक्ति प्रेम के सागर की कामना करता है उसे सागर के मिलने तक खोज करना चाहिए। उसके प्रेम की पवित्रता ही प्रतीक्षा में घटित होती है। अगर कोई व्यक्ति प्रतीक्षा नहीं कर सकता तो वह प्रेमी नहीं भोगी है।

कहने का आशय है कि विजयदान देथा का कथा-संसार स्त्री के लिए लोकतंत्र की तलाश करता है। वह अपने स्त्री पात्रों को स्वाभाविकता में रचकर असल में एक बायनरी बनाता है जो यथार्थ समाज का विलोम रचता है। यथार्थ इतना भद्दा है कि बिज्जी के कथा-संसार में उसकी बायनरी एक एब्सर्ड बनाती है। पाठक जो रियल में जीता है वह बिज्जी की कहानियों में एक जीवंत समाज देखकर अपनी वर्तमान स्थिति के प्रति असंतोष से भर जाता होगा। बिज्जी की यह विशेषता असल में उन्हें अमूल्य मौलिकता प्रदान करती है। ❖❖❖

प्रकाशकों से निवेदन

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा एक अरसे से 'पुस्तक-वार्ता' का प्रकाशन कर रहा है। हिंदी में प्रकाशित हो रही साहित्यिक पत्रिकाओं में 'पुस्तक-वार्ता' इकलौती पत्रिका है जो कि पूर्ण रूप से पुस्तक समीक्षा विधा को समर्पित है। यह पत्रिका साहित्य की विभिन्न विधाओं में प्रकाशित नयी पुस्तकों की समीक्षा प्रतिष्ठित आलोचकों-समीक्षकों से करवाकर प्रकाशित करती है और उसे पाठकों तक पहुँचाने के लिए एक सेतु का काम करती है। आप सुधी प्रकाशकों और सभी लेखक बंधुओं से अपनी नयी पुस्तकों की दो प्रतियाँ निम्न पते पर भिजवाने का अनुरोध है।

संपादक 'पुस्तक-वार्ता'
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,
पोस्ट- गांधी हिल्स, वर्धा - 442 001 (महाराष्ट्र)

इक जलतरंग बजता हुआ

अशोक प्रियदर्शी

संपर्क :
एम. आई. जी. 82
सहजानंद चौक
हरमू हाउसिंग कॉलोनी
राँची, झारखंड 834002
मोबाइल- 9430145930

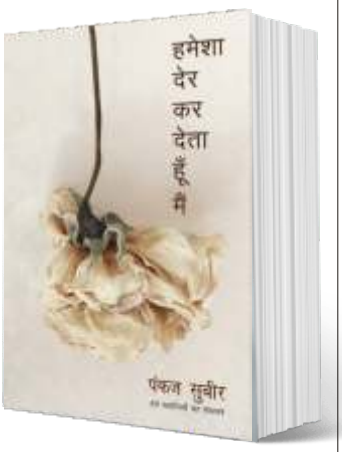

पुस्तक : हमेशा देर कर देता हूँ मैं
(दस कहानियों का संकलन)
लेखक : पंकज सुबीर
प्रकाशक : राजपाल एंड संस,
1590, मदरसा रोड
कश्मीरी गेट, दिल्ली-110006
वर्ष : संस्करण प्रथम 2021
पृष्ठ : 192
मूल्य : 295 रु. (पेपर बैक)

सचमुच। पंकज सुबीर की दस कहानियों का ताजा संकलन 'हमेशा देर कर देता हूँ मैं' मुझे मिला, तो एक-दो दिन तक इसे अपने टेबुल पर पड़ा रहने दिया, जैसे कोई देव विग्रह हो। फिर पढ़ना शुरू किया तो नियम बनाया कि एक दिन में बस एक कहानी पढ़ूँगा। वजह यह कि लगा, दस ही तो कहानियाँ हैं, दस दिनों में खत्म हो जाएँगी, तो फिर क्या पढ़ूँगा? खैर, किताब पूरी हुई। कुछ दिनों तक इन कहानियों का नशा तारी रहा। सोचता रहा, इस पर लिखना तो है। इसी बीच सीधे हिमालय से बरास्ता दिल्ली आती हुई प्राणलेवा शीतलहर। बकौल एक भोजपुरी उक्ति ठंड का कहना है कि वह वरिष्ठ नागरिकों को छोड़ेगा नहीं, चाहे वे कितनी भी रजाइयाँ ओढ़ लें। इस छह-पाँच में दिन निकलते गये और मैंने पाया, इस कहानी संकलन पर लोगों की समीक्षाएँ आ गयी हैं, यानी आनी शुरू हो गयी हैं और ऐसा पहली बार नहीं हुआ है। सच, हमेशा देर कर देता हूँ मैं भी।

बहरहाल, हम पंकज सुबीर की कहानियों में घटनाओं का सिलसिता, चाहे वे छोटी-छोटी गतिविधियाँ ही हों देखने-पढ़ने के आदी रहे हैं। मुझको लगता है कि इधर पंकज सुबीर की कहानियों में नरेशन-विवरण बढ़ता गया है। गोकि सुबीर टच तो इन कहानियों में है ही। सुबीर-टच यों कि या तो प्रसंग ऐसे होंगे जो आपके जाने-सुने नहीं होंगे। या परिचित प्रसंगों के भी जिस निष्कर्ष पर पहुँचने का अनुमान आप लगा रहे होंगे, वे गलत साबित होंगे। पंकज सुबीर इसीलिए पंकज सुबीर हैं। पहली ही कहानी, जिसके शीर्षक को ही पुस्तक का नाम दिया गया है, उसके प्रसंग प्रायः जाने-सुने हैं। लंबी चाची की भूख भी अस्वाभाविक नहीं लगती। कोई भी कच्चा कहानीकार लंबी चाची

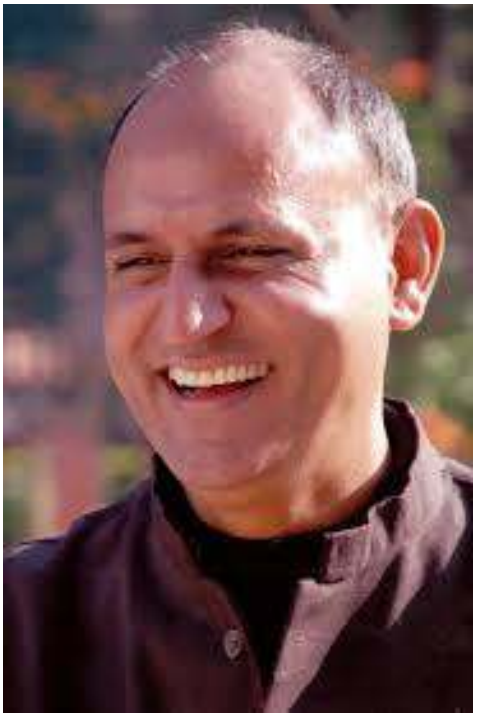

की भूख को मन्नी से शांत करा देता। ऐसे दृश्य सिरजने का अपना मजा था। लेकिन, अपराध-बोध से ग्रसित लंबी चाची ने बंधान में कूदकर जान दे दी है। अपराध-बोध? इससे तो भर गया है मन्नी। ज़फर के परामर्श पर हिम्मत बाँधता है मन्नी, पर देर हो चुकी है। मुनीर नियाजी की ग़ज़ल की पंक्तियाँ एक अजीब से कलात्मक काव्यात्मक अवसाद में डुबो देती हैं कहानी को, और जो कहानी एक साधारण-सी यौन कथा होती वह असाधारण मनोवैज्ञानिक कहानी बन जाती है। यही हैं पंकज सुबीर।

दूसरी कहानी 'बेताल का जीवन कितना एकाकी' को पढ़ते हुए सन साठ के दशक का दौर याद आ जाता है जब राजा निरबंसिया जैसी कहानियाँ लिखी जा रही थी, दो-दो कहानियाँ एक साथ एक-दूसरे से टकराती, अलग होती और अंततः एक समग्र प्रभाव छोड़ती। बूढ़े की कहानी में दो कहानियाँ हैं, कुछ-कुछ फंतासी शैली में रचित, और जो

कह जाता है कहानीकार वह है आज के जीवन का त्रास। बाल-बच्चे पढ़-लिखकर विदेश में सेटल हो जाते हैं और रह जाता है पिता या रह जाते हैं पिता-माता, अकेले बिसूरने को। बेटे- बेटियों की जिंदगी में वे क्यों दखल दें? और अपनी ज़िंदगी अपने ढंग से जी चुके बुजुर्गों को अपने परिवेश से कट कर जीना रास भी आएगा क्या? विदेश ही नहीं, स्वदेश में भी उच्च पदस्थ बेटे-बेटियों के बड़े शहरों में अपनी दुनिया बसा लेने पर बिसूरना ही शेष रह जाता है माता-पिता के जीवन में। आज की जिंदगी की यह त्रासद तसवीर यों फंतासी की शैली में पंकज सुबीर ही लिख सकते हैं शायद।

तीसरी कहानी 'मर नासपीटी'। इस कहानी को दो कोणों से देखा जा सकता है। पहल तो यह कि एक हिंदू कथाकार मुसलमान चरित्रों को लेकर इतने मजे से कहानी सुना रहा है कि लगता है, यह सारा परिवार परिवेश उसका जाना-सुना हो। आपसी सद्भाव जगाने, बढ़ाने का एक तरीका यह भी है, जैसा रामचंद्र शुक्ल ने कहा था, एक-दूसरे की कहानियों को जानना-समझना। यह तो हुई एक बात। यहाँ हलीमा और ज़रीफ़ा की गोतियारो की लड़ाई का अंत जो दिखाया है, कहानीकार ने वह अत्यंत कलात्मक काव्यात्मक है। नहीं, हलीमा और ज़रीफा एक दूसरे के बाल नहीं नोच रहीं.... हलीमा पागलों की तरह (मर नासपीटी, मर नासपीटी) कहती हुई टिन की छतों पर पत्थर फेंक रही है और ज़रीफ़ा उसके सामने घुटनों के बल बैठी रो रही है। इस काव्यात्मक कथा को आप स्वयं पढ़ें।

'खोद खोद मरे ऊँदरा, बैठे आन भुजंग उर्फ भावांतर' संकलन की चौथी कहानी। कुछ-कुछ लेखक के उपन्यास 'अकाल में उत्सव' की याद दिलाती हुई। नहीं, कथा- साम्य नहीं है यहाँ, किंतु किसानों की बेचारगी की प्रामाणिक कथा है, कुछ वैसी ही प्रामाणिक। लंबे , और एक अर्थ में असमाप्त किसान आंदोलन को हम देख चुके हैं। जिन्हें किसानी का निकट का अनुभव नहीं है, वे नहीं समझ पाएँगे इस रहस्य लोक को। हम तो लहर गिन कर भी पैसे कमाना जानते हैं। तुम डाल-डाल, हम पात-पात! और यह कहानी आंचलिकता का स्वाद भी देती है, गो समस्या सार्वदेशिक ही है। मजदूर झोपड़ियों में ही रहते हैं, उनके बनाये महलों में अमीर बसते हैं। पुनः कथाकार की पीठ थपथपाने की इच्छा होती है, इसलिए भी कि उसका कथा-वितान कितना बहुआयामी है। और 'मूँडवे वालों का जलवा' खालिस किस्सागोई के अंदाज में कही गयी कहानी और पैसों के फूहड़तम प्रदर्शन का रोमांचक आख्यान नहीं है। इस कहानी का दर्द अपनी जगह, इसकी कथा-कथन की शैली बाँधती है। पैसे हैं तो दिखाना भी पड़ता है भाई! बाप रहें कि जाएँ।

छठीं कहानी 'पत्थर की हौदें और अगनफूल'। पुनः इस कहानी की बुनावट भी खास है। प्रारंभ करते हुए लगता है कि यह कहानी जनजाति बहुल क्षेत्र में किसी अंदरूनी स्थान की प्रागैतिहासिक खोज कर रही है, फिर अंधविश्वास में फँसी भोली महिलाओं को शिकार बनाने वाले कथित संत-महात्मा का रहस्य खुलता है। सर्वाधिक आकर्षक है कहानी में व्यंजना-वृत्ति का प्रयोग, भूख पीतांबर गुदेनिया में भी जगी है, लेकिन बड़ों की भूख पहले शांत होनी चाहिए। पहले पहुँच चुके हैं राकेश अस्थाना हार कर लौट रहे हैं पीतांबर। शोषण की इस कथा की प्रस्तुति चौंकाती है। परिचित कथा को यों भी परोसा जा सकता है कि लगे कि सारा परिवेश अपरिचित है।

सातवीं कहानी 'कैद पानी'। 'इलाहाबाद के पथ पर' निराला को जो मजदूरनी पत्थर तोड़ती दिखी थी वह नये रूप में गाँव से दूर दबंग द्वारा 'कैद किए गए पानी' की मुक्ति की लड़ाई लड़ रही है। हाकिम तरुण विश्वकर्मा 'ललकारते हैं' और गाँव की उपेक्षिता पानी को कैद करने वाले ताले और सीकड़ को तोड़ रही है। काश! सच में ऐसा होता। हम होंगे कामयाब एक दिन होंगे क्या?

'वास्को-डी-गामा' और 'नील नदी' थोड़ी गझिन कहानी है। रूपकात्मक प्रतीकात्मक। वास्को- डी-गामा खोजने चला था कोई और देश, पहुँच गया कहीं और वास्को-डी-गामा है वासु कोहली और उनकी खोज है नीलोफर। और दोनों की लाशें मोर्चरी में पड़ी हैं। इधर पंकज सुबीर की कहानियों की बुनावट सरल -रेखीय नहीं होती। लेखक को इस गझिन बुनावट के लिए जितना दिमाग लगाना होता है, कहानी को 'डिसाइफर' करने के लिए पाठक भी तो कुछ दिमाग लगाये। शुक्ल जी ने लिखा था- कविता कोई रसगुल्ला नहीं है कि मुँह में रखिए और हलक के पार हो जाए। कवि को जैसे कविता लिखने के लिए श्रम करना पड़ता है, कविता का पाठक भी उसका अर्थ समझने के लिए कुछ श्रम करे। कहानी भी सदैव मुँह में घुल जाने वाला रसगुल्ला नहीं होती। 'चर्चे-ऐ-गुम' संकलन की नौवीं कहानी, अपेक्षया सरल बुनावट वाली, फिर भी मुँह में घुल जाने वाले रसगुल्ले सरीखी नहीं है तो यह सीधी-सी कहानी, हाकिमों को अनुकूल कर ऐसी जमीन को हड़प जाने वाली जिसका लंबे समय से कोई दावेदार नहीं है। किंतु, पंकज सुबीर इस कहानी में एक

धार्मिकता वाला पुट जोड़ते हैं। चर्च गुम नहीं हुआ है, उस जमीन पर शहर की सबसे मशहूर मिठाई की दुकान है। इस मिठाई की दुकान से शहर के हाकिम-हुक्काम सभी उपकृत हैं, तो भला अब चर्च की ज़मीन कहाँ और कैसे मिले। चर्च गुम हो गया है, जमीन सहित और संकलन की अंतिम कहानी, दसवीं 'इलोई! इलोई! लामा सबाख्तानी' यह कहानी 'हंस' में छपी थी। इस कहानी के शीर्षक को पढ़ कर दो विपरीत टिप्पणियाँ मुझको याद आयीं। एक तो यह कि कहानी का शीर्षक ऐसा हो जो पाठक के मन में कुतूहल जगाए। लोग 'उसने कहा था' की बात करते थे - किसने कहा था? क्या कहा था? यह कुतूहल जगाता है शीर्षक और इस कुतूहल के शमन की विकलता में पाठक कहानी पढ़ता जाता है। गोकि शीर्षक चौंकाने वाला हो। दूसरा प्रसंग याद आता है 'बच्चन जी' की प्रसिद्ध कविता 'दो चट्टानें' का। इसी नाम के संकलन पर बच्चन जी को साहित्य अकादमी पुरस्कार मिला था। कविता की प्रवेशिका में बच्चन जी ने लिखा है कि 'पहले में इस कविता का शीर्षक 'सिसिफस बरक्स हनुमान' रखने जा रहा था, फिर मुझको लगा कि हिंदी के आम पाठकों का जो हाल है, वे कहेंगे या पूछेंगे - हनुमान तो हनुमान, यह सिसिफस क्या बला है? और पाठकों को चौंकाना मुझको उचित नहीं लगा, इसलिए मैंने सीधा-सा शीर्षक रख दिया दो चट्टानें। एक चट्टान वह जिसे श्री हनुमान आज भी हथेली पर उठाए घूम रहे हैं। (लोक कल्याणार्थ) और दूसरी चट्टान वह जिसे अहर्निश सिसिफस ठेल कर पर्वत पर चढ़ा रहा है। (करना ही यही है)। सिसिफस का सारा उद्यम व्यर्थ है। खैर- थोड़ा डायवर्जन हो गया। मूल बात यह कि कहानी का यह शीर्षक कुतूहल तो जगाता ही है, किंतु कहानी लंबी इसलिए हो गयी है कि इसे इतिहास-कथा जैसा विस्तार दिया गया है, किंतु कहानी जहाँ जाकर खत्म होती है, पाठक सन्न रह जाता है, एक प्रकार के अवसाद से भरा। कथाकार का कौशल इसमें है कि अंत का यौन प्रसंग जुगुत्सा नहीं जगाता, मजा नहीं देता, खिन्न कर देता है, पाठक को एक प्रकार के अवसाद से भर देता है। कहानी दादी-नानी की कहानी की तरह चलती है और एक राज़ खोलती है। कहते हैं ईसा को सलीब पर चढ़ाया गया था, तो मृत्यु से ठीक पहले वह चिल्लाकर बोले थे इलोई, इलोई लामा सबाख्तानी याने 'हे ईश्वर हे ईश्वर, तूने मुझे क्यों छोड़ दिया?'

इस कहानी को ही नहीं, संकलन की सभी दस कहानियों को आप स्वयं पढ़ें। पंकज सुबीर के कथा- लेखन का कौशल ही यह है कि वे सीधी-सादी कथा को भी यों प्रस्तुत करते हैं कि आप उसके तिलस्म में कुछ देर के लिए उलझे रह जाते हैं। ❖❖❖

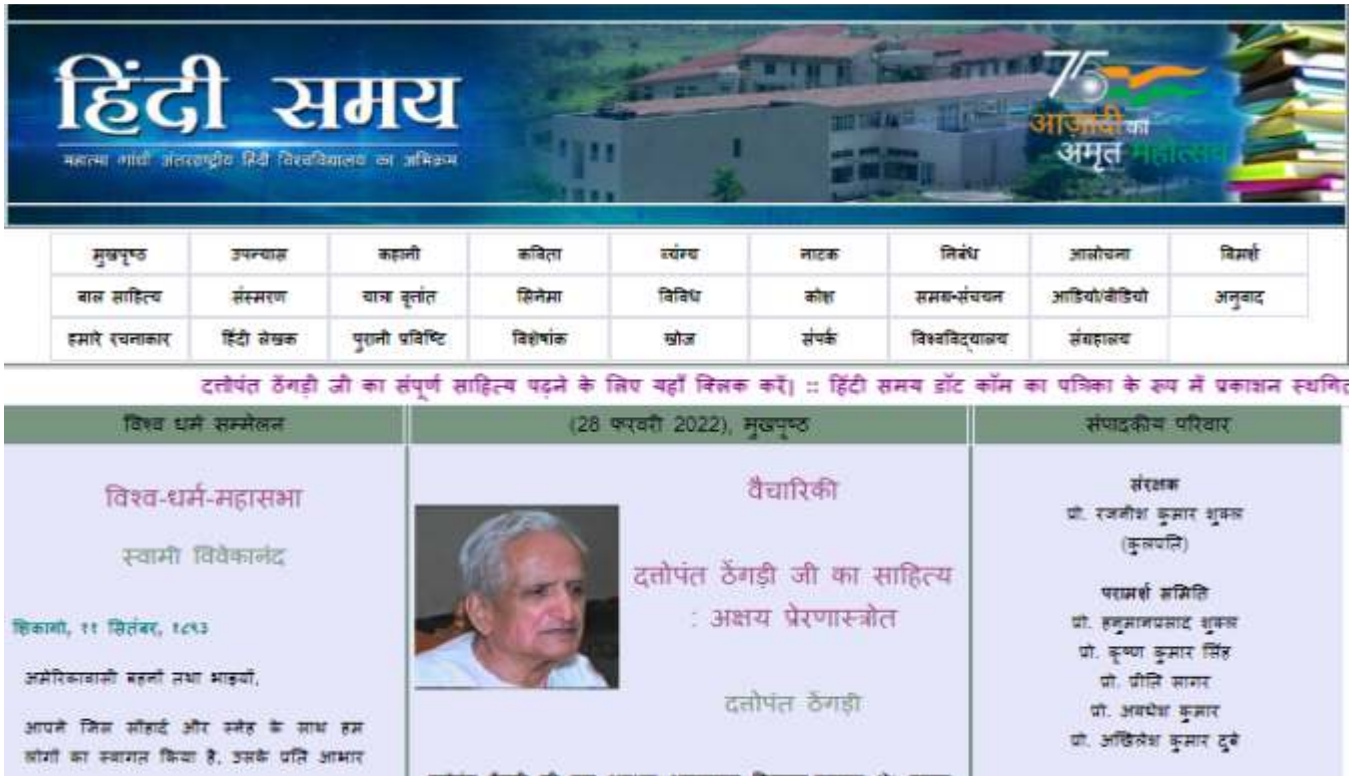

सर्वोत्तम शिक्षा की संभावनाओं की पड़ताल

डॉ. कुबेर कुमावत

संपर्क :
प्लाट नं. 38, 1762/3,
केले नगर, ढेकू रोड,
अमलनेर-425401 (महाराष्ट्र)
मो. 982660903

पुस्तक : शिक्षा सर्वोपरि
लेखक : शिवरतन थानवी
प्रकाशक : सूर्य प्रकाशन मंदिर, बीकानेर
वर्ष : 2017
मूल्य : 272 रु.

कोई यह स्वीकार करे या न करे, माने या न माने परंतु हमारा देश आज शिक्षा क्षेत्र के संदर्भ में शिक्षा का लक्ष्य, शिक्षा के विभिन्न स्तर, शिक्षा विषयक नीति, अध्यापन की पद्धतियाँ, अध्यापकों की नियुक्तियाँ आदि अनेक चरणों पर अनेक अनियमितताओं, अव्यवस्था एवं अंतर्विरोधों से गुजर रहा है। केंद्रीय सरकार ने अपनी बहुप्रतीक्षित नयी शिक्षा नीति देश के समक्ष प्रस्तुत की है। इस नयी शिक्षा नीति का जहाँ उत्साह से स्वागत हो रहा है, वही दबे स्वर में इसकी दुर्बलताओं पर भी यथासंभव टिप्पणियाँ की जा रही हैं। इस नयी शिक्षा नीति के विषय में कहा जा रहा है कि इसमें कक्षा एक से पाँच तक की प्राथमिक शिक्षा का माध्यम राज्य की मातृभाषा एवं स्थानीय भाषा को बनाने का प्रावधान हैं। यह नयी शिक्षा नीति ऐसे समय में आयी है जब देश में नर्सरी से लेकर स्नातकोत्तर शिक्षा एवं अनुसंधान तक की शिक्षा एक बिजनेस मोड्यूल या व्यापार के रूप में अपने पर्याप्त आकार में विकसित हो चुकी है। आजकल की शिक्षा व्यवस्था में रोजगार पर अधिक बल दिया जा रहा है एवं वास्तविक शिक्षा को कम बल्कि व्यवहारिक उपलब्धियों को अधिक महत्त्वपूर्ण माना जा रहा है। शिक्षा देश की सबसे बड़ी शक्ति होती है। शिक्षा के देने-लेने में यदि कोई देश चूक गया तो मानो वह नष्ट हो ही गया समझो। यद्यपि भारत में व्यवस्थित शिक्षा विषयक चिंतन करनेवाले लोगों की कमी नहीं है। जो इस विषय में नीति निर्धारण का काम कर रहे हैं, वे वस्तुतः शिक्षा की जमीनी हकीकत से परिचित नहीं हैं। जब मैंने इस नयी शिक्षा नीति के हिंदी ड्राफ्ट को पढ़ा तो ऐसा प्रतीत हुआ मानो भारतीय शिक्षा का परिदृश्य स्वर्ग के समान बनने जा रहा हो। शिक्षा जगत के जो चार मुख्य स्तंभ हैं- विद्यार्थी, शिक्षक, अभिभावक और प्रबंधक। इनमें शिक्षा के विषय में समान भाव एवं संतुलन होना अपेक्षित है। इस ड्राफ्ट को पढ़ते हुए ही मुझे एक बहुत ही शानदार पुस्तक ने उसपर कुछ लिखने के लिए विवश किया। यह पुस्तक मुझे मेरे राजस्थान के कवि मित्र सूर्यप्रकाश जी नगर ने भेजी थी कि मैं इसपर अपने विचारों को व्यक्त करूँ। राजस्थान के शिक्षा जगत में ऐसा व्यक्ति दुर्लभ ही होगा जो शिवरतन थानवी जी को न जानता हो।

वर्तमान में पूर्व प्राथमिक शिक्षा से लेकर उच्च शिक्षा तक इस देश की शिक्षा व्यवस्था अनेक प्रकार के अंतर्विरोध एवं अंतर्संकटों से जूझ रही है। समझ में नहीं आ रहा है कि इसे किसी व्यवस्थित दिशा की ओर कैसे और कौन ले जाएगा? एक व्यापारिक तंत्र के रूप में लगभग विकसित हो चुकी यह शिक्षाप्रणाली किसी भीषण सामाजिक एवं नैतिक त्रासदी को जन्म देगी। ऐसी स्थिति में कुछ ही लोग जो देश में बचे हैं और जो वास्तविक, स्वाभाविक एवं सच्ची शिक्षा का समर्थन करते हैं और शिक्षा के क्षेत्र में उत्तमोत्तम मानदंडों को स्थापित करने में जिनका संपूर्ण जीवन व्यतीत हुआ ऐसे विरले लोगों में शिवरतन थानवी एक हैं। 'शिक्षा सर्वोपरि' इस पुस्तक में सच्ची शिक्षा के प्रति उनका चिंतन और आग्रह स्थान-स्थान पर प्रकट हुआ है। इस पुस्तक को इसलिए भी अधिक महत्त्वपूर्ण मानना चाहिए कि यह वर्तमान शिक्षा व्यवस्था में बेहतरी के लिए कार्य करनेवाले अध्यापकों, प्रबंधकों एवं साहित्यकारों के जीवन पर प्रकाश डालती है। पुस्तक का पहला ही लेख 'परीक्षा नहीं, अब शिक्षा सर्वोपरि' में वर्तमान शिक्षण-प्रक्रिया, शिक्षा के संबंध में बने कानून, ट्यूशन, पाठ्यक्रम निर्माण, औपचारिक परीक्षाओं का स्वरूप, मूल्यांकन की प्रविधियाँ, शिक्षा में अध्यापक, अभिभावक एवं समाज की भूमिका, सहपाठ्यक्रम एवं पाठ्यक्रमेतर गतिविधियाँ

आदि पर एकदम नये एवं अद्भुत विचार व्यक्त किये गये हैं। संपूर्ण पुस्तक के अवलोकन के पश्चात यह कहना अधिक आवश्यक प्रतीत होता है कि लेखक वर्तमान शिक्षा व्यवस्था में भाषा एवं साहित्य के अध्ययन की अनिवार्यता के प्रबल समर्थक हैं। वे यह मानते हैं कि सर्वप्रथम छात्रों में भाव, विचार एवं बुद्धि का विकास हो और वह केवल आत्माभिव्यक्ति की प्रक्रिया से उन्हें अवगत कराने से ही संभव हो सकता है। वस्तुतः यह लेख सन 2009 में लागू हुए 'शिक्षा का अधिकार' कानून के परिप्रेक्ष्य में लिखा गया है। यह कानून कहता है कि किसी भी विद्यालय में प्रविष्ट बालक को किसी भी कक्षा में फेल नहीं किया जाएगा। तब क्या समस्याएँ उत्पन्न होंगी? लेखक कहते हैं कि "यह कानून हमारे लिए एक चुनौती है और शिक्षा व्यवस्था को नया रूप देने का और उसे सही दिशा में ले जाने का एक स्वर्णिम अवसर भी।" लेखक जिस सकारात्मक दृष्टि से इस कानून को देखते हैं और उसके सकारात्मक परिणामों का जो चित्र उपस्थित करते हैं, वह अत्यंत अनोखा है। वे कहते हैं कि शिक्षा से अधिक परीक्षा में अव्वल अंक प्राप्त करने के लिए जो घर-घर,गली-गली ट्यूशन का बाजार भर चुका है, वह ख़त्म हुआ ही समझो। वे चाहते हैं कि शिक्षा के किसी भी स्तर से गहराई से जुड़े व्यापार या बिजनेस को ख़त्म करना आवश्यक है। आज के युग में यह एक ताकतवर सोच है। मैं जब इस लेख को पढ़ रहा था तो सोचने लगा कि क्या अध्यापन के कार्य को एक रोजगार या पेशे की दृष्टि से देखना चाहिए या एक कर्तव्य? सेना, पुलिस, प्रशासन, चिकित्सा, शिक्षा, न्यायव्यवस्था में कार्य करने हेतु लोगों की भर्ती करना यानी प्रथमदर्शी रोजगार उपलब्ध कराना नहीं है। रोजगार का लक्ष्य है रोजी-रोटी उपलब्ध कराना। कर्तव्यपरायणता की भावना उसमें नहीं होती। नैतिकता की भावना भी रखना है या नहीं यह भी बहुत आवश्यक नहीं है। कर्तव्यपरायणता में रोजी-रोटी दोयम स्थान है। अध्यापकों की रोजी-रोटी की व्यवस्था का बहुत ही अच्छा ध्यान इधर के हमारे शिक्षा आयोगों ने रखा है कि अपने कर्तव्य के प्रति अध्यापक नित्य वफादार रहें।

इस पुस्तक में लेखक के अनेक व्यक्तिगत संस्मरण, लेख, यात्रा संस्मरण, वार्ताएँ आदि संकलित हैं। शिवरतन थानवी यद्यपि अंग्रेजी में शिक्षित थे परंतु बाद में इस अंग्रेजी पद्धति की शिक्षा व्यवस्था की दुर्बलताओं को समझकर इसी पर प्रश्नचिह्न खड़ा करने लगे। अनेक पाश्चात्य शिक्षाविदों के विचारों का उन्होंने अध्ययन किया। उनके निष्कर्षों एवं स्थापनाओं पर विस्तृत चर्चाओं का आयोजन किया। शिक्षा पद्धति में नये-नये प्रयोग किये। शिक्षा प्रणाली में पठन-पाठन एवं स्व-अध्ययन पर अधिक बल दिया। देश की शिक्षा को साहित्य से जोड़कर देखनेवालों और ऐसी साहित्यिक समझ से युक्त शिक्षा को अधिक महत्त्व देनेवालों में से वे एक थे। वे मध्यप्रदेश शिक्षा विभाग की पत्रिका 'पलाश' के कार्यकारी संपादक रहे। इसने पत्रिकाओं के माध्यम से उन्होंने देश के शिक्षकों को शिक्षा प्रणाली में हो रहे नये-नये परिवर्तनों, चुनौतियों से परिचित कराया। छात्र, अध्यापक, अभिभावक एवं प्रबंधक यह चार जो भारतीय शिक्षप्रणाली के आधारस्तंभ हैं, इनकी सच्ची एवं सक्रिय भागीदारी को उन्होंने उत्तम शिक्षा के लिए अत्यंत आवश्यक समझा। इस भागीदारी के विषय में उनके कई निजी मौलिक विचार स्थान-स्थान पर प्रकट हुए है। विद्यालय की इमारत भी सच्ची शिक्षा प्रणाली में एक महत्त्वपूर्ण संदेश किस प्रकार से दे सकती है। वे लिखते हैं, "जीवन साधना का भवन देखकर मुझे लगा कि सीधी कतार वाले भवन बनाकर हम एक भारी भूल करते चले जा रहे हैं। सीधी कतार वाले भवनों का मूल दो जगह है-बैरक और कारखाना। एक ज़माना था जब विद्यालय फौजी तरीकों से और अनुशासन से चलाये जाते थे और कारखाने के आदर्श पर चलते थे। आज भी इन आदर्शों को प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से विद्यालय संचालन के तंत्र में स्थापित करने का प्रयत्न यत्र-तत्र दृष्टिगोचर हो सकता है, किंतु वस्तुतः है यह त्रुटिपूर्ण। कक्षाओं के कमरों की एक ही कतार, खेलने को एक ही लंबा मैदान, खड़े होने को एक ही बरामदा, एक-सी धूप, एक-सी छाया यह कितना नीरस है? जहाँ भी खड़े हो जाओ अध्यापक या प्रधानाध्यापक की नजर अवश्य पड़ेगी। हरदम नजर रखने का सिलसिला तो कैदियों की बैरक में या कारखाने में आवश्यक होता होगा, विद्यालय में हमने यह क्या कर डाला।" वे अंत में लिखते हैं कि इस 'जीवन साधना' के भवन ने सन 1964 में एशिया भर के उल्लेखनीय शैक्षणिक भवनों में सम्माननीय स्थान प्राप्त किया।

पुस्तक में शिक्षा क्षेत्र से जुड़े जिन व्यक्तियों के संस्मरण प्रस्तुत हैं, उनमें विट्ठलभाई, अनिल बोर्दियाँ, प्रदुम्न दवे, गिजुभाई, तेजकरण डंडिया, बिपिन बिहारी बाजपेयी, नेमीचंद 'भावुक', प्रो. वी.वी. जोन, सोहनलाल जैन आदि उल्लेखनीय हैं। कुछ व्यक्तियों पर केंद्रित शब्द चित्र काफी रोचक बन पड़े हैं। यह पुस्तक शिक्षा जगत से जुड़े व्यक्तियों, संस्थाओं के लेखक के साथ अंतर्संबंधों को उजागर करती है। इस पुस्तक का लक्ष्य केवल शिक्षा विषयक प्रश्नों, समस्याओं एवं विद्रूपताओं पर प्रकाश डालना नहीं हैं, बल्कि वर्तमान

भारतीय शिक्षा व्यवस्था में जो कुछ भी सकारात्मक एवं प्रशंसनीय हो रहा है उसको भी स्वर प्रदान करना है। लेखक ने अत्यंत सौम्य शब्दों में शिक्षा की दुर्बलताओं और इसके लिए जिम्मेदार तत्त्वों की सूक्ष्म पड़ताल की है। जहाँ-जहाँ जो कुछ भी अच्छा दिखायी दिया उसका भी बखान किया है। कहीं- कहीं शिक्षा जगत में सुधारों एवं नये-नये प्रयोगों पर केंद्रित पुस्तकों की विस्तृत चर्चा की गयी है। इनमें तेत्सुको कुरोयानागी इस जापानी महिला द्वारा लिखित 'तोत्तो-चान' पर पुस्तक का दूसरा ही लेख केंद्रित है। लेखक कहते हैं कि वस्तुतः यह पुस्तक अपने रूपाकार में एक उपन्यास या कहानी हैं, परंतु अपनी विषयवस्तु की अद्वितीयता के कारण एक उत्कृष्ट शिक्षा ग्रंथ के रूप में प्रतीत होती है। वे लिखते हैं,- "यह एक महान शिक्षा ग्रंथ भी है। विचार-भूमि मोंटेसरी, डेलक्रोज तथा गिजुभाई के बहुत निकट हैं। बच्चों के प्रति माता-पिताओं और शिक्षकों के दृष्टिकोण में फिर से विचार करने का बहुत महत्त्वपूर्ण आधार प्रस्तुत करता है। विद्यालय का वातावरण ऐसा कि हाथ से काम करने की इच्छा स्वतः होने लगे। बच्चा अपनी रफ़्तार से पढ़ सके। वातावरण से ही प्रेरणा मिलती थी पढ़ाई-लिखाई से प्यार की। प्रकृति से भी अपनी कमी से दुःखी न होकर सहज भाव से स्वस्थ बच्चों के साथ घुल-मिल सकते थे। परस्पर प्रतियोगिता के बजाय सहयोग और सहकार की प्रतिष्ठा होती थी। मूल्यांकन या अनुत्तीर्ण होने का आतंक नहीं था। विषय का चुनाव, प्रारंभ और समाप्ति भी बच्चे की इच्छा पर निर्भर था। शिक्षक के साथ सामूहिक निर्णय लिया और घुमने निकल गये। इस पुस्तक के मूल प्रतिपाद्य पर थानवी जी जो कटाक्ष करते हैं, वह शिक्षा के मूल प्रयोजन को लेकर है। शिक्षक कैसा हों? विद्यालय कैसा हो? माता-पिता कैसे हो? शिक्षक का कौनसा रूप वरेण्य है? विद्यालय की गतिविधियों का रूप कैसा हो? आदि अत्यंत मौलिक प्रश्नों पर चिंतन ही इस पुस्तक का सर्वस्व है। वह एक ऐसी लड़की है जो सारी दुनिया के शिक्षा-शास्त्र पर खड़ी होकर शिक्षार्थियों, शिक्षको एवं शिक्षा-विधियों को चुनौती दे रही है। वे इस पुस्तक पर 'पलाश' पत्रिका के संपादक शरतचंद्र बेहार की टिप्पणी को उद्धृत करना नहीं भूलते जो हमारे शिक्षा व्यवस्था पर प्रश्नचिह्न उपस्थित करती है-

वर्तमान भारतीय प्राथमिक शिक्षा व्यवस्था का यदि हम अवलोकन करें तो कह सकते हैं कि यह नितांत पश्चिमी मॉडल पर आधारित एवं निर्भर है। हमारे पारंपरिक शिक्षा व्यवस्था में 'गुरुकुल मॉडल' के अतिरिक्त कुछ विशेष एवं आधुनिक हमारे पास उपलब्ध नहीं है। भारतीय समाज एवं संस्कृति के पारंपरिक ढाँचे में इस आधुनिक मॉडल को हम अभी तक व्यवस्थित रूप से क्रियान्वित भी नहीं कर पाये हैं। हम प्रायः उसी का अनुसरण करते हैं। भारत में शिक्षा को केवल रोजगारपरकता की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण माना जाता है, ज्ञानार्जन-उपार्जन की दृष्टि से नहीं। गरीबी, दरिद्रता, धन का अभाव एवं बेरोजगारी जैसी मूल समस्याओं को शिक्षा के द्वारा कैसे सुलझाया जा सकता है? इस प्रश्न का कोई उत्तर किसी के पास नहीं है। ऐसी स्थितियों में शिक्षा की महत्ता को समाज के अंत्यज वर्ग तक पहुँचाना बहुत ही कठिन है और फिर बालक एवं उसके माता-पिता को स्कूल के प्रति आकर्षित करना और भी कठिन। इन संदर्भों में शिक्षक, बालक, विद्यालय, समाज एवं शिक्षा से संबद्ध कानूनों के अंतर्संबंधों पर पुनर्विचार की नितांत आवश्यकता है। लेखक का मानना है कि जब तक आप किसी भी व्यक्ति या बालक में स्वयं शिक्षा ग्रहण करने की भावना का विकास नहीं होगा, सब निरर्थक है। पढ़ने एवं पढ़ाने के प्रति मूल निष्ठा एवं संवेदना के अभाव में कुछ भी विशेष उपलब्धि नहीं हो सकती। वे श्री बेहार की उस टिप्पणी को प्रस्तुत करते हैं जो इस संवेदना की पहचान करती है,-- "मदाम मारिया मांटेसरी... पहली ऐसी महिला हैं जिन्होंने बालकों के अंदर की थ्रिल की सही पहचान की। उन्होंने माँ या मदर बनने का प्रयत्न नहीं किया। डॉक्टर होकर भी डॉक्टर बनने का प्रयत्न नहीं किया और शिशुओं की क्रियाओं में शिक्षा को खेल की तरह पिरो देने के बावजूद भी शिक्षक बनने की कोई दर्दभरी कोशिश नहीं की... जब तक बालक और शिक्षक के बीच शिक्षक का अहम् खड़ा है और उसकी निरर्थक बोझिल पाठ्यविधियाँ खड़ी हैं, तब तक शिक्षक और बालक एक-दूसरे से सहज नहीं हो सकते।"

'शाला पुस्तकालय और पढ़ने की आदतें', 'शिक्षकों के व्यावसायिक संगठन', 'बारी-बारी से हर शिक्षक जहाँ विद्यालय प्रधान होता है', 'स्वाध्याय व लेखन के विकास में विद्यालय प्रधान की भूमिका', 'वह है तो वह सब होगा', 'बच्चों से लड़ो मत', 'प्राणवान मशीन का चालक निष्प्राण क्यों?'। 'शिक्षक-प्रशिक्षण कार्यक्रमों का प्रभाव कम क्यों है?', 'आत्मपीड़न और आत्मघात का मनोविज्ञान', 'मूल्य शिक्षा की एक शैक्षिक आधार दृष्टि' आदि वैचारिक लेख इस संदर्भ में उल्लेखनीय हैं। मुंबई से प्रकाशित होनेवाली पत्रिका 'मिरर' में प्रकाशित अपने लेख 'स्टॉप टीचिंग टू स्टार्ट टीचिंग' का आधार लेकर वे अपने निजी मतों को कुछ इस प्रकार प्रकट करते हैं,- "पता नहीं क्यों मेरी कुछ

ऐसी मान्यता बन गयी है कि असली शिक्षण तभी हो सकता है, जब हम जानबूझ कर, सोच-समझकर किसी-न-किसी विधि से शिक्षण शब्द के अभिधार्थ के अंतर्गत आने वाले सभी क्रियाकलापों का लोप करने में समर्थ हो जाए।"... "वस्तुतः मुझे तो ऐसा लगता है कि शिक्षा दी नहीं जा सकती, ली जा रही हो तो उसमें मदद की जा सकती है। फिर चाहे आप उसे शिक्षण नाम दे दें, निर्देशन नाम दे दें या मात्र सहायता नाम से ही काम चला लें।" आगे और वे लिखते हैं,- "लिखना-पढ़ना भी कुछ ऐसी ही क्रियाएँ हैं जिन्हें चाहकर न पैदा किया जा सकता है और न विकसित। संगत का असर होता है, पर मेरी स्वयं की संगत में सैंकड़ों ऐसे लोग आये हैं जो खूब लंबे समय तक साथ रह चुकने के बावजूद भी लिखने-पढ़ने की और कतई नहीं मुड़ सके।

लेखक की यह धारणा एकदम पक्की है कि शिक्षा को धंधा नहीं बनाया जा सकता। उनका विश्वास है कि लेखन में निपुण बनाना उतना सरल नहीं है, जितना कला-कौशल सिखाना सरल है। लेखन विद्या के प्रति उनकी निष्ठा एवं प्रोत्साहन पर उक्तियाँ यथास्थान प्रकट हुई हैं। शिक्षा व्यवस्था में साहित्यिक अभिरुचि एवं अभिव्यक्ति क्षमता का विकास अधिक अनिवार्य है। बच्चों में स्वाध्याय, पठन-पाठन के प्रति रूचि एवं सृजनात्मक प्रतिभा का विकास करने के वे प्रबल समर्थक हैं। इसके लिए उत्तम पुस्तकालय एवं पत्र-पत्रिकाओं की भूमिका को वे अधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं। इस प्रक्रिया में शिक्षक एवं प्रधान अध्यापक की भूमिका को भी उन्होंने अधिक उत्तरदायी माना है।छात्रों में सृजनात्मक प्रतिभा कैसे विकसित की जा सकती है? इस विषय पर वे लिखते हैं,- "इसका एक ही उपाय है कि पाठ्यपुस्तकीय विषयों पर लिखने की बजाय स्वयं के अनुभव पर कुछ लिखने को प्रेरित किया जाए और ऐसे अवसर कई दिये जाए। कई बार लिखना होगा तो स्वतः मौलिकता सामने आएगी ही। विषय भी आसपास से लिये जाएँ, स्थानीय जीवन से लिए जाएँ। आपने देखा होगा कि स्थानीय व्यक्ति, स्थान घटनाओं का प्रतिबिंब हमारी विद्यालय पत्रिकाओं में नगण्य सा रहता है।" इस प्रकार शिक्षा व्यवस्था को साहित्य से जोड़कर देखने एवं वैसे ही कुछ परिवर्तन एवं प्रयोग करने की उनकी दृष्टि नितांत मौलिक एवं प्रशंसनीय है। वे कहते हैं कि जो पढ़ने-लिखने वाला प्राणी है, वह दब्बू नहीं होता, वह शब्दों को इत्र में भिगो-भिगो कर अदब से नजर नहीं करता... स्वाध्याय और सृजन का अर्थ होता है अंगारों से खेलना।

हमारे देश में शिक्षा जगत की चिंता करनेवाले गिने-चुने लोगों में थानवी जी को स्थान दिया जा सकता है। वे शिक्षा जगत से जुड़ी किसी भी इकाई के पूर्ण पक्षधर नहीं। जिसमें जहाँ जो पूर्णताएँ एवं अपूर्णताएँ हैं, उसका अत्यंत सम्यक् विश्लेषण एवं मूल्यांकन उन्होंने इस पुस्तक में किया है। सजीव एवं सक्रिय अध्ययन एवं अध्यापन के वे विशेष आग्रही हैं। पुस्तकों, पुस्तकालयों, अध्ययन की विविध आधुनिक विधियों एवं प्रणालियाँ तब तक निरर्थक हैं जब तक कि हममें पढ़ने की आदतों का विकास न हो। आज भी हमारे देश के लोगों में पुस्तकों को पढ़ने के प्रति बड़ी उदासीनता देखने को मिलती है। इसलिए अनेक साहित्यकारों को आर्थिक अभावों से जूझते हुए देखा जाता है। सम्मान एवं पुरस्कार तो देने में अनेक संस्थाएँ या लोग आगे आते हैं पर वही पुस्तकें खरीदने एवं पढ़ने के मामले में पीछे हट जाते हैं। भारत में भाषा, साहित्य एवं कलाओं का क्षेत्र अनेक प्रकार के अंतर्विरोधों से ग्रस्त है। भाषा एवं साहित्य की शिक्षा के मामले में तो घोर उदासीनता भारत के उच्च वर्ग में देखने को मिलती है। ऐसी स्थिति में पुस्तक संस्कृति का विकास कैसे हो सकता है? लेखक का मानना है कि साहित्य या किसी भी जेनर की पुस्तकें पढ़ने के प्रति रूचि का विकास बचपन से ही होना चाहिए। भारत में पुस्तक संस्कृति के प्रसार की नितांत आवश्यकता को वे अनुभव करते हैं। वे एक प्रसंग बताते हैं,- "अरविंद कुमार पूरा हिंदुस्तान घुमे हैं 'पुस्तक संस्कृति' के प्रसार के लिए। उनका अनुभव बताता है कि हम यह न माने कि बच्चों में रुचि नहीं है पढ़ने की। अपर्णा सहाय शर्मीली किस्म की पाठक थी, पर पढ़ती थी, माँ से छिपा कर पढ़ती थी। कुछ पुस्तकें ऐसी थीं जिन्हें माँ नहीं पढ़ने देती थी। लेकिन उनका यह मत बना है कि किताबें बहुत अच्छी दोस्त हैं। 'खूनी पंजा' और 'डाकू बहराम' और 'शर्लोक होम्स' इनको पिताजी पढ़ने नहीं देते थे और 'भारत में अंग्रेजी राज' तथा 'पंजाब का भीषण हत्याकांड' भारत सरकार नहीं पढ़ने देती, किंतु पाँचवी कक्षा में मैंने ऐसी अनेक पुस्तकें पढ़ीं। शायद उन्हीं से मिली ताकत के कारण छठी कक्षा में 'भारत-भारती', 'रंगभूमि', और 'मधुशाला' पढ़ने में रस आने लगा। कभी माँ-बाप का प्रोत्साहन उत्प्रेरक होता है, कभी शिक्षक का और कभी संस्था का।"

आलोच्य पुस्तक में अध्यापकों, उनकी नियुक्तियों, प्रशिक्षण कार्यक्रमों, संगठनों एवं शिक्षा के प्रति उनकी प्राप्त भूमिकाओं एवं निष्ठाओं पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। उनकी दृष्टि में अध्यापकी कोई व्यवसाय या पेशा नहीं है, बल्कि एक सामाजिक दायित्व है, वह कर्तव्यबोध से जुड़ी एक कार्यविधि है।

'शिक्षकों के व्यावसायिक संगठन' इस लेख में वे लिखते हैं,- "प्रश्न यह है कि शिक्षक ट्रेड यूनियन बनाए या व्यावसायिक संघ। शिक्षण को एक व्यवसाय (प्रोफेशन) माना है। शिक्षण अन्य वेतनभोक्ता मजदूरों से भिन्न है। यद्यपि वह वेतनभोक्ता है उसका दायित्व न केवल नियोक्ता (एम्प्लोयर) के प्रति है बल्कि समस्त समाज के प्रति भी है। वह जो कुछ भी करता है, उसका रेखांकन बालक पर होता है। वही बालक जो भविष्य का नागरिक है। शिक्षकों को अपने संगठन की कार्यविधि के बारे में इस परिप्रेक्ष्य में सोचना है कि वह केवल वेतनभोक्ता कर्मचारी नहीं है, बल्कि एक ऐसे व्यवसाय का सदस्य है जिसके उच्चतम नीतिमान एवं आदर्श हैं।" उनका मानना है कि शिक्षा में सर्वोत्तम आदर्श स्थिति वह है कि सभी निष्ठा से अपने दिये काम को करें। केवल अपने कर्तव्य की और विशेष ध्यान दें। कोई छोटा नहीं है और न कोई बड़ा। कोई मालिक नहीं है और न ही कोई नौकर। इस तरह किसी के प्रति शिकायत का मौक़ा ही नहीं मिलेगा। इस तरह की आदर्श स्थिति को उत्पन्न करने में शिक्षकों के संगठनों की भूमिका अधिक महत्त्वपूर्ण है जो यह स्वयं देखें कि उसके सदस्य अपने कर्तव्यों के प्रति जागरूक हैं या नहीं। वे इस संदर्भ में प्रसिद्ध शिक्षक एवं शिक्षाशास्त्री ए.एस. नील की उस व्यथा को उद्धृत करते हैं कि यह कितनी सोचनीय बात है कि शिक्षक के ऊपर निरीक्षक रखने पड़ते हैं जबकि किसी डॉक्टर या वकील के नहीं। प्रत्येक व्यक्ति अपनी इमानदारी से कार्य करे तो निरीक्षण की आवश्यकता कहा रह जाती है। 'बारी-बारी से हर शिक्षक जहाँ विद्यालय प्रधान होता है' लेख में शिक्षा, विद्यालय, शिक्षक, आर्थिक विकास, बेरोजगारी के अंतर्संबंधों पर विशेष चर्चा मिलती है जो चिंतनीय भी है। शिक्षा को आर्थिक लाभ से जोड़कर देखना कितना हानिकारक है इसपर जो विशेष टिप्पणी प्रो. याज्ञिक के मिलने पर की गयी है, वह द्रष्टव्य है,- "प्रो. याज्ञिक का ऐसा मत था कि शिक्षा के जरिये आर्थिक लाभ पर जो जोर दिया जाता है, वह उचित नहीं है। शिक्षा पर बाहर के प्रयोजन थोपने से शिक्षा के प्रयोजन ज्यों कि त्यों धरे रह जाएँगे। यूरोप के उदाहरण से हम बहुत कुछ सीख सकते हैं। वे जिधर जा चुके हैं हम भी उधर जाएँ ऐसा तो जरूरी नहीं है। इस पर विचार करना चाहिए। मूल्यों का सवाल है। शिक्षा किन मूल्यों के लिए? उत्पादकता का अर्थ क्या? ज्ञान का क्षेत्र, ज्ञान का विस्तार, ज्ञान का प्रयोजन यह सब क्या आर्थिक, तात्कालिक उपयोगिता और बाहर की चकाचौंध के मापदंड से तय होगा?"

इसमें वर्तमान शिक्षा में जिन सुधारों को लेकर दिशानिर्देश किया गया है उनका क्रियान्वयन अत्यंत कठिन भी नहीं है बल्कि आवश्यकता है इच्छाशक्ति की। सर्वप्रथम तो इन सुधारों का प्रारंभ प्राथमिक शिक्षा से करना होगा इसमें जो पहली चुनौती है, वह है हर स्थिति में बालकों को विद्यालय की और आकर्षित करना। उच्च शिक्षा में यह समस्या नहीं है। छात्र महाविद्यालय तक तो आ ही गया है। केवल आवश्यकता है कि उसमें पठन-पाठन एवं मौलिक चिंतन की क्षमता का विकास हो। शिक्षा के इन दोनों स्तरों पर सुधारों को लेकर यह पुस्तक 'ग्रास रूट लेवल' पर ही प्रहार करती है जिसे संभवतः स्वीकार करने में कुछ लोगों को कठनाई हो। केवल अक्षर ज्ञान प्रदान करना यह शिक्षा का उद्देश वहाँ उपयुक्त है जहाँ लोग बहुसंख्या में निरक्षर है। पर जहाँ साक्षरता 70 से 80 प्रतिशत के आसपास है वहाँ शिक्षा का उद्देश लोगों को चरित्रवान एवं सद्गुणी बनाना है। अपने लेख 'प्राणवान मशीन का चालाक निष्प्राण क्यों?' पूर्णतः शिक्षक की भूमिका पर केंद्रित है। वे लिखते हैं,- "शिक्षक का सौभाग्य है कि वह शिक्षक है, पर उसका दुर्भाग्य है कि परिस्थितियों के समुचित सहयोग के अभाव में वह व्यक्ति के अंतर्जगत में उतना प्रकाश नहीं भर पाता जितना कि उसे भरना चाहिए। देश में तीव्र गति से गिरता हुआ शिक्षा का स्तर इसी तथ्य का परिचायक है। चरित्रवान एवं सद्गुणी नागरिकों का निर्माण शिक्षा का उद्देश्य माना गया है। परंतु देश हतबुद्धि होकर देख रहा है कि शिक्षकों, शिक्षार्थियों व शिक्षालयों की उत्तरोत्तर बढ़ने वाली संख्या के बावजूद भी वस्तुस्थिति यह है कि चरित्रवान एवं सद्गुणी नागरिक आज ढूँढ़े भी नहीं मिलते।" ऐसी स्थिति में एक तथ्य मैं अपनी ओर से यह जोड़ना चाहता हूँ कि जब हमारे देश में निरक्षरता अधिक थी तब चरित्रवान नागरिकों की संख्या भी अधिक थी। फिर गड़बड़ कहाँ हुई? वर्तमान शिक्षा व्यवस्था की इस सोचनीय अवस्था के कुछ कारणों को उन्होंने इस लेख में प्रस्तुत किया है जिसमें बालक के विकास की प्रक्रिया में अभिभावकों का अज्ञान, असहयोग या उपेक्षाभाव, शिक्षकों का अत्यल्प वेतन एवं हीन सामाजिक स्तर, कक्षाओं में छात्रों की बेशुमार वृद्धि, गंदी राजनीति आदि। परंतु वे यह भी कहते हैं कि यदि यह सब समस्याएँ सुलझा भी ली जाए तो भी जो कुछ अंदरूनी परिस्थितियाँ हैं, उनके कारण गोखले और मालवीय जैसे चरित्रों का निर्माण करना कठिन एवं असंभव है। जमीनी हकीकत यह है कि हमने अपनी शिक्षा प्रणाली को एक बड़ी हद तक औपचारिक स्वरूप दे दिया है।

इस पुस्तक में सर्वोत्तम शिक्षा को लेकर जिन बातों का विशेष उल्लेख मिलता

है, वे काल्पनिक नहीं हैं, बल्कि लेखक के अपने जीवन अनुभवों एवं निरीक्षणों पर आधारित हैं। शिक्षा जगत से जुड़े समर्पित लोगों, शिक्षा संस्थाओं, विद्यालयों, विश्वविद्यालयों के भ्रमणों के वृत्त भी काफी मार्मिक एवं रोचक हैं। इसमें गुजरात की यात्रा का वर्णन विशेष उल्लेखनीय है। इस यात्रा में लेखक ने कुछ विद्यालयों एवं संस्थाओं की शिक्षा संस्कृति एवं कार्यप्रणाली तथा इनसे जुड़े लोगों पर विशेष चिंतन प्रस्तुत किया है। इनमें सरस्वती हायस्कूल, असारवा विद्यालय, हिमांशु बालमंदिर, दादाभाई नौरोजी हायस्कूल, चारुत्तर सोसायटी, आणंद का पटेल विश्वविद्यालय, जीवनसाधना विद्यालय, श्रेयस विद्यालय आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। अन्य विद्यालयों में सागर जनशाला पर केंद्रित लेख एवं नीलबाग स्कूल पर केंद्रित लेख अत्यंत पठनीय हैं। 'मूल्य शिक्षा की एक शैक्षिक आधार दृष्टि' एक शोधालेख है जो काफी सुचिंतित एवं मौलिक विचारों से युक्त है। इस लेख में उन्होंने शिक्षा को स्वयं एक मूल्य माना है। वे लिखते हैं,-- "एक स्वस्थ व्यक्तित्व के लिए एक स्वस्थ एवं संतुलित जीवन-दर्शन होना चाहिए। यह जीवन-दर्शन व्यक्तियों की रुचियों में, रुझान में और कार्य-व्यवहार में अभिव्यक्त होता है। जिस जीवन के मूल में कोई मूल्य नहीं है वहाँ कोई स्थिरता नहीं होगी, वह अनेक विकारों से ग्रस्त होगा। खड़े होने को पैर चाहिए, मेज, कुर्सी के भी पैर होते हैं। अच्छी शिक्षा हो तो व्यक्ति को मूल्यों का अच्छा आधार मिलेगा। ज्ञान-विज्ञान का भी आधार होता है, किंतु मूल्यों का आधार उनमें भी आगे है। ज्ञान-विज्ञान के मूल में मूल्य अपनी विशेष भूमिका रखते हैं। मनुष्य के स्वभाव में यदि मूल्यों का पर्याप्त समावेश हुआ है तो वह मौलिक होगा, सृजनशील होगा, अन्यथा जैसे कि डॉ. आचार्य ने कहा है, व्यक्ति हो या समाज, वह किसी अन्य समाज को श्रेष्ठ मानकर उसके अविचारित अनुकरण में ही अपना विस्तार देखेगा तो मौलिकता खो कर मात्र अनुवाद हो जाएगा।"

प्रस्तुत पुस्तक में मौलिक व्यक्ति के सृजन में शिक्षा की महत्त्वपूर्ण एवं अद्वितीय भूमिका को स्थान-स्थान पर रेखांकित किया गया है। लेखक में अध्यापकीय पेशे के प्रति दायित्वबोध अत्यंत प्रखर है और शिक्षा की मूल परिभाषा को भी उन्होंने सरल शब्दों में स्पष्ट कर दिया है। थानवी जी के प्रकट विचारों एवं सर्वोत्तम शिक्षा विषयक स्थापनाओं के प्रति पुस्तक के अंतिम फ्लैप पर दी गयी टिप्पणी उनके व्यक्तित्व पर प्रकाश डालने में पर्याप्त सहायक है। वे कहते हैं,-- "शिवरतन जी पुरानी काट के शिक्षक हैं, लेकिन यहाँ पुराने का मतलब बीत जाने से, अप्रासंगिक या गैरफैशनेबल होने से नहीं है। उनके निबंधों में आपको एक उग्र सजगता मिलेगी, सावधानी और चौकन्नापन। जो कुछ भी नया दिमाग सोच रहा है, उससे परिचय की उत्सुकता तो है, लेकिन वे सख्ती से हर चीज की जाँच करते हैं। ग्रहणशीलता उनका स्वभाव है और वे शिक्षा और समाज के रिश्ते के अलग-अलग पहलू पर विचार करने के लिए जहाँ से मदद मिले, लेने को तैयार हैं। उन्मुक्त रूप से लेने और देने को ही वे शिक्षा मानते हैं।" उनके विचारों के अवलोकन से स्पष्ट होता है कि वे शिक्षा जगत में अनौपचारिक परिवर्तनों एवं प्रयोगों के आग्रही हैं। पाश्चात्य शिक्षा जगत से संबंधित विचारकों, पुस्तकों एवं पत्रिकाओं पर भी पर्याप्त टिप्पणियाँ पुस्तक में हैं। शिक्षा जगत से संबंधित कुछ ऐसे मौलिक चरित्रों से वे पाठकों को परिचित कराते हैं जो कहीं समय की प्रबल धारा में डूब जाते। विट्ठलभाई, अनिल बोर्दिया, सोहनलाल जैन, नेमीचंद 'भावुक', गिजुभाई, प्रो. बिपिन बिहारी बाजपेयी, मरुधर जी, जर्फिंशा जैदी, तेजकरण डांडिया, प्रो. वी.वी. जोन आदि पर केंद्रित संस्मरण काफी रोचक एवं सुखद अनुभूति से युक्त हैं। मंजूर एहतेशाम, यशपाल तथा संत कबीर तथा अन्य विषयों पर केंद्रित वार्ताओं को भी पुस्तक में समाविष्ट कर लिया गया है। आर्थिक अभावों के बीच पढ़ने एवं नौकरी के लिए किये गये संघर्ष पर केंद्रित आत्मकथ्य भी काफी रोचक एवं संवेद्य हैं। इसमें वे लिखते हैं,-- "पहले सारा समय एम.ए. पास करने में गँवाया और अब सारा समय नौकरी की तलाश में गँवाता हूँ। किसी के बर्तन भी नहीं मांज सकता। रात मोहल्ले में चौकीदारी भी नहीं कर सकता। सड़क पर बैठकर जूता मरम्मत कर सकता हूँ और तो और कंधे पर टाट का थैला डाल 'टूटे-फूटे पुराने चप्प...ल' की आवाज देता हुआ गलियों में घूमना भी मेरे लिए दुश्वार है क्योंकि मैं एम.ए. पास आदमी हूँ, पढ़ा-लिखा हूँ। मामूली काम कैसे करूँ?" पुस्तक के इस वार्ता खंड में संकलित एवं समय-समय पर आकाशवाणी से प्रसारित की गयी वार्ताओं में 'विद्यार्थी असंतोष', सृजनशील लेखन कैसे करें?, बालकों में अभिव्यक्ति क्षमता का विकास, 'अहिल्याओं की कुर्बानियाँ, 'सच्चा सौंदर्य', 'धैर्य रखें' तो आदि अपनी विविधतापूर्ण विषयवस्तु के कारण पुस्तक की गरिमा को बढाते हैं। साहित्यिक पत्रिकाओं, शैक्षिक पत्रिकाओं, बाल-पत्रिकाओं, सरकारी पत्रिकाओं से संबंधित लेख अत्यंत मौलिक विचारों से युक्त हैं। चाहे संस्मरण हों, लेख हों, वार्ताएँ हों, यात्राएँ हों, निबंध हों, समीक्षाएँ हों। यह पुस्तक अपने मूल रूप में शिक्षा जगत

की वास्तविकताओं पर केंद्रित एक शिक्षा-ग्रंथ ही है। इनमें से अधिकांश लेख इस पुस्तक में समाविष्ट होने से पूर्व विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं।

सन 2017 में सूर्य प्रकाशन मंदिर बीकानेर से प्रकाशित यह पुस्तक लेखक को एक शैक्षिक विचारक के रूप में प्रस्तुत करती है। यह पुस्तक वर्तमान शिक्षा जगत के लिए एक संदेश के साथ एक महान उद्देश्य को समर्पित कही जा सकती है जो शिक्षा जगत अपने मूल उद्देश्य से कहीं भटक गया है। रोजगारपरकता एवं कौशल विकास को ही शिक्षा का मूल उद्देश्य मानने वाली वर्तमान शिक्षा व्यवस्था पर यह पुस्तक कठोर प्रहार करती है। साहित्य एवं शिक्षा के अंतर्संबंधों को नष्ट कर आगे बढ़ना यह शिक्षा जगत के लिए कितना हानिकारक हो सकता है, इसका विवेचन एवं विश्लेषण अपनी व्यक्तिगत अनुभवों एवं निरीक्षणों के माध्यम से अत्यंत सौम्य भाषा में लेखक ने प्रस्तुत किया है। यह पुस्तक भारत की शिक्षा व्यवस्था की जमीनी हकीकत पर केंद्रित मौलिक चिंतन एवं साफ़-साफ़ अनुभवों से युक्त पुस्तक है। अभी-अभी हमारा देश कोरोना महामारी से जूझता हुआ बाहर निकला है। देश की शिक्षा प्रणाली, व्यापार एवं उद्यमों, परिवहन के साधनों को फिर से अपनी पूर्व स्थिति में लाने की चुनौती है। भविष्य की शिक्षा का चित्र कैसे होगा इसकी अनेक अटकले लगायी जा रही हैं। जिन्होंने शिक्षा को अपना एक बिजनेस बना लिया हो, अपनी पूँजी वहाँ लगा दी हो, वे किसी भी स्थिति में अपने लाभ को छोड़ने को तैयार नहीं हैं। शिक्षकों का शोषण बरकरार है। आकर्षक वेतनमान के कारण एक वर्ग इस पेशे में अपनी उपस्थिति दर्ज करा चुका है। शिक्षक और शिक्षा खरीदी और बेची जा रही है। सरकारी तंत्र में शिक्षा व्यवस्था में कठोर सुधारों को लेकर उदासीनता है। कोरोना ने शिक्षा के व्यापार पर प्रश्नचिह्न तो उपस्थित कर दिया है, परंतु वास्तविकता यह है कि सभी को पैसा कमाना है। संपूर्ण शिक्षा व्यवस्था एक व्यावसायिक, तकनीकी एवं औपचारिक माड्यूल पर निर्भर है। सभी यह दिखावा कर रहे हैं कि हम पढ़ रहे हैं और पढ़ा रहे हैं। अध्यापन की पद्धतियाँ, परीक्षा प्रणालियाँ, प्रात्यक्षिक पुस्तकें, कृतिपत्रिकाएँ, मूल्यांकन, गुणांकन, स्वाध्याय, अभ्यास, गृहपाठ आदि कई स्तरों पर कामचलाऊ ढंग से वर्तमान शिक्षा को दिशा दी जा रही हैं। आजकल ऑनलाइन शिक्षा द्वारा उत्तम शिक्षा प्रणाली का समाधान खोज लिया गया है जो नितांत भ्रामक है। ऐसी स्थिति में शिवजी की यह पुस्तक कुछ दिशा दे सके तो...?

उनकी पुस्तक 'शिक्षा सर्वोपरि' शिक्षा विषयक चिंतन, शिक्षा जगत से जुड़े विभिन्न व्यक्तियों के संस्मरण, अनुभव-प्रसंगों एवं यात्राओं पर आधारित है और काफी रोचक है। ❖❖❖

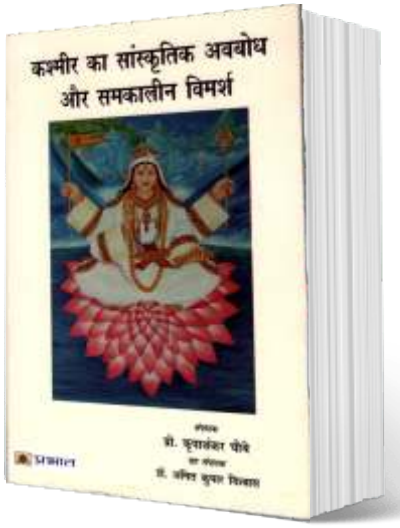

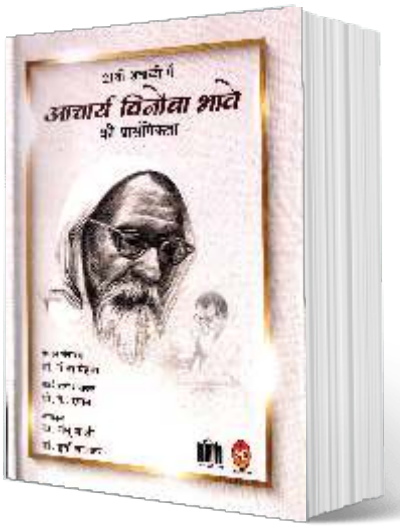

खिलौनों का कारीगर

अलका प्रमोद

संपर्क :
5/41 विराम खण्ड, गोमती नगर
लखनऊ - 226010

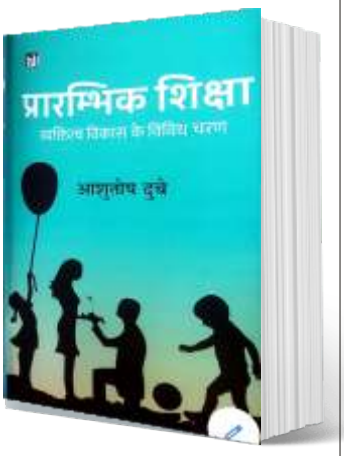

पुस्तक : प्रारम्भिक शिक्षा : व्यक्तित्व विकास के विविध चरण
लेखक : डॉ. आशुतोष दुबे
प्रकाशक : लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गांधी मार्ग, प्रयागराज, उ.प्र.
पृष्ठ संख्या : 128
मूल्य : 395 रु.

भारत के भावी नागरिकों के व्यक्तित्व निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन करने वाली कृति ''प्रारम्भिक शिक्षा : व्यक्तित्व विकास के विविध चरण'' के लेखक हैं, राज्य शिक्षा संस्थान के प्राचार्य आशुतोष दुबे। बारह अध्यायों के इस संग्रह में लेखक ने बच्चों की घरेलू स्तर पर प्रारंभ होने वाली शिक्षा और उनके व्यक्तित्व के विकास से ले कर उनकी शिक्षा प्रणाली निर्धारण हेतु किये जाने वाले शोधों के महत्त्व तक, सभी आवश्यक बिंदुओं को इस कृति में समाहित करने का श्लाघनीय प्रयास किया है।

इस कृति की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता है कि इसमें न केवल सामान्य बच्चों की शिक्षा के प्रति सरोकार है वरन् मानसिक मंदता एवं आधिगमिक दुर्बलता से ग्रस्त बच्चों की शिक्षा के प्रति लेखक की चिन्ता निश्चय ही बच्चों, समाज, देश और मानवीय हित के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण है तथा एक भावी स्वस्थ समाज के प्रति आशा जगाती है।

इस कृति का प्रथम लेख 'बच्चे का व्यक्तित्व निर्माणः घरेलू परिवेश तथा प्रारंभिक विद्यालय' में लेखक ने व्यक्तित्व को परिभाषित करते हुए व्यक्तित्व के सर्जक और नियंता पर प्रकाश डाला है। लेखक का मानना है ''आनुवांशिकता और पर्यावरण व्यक्तित्व का नियमन और सर्जन करते हैं।''

लेखक लिखते हैं- ''अभिभावक, घरेलू वातावरण, प्रातिवेशिक वातावरण, समुदाय तथा विद्यालय, व्यक्तित्व को न केवल पोषण प्रदान करते हैं; प्रत्युत उसके स्वरूप को भी निर्धारित करते हैं। इनमें भी विद्यालय की भूमिका अन्यतम होती है। व्यक्तित्व के निर्माण

में इस संस्था के अवदान का कोई सानी नहीं।''

कृति का दूसरा लेख है- 'जीवन कौशल के विकास में शिक्षक की भूमिका' इस अध्याय का प्रारंभ वास्तविक सुख को परिभाषित करते हुए वह अत्यंत महत्त्वपूर्ण तथ्य को स्थापित करते हैं कि जीवन में सुख जीवन में भौतिक संसाधनों पर नहीं, अपितु मानसिक स्थिति पर निर्भर करता है। उनका मानना है कि ''एतदर्थ बचपन से ही उनमें धैर्य तथा तार्किक चिंतन के संस्कार का आधान किया जाना चाहिऐ।'

इस संदर्भ में शिक्षक की भूमिका को आवश्यक मानते हुए राष्ट्रीय शिक्षा नीति-2020 का उल्लेख करते हुए वह लिखते हैं कि बच्चे को उसकी आयु, परिवेश, क्षमता तथा स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुसार ही कार्य करना चाहिए। प्रशिक्षित तथा व्यवसायिक क्षमता संपन्न शिक्षक द्वारा ही इस कार्य को सुचारु रूप से संपन्न किया जाना संभव है। आयु के भिन्न सोपानों पर बच्चों की मानसिकता एवं क्षमता

के दृष्टिगत ही शिक्षण की रूपरेखा तैयार किया जाना अवश्यभावी होना चाहिए।

'प्रारंभिक शिक्षा तथा व्यक्तित्व विकास के विविध चरण' नामानुरूप छात्र के सर्वांगीण विकास के लिए वांछित महत्त्वपूर्ण बिंदुओं पर आधारित है। लेखक ने लिखा है- ''शिक्षक का दायित्व बच्चों का सर्वांगीण विकास करना होता है। वह उन्हें समाज के अन्य व्यक्तियों से आत्मीयता स्थापित करने, प्रेम करने, यथा समय विरोध करने, समाज द्वारा स्वीकृत आचारों एवं मूल्यों को अपनाने, अमान्य आचरणों को अस्वीकारने की शिक्षा देता है। वह बच्चों को सुनने, बोलने, पढ़ने, अभिव्यक्त करने, लिखने और बोल कर तथा लिख कर अन्यों को बताने की कला तथा क्षमता से युक्त करता है। इस अध्याय में लेखक ने विभिन्न आयु वर्ग में दी जाने वाली शिक्षा को विभिन्न स्तरों पर वगीकृत किया है तथा मुखकामावस्था, गुदकामावस्था, प्रजनन कामावस्था, गुप्तकामावस्था, किशोरावस्था, पूर्व प्रौढ़ावस्था, मध्य प्रौढ़ावस्था, उत्तर प्रौढ़ावस्था एवं वार्धक्य में मानव के संपूर्ण जीवन चक्र और तदानुसार उसके मनोविज्ञान का विश्लेषण करते हुए शिक्षक के दायित्व को इंगित किया है कि उन्हें बच्चों की मनोवृत्तियों के अनुसार उनमें समाज में समोजित होने की क्षमता विकसित करनी चाहिए।

'प्रारंभिक विद्यालयीय शिक्षण तथा उसकी विषयवस्तु' शीर्षक के अध्याय में लेखक ने अजीम फांउडेशन की इस उक्ति को संदर्भित किया है 'अगर एक शिक्षक यह मानता है कि उचित हस्तक्षेप से सभी छात्र सीख सकते हैं, भले ही वह भिन्न-भिन्न पृष्ठभूमियों से आते हैं तो इसका शिक्षण कर्म पर सकारात्मक असर पड़ता है। दूसरी तरफ, अगर एक शिक्षक यह मानता है कि किसी छात्र में सीखने की क्षमता कम है तो इसका सीधा नकारात्मक असर वास्तविक शिक्षण पर पड़ता है।''

लेखक ने इस अध्याय में शिक्षा हेतु निर्धारित किये जाने वाले पाठ्यक्रम के संदर्भ में भी चर्चा की है। उदाहरणार्थ छोटे बच्चों को खिलौनों, खेलों आदि के माध्यम से सिखाना चाहिए।

लेखक ने आयु के अनुसार मुहावरों, लोकोक्ति के प्रयोग, नाट्य कथाओं तथा श्रुत लेख आदि की आवश्यकता पर प्रकाश डाला है। लेख के अंत में लिखा है, ''इस प्रकार अद्यावधिक शिक्षा नीति तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टि दोनों ही चित्रात्मक शैली, गेयपद और प्रेरणास्पद तथा जीवन कौशल से समन्वित कहानियों के माध्यम से दी जाने वाली शिक्षण पद्धति का पोषण करती हैं।''

''प्राथमिक शिक्षा के संदर्भ में मूल्यांकन तथा परीक्षा का औचित्य'' शीर्षक के लेख में लेखक ने छात्रों के मूल्यांकन तथा परीक्षा के संदर्भ में विभिन्न मतों को उद्धृत किया है जिसमें कुछ के अनुसार परीक्षा छात्रों के विकास के लिए आवश्यक है तो कुछ के अनुसार परीक्षा, जिन छात्रों के अंक कम आते हैं, उन पर नकारात्मक प्रभाव डालती है। परीक्षा होने तथा न होने के सभी पक्षों को प्रस्तुत करते हुए लेखक इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि परीक्षा होनी चाहिए; लेकिन सतर्कता के साथ बच्चों को वयोजन्य मनोवैज्ञानिक विशेषताओं को दृष्टिगत करते हुए परीक्षण-विधि एवं शैली को अपनाते हुए जिससे बच्चों के आत्म मूल्यांकन की क्षमता बढ़ सके और उन्हें अपनी योग्यता सिद्ध करने का अवसर मिल सके।''

'शिक्षक और उसका बहुआयामी व्यक्तित्व' में बहुत ही महत्त्वपूर्ण बिंदु है कि शिक्षक का एक अच्छा मनोवैज्ञानिक होना अत्यंत आवश्यक है। उक्त अध्याय में ग्रामीण क्षेत्रों में पर्याप्त शिक्षकों के अभाव को भी इंगित करते हुए लिखा है कि इस शैक्षिक व्यवस्था के कारण शिक्षकों के बहु-कक्षा-शिक्षण में प्रवीण होने की तथा निरीक्षक के सक्षम होने की आवश्यकता है। शिक्षक के बहुआयामी व्यक्तित्व पर ही बच्चों की बहुमुखी विकास का आधार है। अतः अपेक्षित है कि शिक्षक न केवल पाठ्यक्रम की शिक्षा दें अपितु अपने आचरण एवं शिक्षा से बच्चों को सदाचार का पाठ भी पढ़ाएँ।

'मानसिक मंदता : लक्षण तथा निदान' अध्याय, शीर्षक के अनुरूप मानसिक रूप से मंद बच्चों की शिक्षा के प्रति सरोकार है। सामान्य बच्चों की शिक्षा तो एक विचारणीय प्रश्न है ही, परंतु उसके अतिरिक्त समाज में अनेक बच्चे अपेक्षाकृत मानसिक रूप से अल्प विकसित होते हैं, स्वाभाविक है कि उनकी ग्राह्य क्षमता भी कम होती है। इस अध्याय में उनकी शिक्षा की दृष्टि से उनको सौम्य, मध्यम, गंभीर तथा अति गंभीर मानसिक मंदता की श्रेणी में वगीकृत करते हुए उनके निदान के संदर्भ में अवगत कराया गया है। निदान में उनके विभिन्न श्रेणी के चिकित्सीय परीक्षण तथा प्रक्षेपी प्रविधियों के आधार पर उनकी मानसिक समस्याओं का निदान खोजा जाता है जिसमें सामाजिक कार्यकर्ताओं का विशेष योगदान होता है।

आधिगमिक क्षमता भिन्न होने के कारण निश्चय ही शिक्षक का सभी बच्चों के व्यक्तित्व के पूर्ण विकास का दायित्व बढ़ जाता है। इसके विषय में लेखक ने, 'आधिगमिक दुर्बलता तथा प्राथमिक शिक्षक के कर्तव्य' अध्याय में लिखा है,

''यह तभी संभव है जब वह अपने छात्रों की मानसिक और सामाजिक समस्याओं को जानता हो। इसके लिउ शिक्षक में मानवीय करुणा और सहयोग की भावना विद्यमान होनी चाहिए।''

लेखक ने समय-समय पर इस संदर्भ में शिक्षकों के प्रशिक्षण को भी आवश्यक बताया है।

'पूर्व प्राथमिक शिक्षा : महत्त्व तथा कार्यान्वयन' शीर्षक के लेख में अवगत कराया गया है कि राष्ट्रीय शिक्षा नीति-2020 के अनुसार 3 वर्ष से 18 वर्ष तक की आयु के बच्चों के लिए 5 वर्ष से पूर्व प्रारंभिक से कक्षा 2 तक की, तत्पश्चात कक्षा 3 से 5 तक की शिक्षा और उसके पश्चात कक्षा 6 से 8 तक की शिक्षा व्यवस्था का प्रावधान किया गया है। इसमें कक्षा पूर्व शिक्षण योजना बच्चों का विद्यालय हेतु तत्पर करने के उद्देश्य से कृत व्यवस्था है। इसके लिए शिक्षकों को बालमनोविज्ञान तथा शारीरिक स्वास्थ्य विषयक प्रशिक्षण प्रदान किया जाता है।

'पूर्व प्राथमिक शिक्षा तथा आधिगमिक दुर्बलता' जैसा कि शीर्षक से स्पष्ट है विद्यालय आने से पूर्व, आधिगमिक दुर्बल बच्चों प्रति शिक्षक के कर्तव्य एवं दायित्वों के संदर्भ में है। इस अध्याय में बल दिया गया है कि इन बच्चों को शिक्षा देने वाले शिक्षकों का बच्चों के प्रति दायित्व अत्यंत संवेदनशील एवं महत्त्वपूर्ण है और इसके लिए मनोविज्ञान की समझ रखने वाले प्रशिक्षित शिक्षकों की आवश्यकता तो है ही, शिक्षकों का समय-समय पर प्रशिक्षण भी होना चाहिए।

'सेवारत प्रशिक्षण : आवश्यकता तथा उपादेयता' अध्याय में भी लेखक ने शिक्षण से पूर्व के प्रशिक्षण के साथ ही कार्यरत शिक्षकों को भी समय-समय पर प्रशिक्षित करने की आवश्कता को स्थापित किया है। इस लेख में इंगित किया गया है कि कुछ लोग यदि शिक्षा दे रहे शिक्षकों के पुनः प्रशिक्षण के पक्षधर हैं तो कुछ के अनुसार यह व्यर्थ है। परंतु लेखक ने अपने तर्कों से समय-समय पर शिक्षकों के प्रशिक्षण को नितांत आवश्यक सिद्ध किया है।

अंतिम अध्याय का शीर्षक है 'शोध तथा विद्यालयी शिक्षा' जो लेखक के अनुसार अति आवश्यक है। विद्यालीय शिक्षा में वयोनुरूप पाठ्यक्रम के निर्धारण, क्षेत्रीय तथा जातीय वंश परंपरागत ज्ञान के सदुपयोग, सामुदायिक संगठन, शारीरिक तथा मानसिक स्वास्थ्यवर्धन और एतदर्थ अभिभावकों एवं शिक्षकों के अभिप्रेरण के लिए शैक्षिक शोध अति महत्त्वपूर्ण होते हैं।

सारांश यह है कि लेखक ने प्राथमिक शिक्षा के लिए आवश्यक सभी पक्षों पर लेख, अपनी इस कृति में संग्रहीत किये हैं तथा बच्चों की पूर्व प्राथमिक शिक्षा से लेकर विद्यालीय शिक्षा हेतु शिक्षकों के कर्तव्य, दायित्व, नीति, पाठ्यक्रम, एवं मंदित तथा आधिगमिक बच्चों तक की समस्या का निदान प्रस्तुत करने का प्रयास किया है जिससे यह पुस्तक प्राथमिक शिक्षा के लिए अत्यंत उपयोगी हो गयी है। इस कृति में लेखक ने सभी प्रायः अंग्रेजी में प्रयुक्त किये जाने वाले शब्दों के अनुवाद करके हिंदी शब्द प्रयोग किये हैं, साथ ही अंत में हिंदी अंग्रेजी-पर्याय में हिंदी शब्दों के लिए अंग्रेजी शब्द की सूची दे कर पाठकों के लिए पढ़ना सुलभ कर दिया है। एक श्रम साध्य शोध परक कार्य हेतु निश्चय ही लेखक प्रशंसा के पात्र हैं। लेखक ने जगह-जगह पर आवश्यकतानुसार विभिन्न संदर्भों एवं उद्धरणों से अपने तथ्यों को सिद्ध करने का प्रयास किया है जो कृति की प्रामाणिकता एवं विश्वसनीयता को बढ़ाते हैं। ❖❖❖

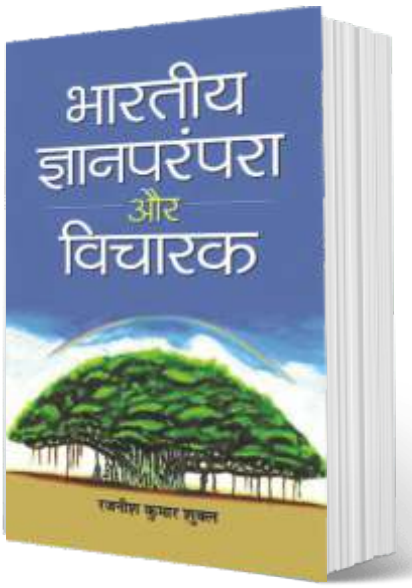

जातीय साहित्य एवं विश्व साहित्य की कड़ी : अनुवाद

डॉ. श्रीनिकेत कुमार मिश्र

संपर्क :
सहायक प्रोफेसर
अनुवाद अध्ययन विभाग
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय
हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

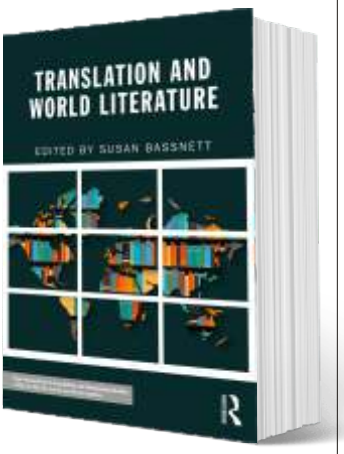

पुस्तक : ट्रांसलेशन एंड वर्ल्ड लिटरेचर
संपादक : प्रो. सुजन बासनैट
प्रकाशक : राउटलेज
वर्ष : 2019
पृष्ठ : 214
मूल्य : 3760 रु.

नोबेल पुरस्कार से सम्मानित पुर्तगाली लेखक जोजे सारामागो का कथन है कि लेखक जातीय साहित्य की रचना करता है जबकि अनुवादक वैश्विक साहित्य का निर्माण करता है। इस अर्थ में अनुवादक साहित्य की परिधि एवं पाठक वर्ग का विस्तार करता है। प्रसिद्ध अनुवाद चिंतक आंद्रे लफवैर ने भी अनुवाद को एक प्रकार का पुनर्लेखन ही माना है। इस प्रकार, अनुवाद को दोयम एवं अनुकरण नहीं, वरन् इसे पुनर्लेखन की श्रेणी में रखना ही श्रेयस्कर प्रतीत होता है। समीक्षक, संपादक एवं सिद्धांतकार-भाष्यकार आदि सामान्यतया एकल भाषा में ही अपना लेखन करते हैं; जबकि अनुवादक किसी पाठ या रचना को उसकी मूल भाषाई सीमाओं से परे ले जाता है, उसकी पहुँच एवं वितान को विस्तारित-प्रसारित करता है। अनुवादक एक से अधिक भाषाओं में अपनी रचनाशीलता को प्रदर्शित कर सकता है। पुस्तक ट्रांसलेशन एंड वर्ल्ड लिटरेचर अनुवाद एवं विश्व साहित्य के विविध पक्षों को हमारे सामने प्रस्तुत करती है।

सुजन बासनैट द्वारा संपादित पुस्तक ट्रांसलेशन एंड वर्ल्ड लिटरेचर (Translation and World Literature) अनुवाद एवं विश्व साहित्य के अंतरसंबंधों पर विस्तृत एवं समेकित विश्लेषण प्रस्तुत करती है। यह अनुवाद, अनुवाद अध्ययन, विश्व साहित्य के साथ-साथ भाषाई अध्ययन, भाषा शास्त्र एवं साहित्यिक अध्ययन पर भी चिंतन-मनन करती है। संपादित ग्रंथ में आवरण पृष्ठ के बाद पुस्तक एवं संपादक के बारे में संक्षिप्त परिचय दिया गया है। इसमें कहा गया है कि पुस्तक विस्तृत एवं अंतरराष्ट्रीय फलक पर विश्व के विभिन्न साहित्यों के प्रचार-प्रसार एवं विस्तार में अनुवाद की जटिल भूमिका को विविध दृष्टिकोणों से समझने में सहायक है। पुस्तक में कुल 11 अध्याय हैं, जिनमें बहुभाषी विद्वानों ने विविध विषयों एवं मुद्दों, यथा अनुवाद की जियोपॉलिटिक्स अथवा भूगोल आधारित अनुवाद की राजनीति, सार्वभौमवाद, मीडिया के बदलते परिवेश, परानुशासनिकता पर अपने विचार रखे हैं। यह किताब पाठ के परासांस्कृतिक संचरण के विमर्श में अनुवाद को परिभाषित-व्याख्यायित करती है तथा विश्व साहित्य में अंग्रेजी भाषा की सत्ता को चुनौती देती है।

संपादक के रूप में सुजन बासनैट ग्रंथ के आरंभ में इसकी विस्तृत भूमिका लिखती हैं। वे पुस्तक की इस प्रस्तावना का शीर्षक 'अनुवाद अध्ययन एवं विश्व साहित्य के उतार-चढ़ाव भरे संबंध' देती हैं, जिसमें वे अनुवाद अध्ययन एवं विश्व साहित्य के परस्पर संबंध को दर्शाती हैं। प्रथमतया वे इस बात की चर्चा करती हैं कि पुस्तक के बारे में विचार कैसे आया। तदुपरांत, वे अनुवाद अध्ययन के विकास क्रम के बारे में लिखती हैं। पुस्तक की भूमिका ग्रंथ में शामिल 11 अध्यायों से कमतर नहीं है। यह अनुवाद अध्ययन के साथ इसके अन्य विषयानुशासनों से संबंध एवं संभावनाओं पर विस्तृत रूप से विवेचन प्रस्तुत करती है। बासनैट बताती हैं कि किस प्रकार अनुवाद अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान की एक शाखा मात्र बनकर सिमट गया और क्यों अनुवाद साहित्यिक अनुसंधानों एवं अध्ययनों के लिए उतना उपयोगी सिद्ध नहीं हुआ जितनी हमें प्रारंभ में अपेक्षा थी। वे कहती हैं कि इस स्थिति के लिए कुछ हद तक अनुवाद अध्ययन भी जिम्मेदार है कि 1990 के दशक में विश्वव्यापी सफलता एवं माँग के बावजूद अनुवाद अध्ययन ने अन्य विद्यानुशासनों से समुचित संवाद का

कार्य नहीं किया। वे कहती हैं कि अनुवाद अध्ययन में तकनीकी पक्ष ज्यादा हावी हो गया और साहित्यिक अनुवाद को उतना महत्त्व नहीं मिला जितना मिलना चाहिए था; इसमें व्यवसायिक पक्ष एवं अभ्यास ज्यादा जुड़ गया और अध्ययन की कमी रही। वे कई अनुवाद चिंतकों, साहित्यिक समालोचकों के माध्यम से अनुवाद, साहित्य, विश्व साहित्य एवं तुलनात्मक साहित्य आदि क्या हैं, इस पर प्रकाश डालती हैं। वे एजरा पाउंड को उद्धृत करते हुए कहती हैं कि संभवतः साहित्यिक रूप से महान युग हमेशा अनुवाद की दृष्टि से भी संपन्न काल होता है, या उस युग के बाद अनुवाद की दृष्टि से भी श्रेष्ठ युग आता है। वे इस बात पर बल देती हैं कि अनुवाद और साहित्य एक दूसरे से अभिन्न रूप से संबद्ध हैं एवं साहित्यिक अध्ययन में अनुवाद का भी प्रयोग होना चाहिए। वे इसमें अन-अनुद्यता की राजनीति पर भी चर्चा करती हैं। वे भाषा एवं साहित्य को अलग-अलग तौर पर देखना नहीं चाहती हैं। अंत में, वे ब्रोडस्की एवं गेन्सटलर के माध्यम से आशा करती हैं कि भविष्य में अनुवाद अध्ययन एवं साहित्यिक अध्ययन का विलय होगा या कम-से-कम साहित्यिक एवं सांस्कृतिक इतिहास की दृष्टि से अनुवाद के महत्त्व को स्वीकार किया जाएगा। सुजन बासनैट द्वारा लिखी हुई यह भूमिका अनुवाद अध्ययन के सभी पक्षों पर अपने विचार रखती है एवं अनुवाद अध्ययन को जानने-समझने हेतु हमें एक समग्र-सम्यक एवं समेकित दृष्टि प्रदान करती है।

पुस्तक का प्रथम अध्याय प्रो. हरीश त्रिवेदी के लेख 'अनुवाद एवं विश्व साहित्य : भारतीय संदर्भ' से आरंभ होता है। वे भारतीय परिप्रेक्ष्य से अनुवाद एवं विश्व साहित्य पर विचार करते हैं। इस अध्याय की शुरुआत प्रो. त्रिवेदी इसी प्रश्न से करते हैं कि क्या अनुवाद के बिना विश्व साहित्य के अस्तित्व की परिकल्पना की जा सकती है? क्या अनुवाद के अभाव में विश्व साहित्य संभव है? इसका उत्तर भी वे स्वयं देते हैं कि अनुवाद के बिना विश्व साहित्य का उचित अध्ययन-अध्यापन संभव नहीं है। परंतु, वे यह भी कहते हैं कि वर्तमान में विश्व साहित्य केवल अंग्रेजी भाषा में ही उपलब्ध एवं सुलभ है, यह स्थिति विश्व साहित्य की मूल भावना एवं उद्देश्यों के विपरीत है। वे अंग्रेजी भाषा के वैश्विक स्तर पर प्रभाव एवं प्राबल्य से चिंतित हैं। वे मानते हैं कि इस ग्लोबल प्रभुत्व से अंग्रेजी का औपनिवेशिक और नव-उपनिवेशवाद का चरित्र उभर कर आता है। अंग्रेजी को ही विश्व साहित्य हेतु मात्र एक भाषा के रूप में पदस्थापित नहीं करना चाहिए, अंग्रेजी के इस एकाधिकार को चुनौती देने की आवश्यकता है। वे कहते हैं कि भारतीय भाषाओं से और भारतीय भाषाओं में अनुवाद का इतिहास अद्वितीय एवं पश्चिमी सिद्धांतों से भिन्न है; यह विश्व साहित्य की स्थापित मान्यताओं से अलग है। भारतीय साहित्य का अंग्रेजी में काफी हद तक अनुवाद हुआ है, लेकिन यह मात्रा समूचे भारतीय साहित्य की तुलना में नगण्य है। तीन हजार वर्षों के बाद भी भारत की प्रमुख 24 भाषाओं में रचा गया साहित्य बाहरी दुनिया में उतना ज्ञात नहीं है। उसी प्रकार, 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक विदेशी भाषाओं के साहित्य का भारतीय भाषाओं में अनुवाद अत्यल्प ही हुआ। वे आगे अंग्रेजी में अनूदित-प्रकाशित ग्रंथों के पाठक वर्ग की तरफ ध्यान आकर्षित करते हैं तथा कहते हैं कि भारत में अंग्रेजी भाषा में साहित्य की रचना, अनुवाद एवं प्रकाशन भारतीय पाठकों को ध्यान में रख कर किया जाता है। भारत में सर्वाधिक बिकने वाली पुस्तकों का प्रकाशन स्थानीय एवं भारत के अंदर ही पढ़ने के लिए किया जाता है। वे कहते हैं कि क्या स्थानीय अंग्रेजी ही विश्व साहित्य के लिए उपयुक्त भाषा होनी चाहिए और इसी अंग्रेजी में अनुवाद कार्य भी होने चाहिए? उनका मानना है कि विश्व साहित्य में 'विश्व' शब्द उन आर्थिक एवं सांस्कृतिक शक्तियों द्वारा परिभाषित एवं संचालित नहीं होना चाहिए जो विश्व

पर प्राबल्य रखती हैं। इस प्रकार, प्रो. त्रिवेदी पहले अध्याय में अनुवाद की प्रकृति एवं विश्व साहित्य को भारतीय संदर्भ में देखने का कार्य करते हैं, जो सभी साहित्य के सुधी पाठकों के लिए अत्यावश्यक है।

पुस्तक के द्वितीय अध्याय 'फ्रेंच में विश्व साहित्य' की रचना लिवरपूल विश्वविद्यालय के फ्रेंच के प्रोफेसर चार्ल्स फोर्सडिक ने की है। इस शोध आलेख का आरंभ प्रो. फोर्सडिक द्वारा मार्च 2007 के 'ल मोंद' (Le Monde) में प्रकाशित 'फ्रेंच भाषा में उपलब्ध विश्व साहित्य' संबंधी घोषणापत्र से होता है। वे कहते हैं कि 2016 तक इस विषय पर लगभग 300 आलेख एवं पाठ प्रकाशित हैं, लेकिन इनमें अनुवाद एवं इसकी प्रक्रिया के प्रश्न पर चर्चा कम ही है। इसका उद्देश्य मुख्यतः फ्रंकोफोन केंद्रित साहित्य पर ही रहा। वे कहते हैं कि 'फ्रंकोपोलीफोनी' शब्द पूर्व के 'फ्रंकोफोन' शब्द को प्रतिस्थापित कर रहा है, जिसमें जातीय भाषावैज्ञानिक एवं राष्ट्रीय बोध जुड़े हुए हैं। वे इस बात पर बल देते हैं कि किसी भी साहित्यिक इतिहास में बहुभाषी संवाद एवं अस्तित्व के महत्त्व को स्वीकार करना होगा। इस अध्याय से हमें फ्रंकोफोन विश्व एवं उसके साहित्य के बारे में पता चलता है। फ्रंकोफोन विश्व 'विश्व साहित्य' या 'वेल्टलितेरातुअर' की परिकल्पना को आज किस प्रकार देख रहा है, इसकी हमें जानकारी मिलती है। इसमें भाषाओं के सह-अस्तित्व, समन्वय एवं संवाद पर बल दिया गया है।

आजुसेना ब्लांको भी अपने लेख में विश्व साहित्य के किसी भी अध्ययन हेतु बहुभाषिक एवं सहयोगात्मक प्रतिदर्श पर बल देती हैं। वे कहती हैं कि विश्व साहित्य की दृष्टि से समुदाय की संकल्पना बहुत महत्त्वपूर्ण है तथा वे मानती हैं कि 'वेल्टलितेरातुअर' की संकल्पना के विकास से लेकर वर्तमान बहुआयामी विश्व साहित्य में रूपांतरण तक में अनुवाद का अहम योगदान रहा है। इसमें वे बोर्खेस के 'अलिफ़ लैला' के अनुवादकों पर आधारित लेख और फ्रान्ज काफ्का के स्पेनिश अनुवाद के दृष्टांत के माध्यम से विस्तृत ब्यौरा प्रस्तुत करती हैं।

'अनुवाद एवं सार्वभौमिकता' में पाउलो दे मेदेइरोस अपना आलेख अंग्रेजी नहीं वरन् जर्मन भाषा में वाल्टर बेंजामिन के प्रसिद्ध कथन से आरंभ करते हैं, जिसका अर्थ है- 'क्या अनुवाद उन पाठकों के लिए है जो मूल ग्रंथ को समझ नहीं सकते?' जो व्यक्ति मूल पाठ की भाषा को नहीं जानता है, वह मानकर चलता है कि अनूदित पाठ अपने मूल पाठ के संदेश को हू-ब-हू संप्रेषित कर रहा है। उसके सामने एक ही पाठ मौजूद होता है, तथा उसी के आधार पर वह मूल ग्रंथ के बारे में अपनी राय बनाता है। इस अध्याय में प्रो. मेदेइरोस पुर्तगाली भाषा में रचे गये साहित्य के माध्यम से अपनी बात रखते हैं। हालाँकि, पुर्तगाली को विश्व की प्रमुख भाषाओं में कम ही गिना जाता है, फिर भी अपने साम्राज्यवादी अतीत के कारण पुर्तगाली बोलने-समझने वालों की संख्या करोड़ों में है। वे एस्पेरांका बिएल्सा के प्रस्ताव पर चर्चा करते हैं, जिसमें कहा गया है कि नयी वैश्विक सार्वजनीनता को अनुवाद आधारित बनाने की आवश्यकता है। वे मोजांबिक के लेखक मिया कुतो एवं पुर्तगाल के कवि फेरनान्दो पेसोआ के माध्यम से किसी पाठ के मूल पाठक वर्ग की सीमा से बाहर के संचरण की प्रक्रिया को दिखाते हैं। वे पाठ की कमीशनिंग, प्रसरण एवं उसके मार्केटिंग पर बल देते हैं एवं उनके अनुवाद को प्रसिद्ध एवं लोकप्रिय बनाने में इनके महत्त्व को स्वीकार करते हैं। इस अध्याय में मेदेइरोस सांस्कृतिक आदान-प्रदान एवं संवाद को महत्त्व देते हुए अनुवाद एवं विश्वजनीनता के अंतर संबंध को रेखांकित करते हैं।

प्रो. सेजार दोमिन्गेस अपने अध्याय 'गुआल्तेरियो एस्कोतो विश्व साहित्य का प्रसिद्ध लेखक' में वाल्टर स्कॉट के साहित्य की लैटिन अमेरिका में अभिग्रहण का विस्तृत विवेचन करते हैं। वाल्टर स्कॉट किस प्रकार से लैटिन अमेरिका तत्पश्चात पूरे विश्व में इतने प्रसिद्ध-लोकप्रिय हुए, इसका विश्लेषण इस शोध आलेख में है। वे किसी पुस्तक के कम्युनिकेशन सर्किट अथवा संचरण परिपथ एवं इसकी क्रियाविधि की बात करते हैं कि किस प्रकार एक पुस्तक लेखक से प्रकाशक के पास, उसके बाद वितरक एवं अंत में पुस्तक विक्रेता के माध्यम से होते हुए अपने पाठक तक पहुँचती है। उन्होंने अपने इस अध्ययन के लिए एक विशाल कार्पस का चयन किया है, जिसमें वाल्टर स्कॉट की सौ रचनाएँ शामिल हैं। इस पाठ में प्रो. दोमिन्गेस ने वाल्टर स्कॉट के लिए 'गुआल्तेरियो एस्कोतो' शब्द का प्रयोग किया है। वाल्टर स्कॉट इसी नाम से पूरे हिस्पैनिक साहित्यिक जगत में जाने जाते हैं।

पुस्तक के छठे अध्याय 'जर्मन, अनुवाद एवं चेर्नोवित्ज' में प्रो. शेरी साइमन भी पाठ के प्रचार-प्रसार, संचरण-परिसंचरण एवं इसकी क्रिया-विधि के बारे में चिंतनशील हैं। उनकी रुचि

शहरों के ट्रांसनेशनल विस्तार के बारे में है। वे अनुवाद में लिंग की भूमिका के बाद, वर्तमान में शहरों के अनुवाद एवं भाषाई वर्तमान-अतीत, स्थिति-अवस्थिति से संबंधित शोध-चिंतन एवं लेखन से संबद्ध रही हैं। इस अध्याय में वे यूक्रेन के शहर चेर्नोवित्ज में जर्मन भाषा का प्रयोग, अनुवाद की स्थिति आदि विषय पर बात करती हैं। उन्होंने अनुवाद की सांस्कृतिक संचरण एवं उसके क्रमागत विकास में क्या भूमिका रही है, इस पर चर्चा की है। जर्मन भाषा की विश्व साहित्य में क्या भागीदारी है, पुस्तक इस पर भी प्रकाश डालती है। अध्याय के अंत में, वे चेर्नोवित्ज के चार लेखकों एवं उनके कार्यों का भी विश्लेषण करती हैं। पुस्तकालय का भाषाई, साहित्यिक समुदाय की साझी संवेदना से कितना एवं कैसा संबंध एवं लगाव हो सकता है, इसे वे अमिताभ घोष के उद्धरण से दर्शाती हैं। यह शहरों की बहुभाषिक प्रकृति एवं उनके भाषाई व्यवहार को समझने के क्रम में ही लिखा हुआ अध्याय जान पड़ता है, जहाँ जर्मन को भिन्न संदर्भ से देखने की भी बात की गयी है।

मार्टिन गास्पर का 'लैटिन अमेरिका में गौण अनुवाद एवं लोकप्रिय विश्व साहित्य' नाम से लिखा गया अध्याय लैटिन अमेरिका में अनुवाद एवं विश्व साहित्य की दो धारणाओं पर विचार करता है। अध्याय का आरंभ ही इस वाक्य से होता है कि लोकप्रियता विश्व साहित्य अध्ययन में असहजता को जन्म देती है। प्रो. गास्पर इस संदर्भ में विश्व साहित्य के अग्रदूत गोयथे की भी चर्चा करते हैं। वे कहते हैं कि गोयथे भी पारंपरिक, लोकप्रिय साहित्य से असहज महसूस करते थे। गास्पर का यह अध्याय विश्व साहित्य एवं अनुवाद की इन दो धारणाओं एवं मान्यताओं पर प्रश्न करता है। वे मानते हैं कि अनुवाद हेतु पाठों के चयन में भेदभाव होता है तथा सौंदर्यशास्त्र की दृष्टि से नवाचारी एवं राजनीतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण ग्रंथों के अनुवाद पर बल दिया जाता है। अन्य पारंपरिक एवं प्रचलित साहित्य को अनुवाद की दृष्टि से अनदेखा कर दिया जाता है। वे 'द कॉल ऑफ द वाइल्ड' के अनुवादों का उल्लेख करते हुए बताते हैं कि पारंपरिक सर्वप्रिय साहित्य का भी हमें अनुवाद करना चाहिए एवं अनूदित पाठ की सफलता-असफलता को पाठकों पर छोड़ देना चाहिए।

'माक्सिम गोर्की एवं विश्व साहित्य' शीर्षक आलेख में प्रो. स्वेतलाना पेज ने विश्व साहित्य की अवधारणा को रूसी दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया है। वे कहती हैं कि विश्व साहित्य की जैसी परिकल्पना पश्चिमी जगत करता है, उससे भिन्न अवधारणा रूसी साहित्य के विकास में परिलक्षित होती है। इसे समझने के लिए वे माक्सिम गोर्की परियोजना का अध्ययन-अवलोकन करती हैं। इस परियोजना का उल्लेख इस अध्याय में प्रो. पेज विस्तृत रूप से करती हैं, जिससे हमें इसकी संकल्पना एवं प्रविधि को जानने-समझने में सहायता मिलती है। यह अध्याय हमें अनुवाद अध्ययन के लिए आवश्यक साहित्यिक व्यवस्था की द्वंद्वात्मकता को समझने पर बल देता है। यह पाठ रूसी दृष्टिकोण से विश्व साहित्य को समझने में निश्चय ही सहायक है।

सेसिलिया अल्वास्ताद ने अपने अध्याय में खोर्खे लुईस बोर्खेस के अनुवाद कार्य के बारे में विस्तृत रूप से लिखा है। उन्होंने बताया है कि बोर्खेस एक महान लेखक के साथ-साथ एक उम्दा अनुवादक भी थे। उन्होंने अनुवाद पर कुछ मौलिक लेख भी लिखे थे। इस अध्याय में प्रो. अल्वास्ताद ने यह दर्शाने का प्रयास किया है कि किस प्रकार एक ही लेखक एवं यहाँ तक कि उसकी एक ही कृति को भिन्न-भिन्न अनुवाद अलग-अलग रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं। इन अनुवादों से लेखक की छवि भी अलग-अलग उभर सकती है। एक ही पाठ के अनुवाद के दौरान विकल्पों के चयन एवं उनके प्रस्तुतीकरण की शैली के कारण अनुवाद विविध रूप में सामने आ सकता है। अनूदित पाठ अलग-अलग तरीके से मूल पाठ को लक्ष्य भाषा के पाठकों के सामने प्रस्तुत कर सकता है। इस शोध आलेख में खोर्खे लुईस बोर्खेस की रचनाओं के विविध अनुवादों के माध्यम से प्रो. अल्वास्ताद ने यही दिखाने की कोशिश की है। वे उद्धृत उदाहरण से हमें अनुवाद कर्म की बारीकियों एवं अनुवाद के विकल्पों से परिचित कराते हैं। अनुवाद अध्ययन एवं अभ्यास की दृष्टि से यह आलेख बहुत ही महत्त्वपूर्ण है एवं एक ही साहित्यिक कृति के विभिन्न अनुवादों के तुलनात्मक अध्ययन के लिए यह एक आदर्श प्रतिदर्श प्रस्तुत करता है।

कारिन लिटो अपने शोध आलेख 'विश्व साहित्य के दो युग' में गोयथे के समय में विश्व साहित्य की संकल्पना एवं आधुनिक काल में विश्व साहित्य की अवधारणा पर तुलनात्मक विश्लेषण प्रस्तुत करती हैं। वैश्विक साहित्य के प्रसरण में मीडिया का बहुत महत्त्वपूर्ण योगदान है। प्रो. लिटो मानती हैं कि जिस प्रकार वर्तमान युग में विश्व साहित्य के प्रचार-प्रसार एवं संचरण में मीडिया की

भूमिका अहम है, इसी प्रकार गोयथे के समय में भी मीडिया ने विश्व साहित्य अथवा 'वेल्टलितेरातुअर' के विचार के प्रसरण में अपना योगदान दिया था। वे यहाँ स्पष्ट करती हैं कि दोनों समय की मीडिया में अंतर है। गोयथे के समय में प्रिंट मीडिया अपने उत्थान पर था और ज्यादा से ज्यादा साहित्य इस माध्यम से पाठकों तक अपनी पहुँच बना रहा था। वे आगे अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए प्रो. डेविड डैमरॉश के प्रस्ताव – 'विश्व साहित्य परिसंचरण एवं पठन-पाठन का माध्यम है' - का सहारा लेती हैं।

अंतिम अध्याय 'भूमध्य का पुनरवलोकन' में साइप्रस के लेखक, अनुवादक, समीक्षक एवं वृत्तचित्रों के निर्माता प्रो. स्तेफानोस स्टेफनीड बहुभाषी विश्व में पहचान एवं अस्मिता के प्रश्न को रेखांकित करते हैं। वे कहते हैं कि किसी भी पाठ का सूक्ष्म एवं समग्र दोनों अवलोकन होना चाहिए। सूक्ष्म अवलोकन के लिए हमें वस्तु को काफी करीब से देखना होता है तथा किसी पाठ या वस्तु को उसकी समग्रता में देखने-समझने के लिए उसे दूर से समीक्षा करना आवश्यक होता है। उनका विश्वास है कि विश्व साहित्य को लेकर सभी की अपनी समझ भिन्न-भिन्न हो सकती है। वे मानते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति की विश्व की समझ अनुभवजन्य होती है तथा यह उसके अपने हस्तक्षेपों का क्रियात्मक परिणाम होती है। वे कहते हैं कि लेखन और अनुवाद दोनों ही प्रयोगमूलक हैं। वे अपने विचारों को साइप्रस एवं आसपास के भौगोलिक क्षेत्रों के उदाहरणों से चित्रित करने का प्रयास करते हैं।

पुस्तक विश्व साहित्य में भाषाओं की स्थिति एवं शक्ति-सामर्थ्य के साथ ही उनके परस्पर संवाद को अनुवाद के माध्यम से दर्शाती है। जैसा कि पुस्तक के शीर्षक से ही स्पष्ट है, यह ग्रंथ अनुवाद एवं साहित्य विशेषकर विश्व साहित्य के विविध पहलुओं पर बात करता है। पुस्तक के संपादक सहित अध्यायों के सभी लेखक अनुवाद कर्म, अनुवाद अध्ययन या विश्व साहित्य के अध्ययन-अध्यापन से जुड़े ख्यातिलब्ध विद्वान हैं। वे अलग-अलग तरीकों से विश्व साहित्य में अनुवाद की भूमिका को जाँचने-समझने का प्रयास करते हैं। वे सभी अपने-अपने ढंग से भाषाओं के बीच संवाद को विश्लेषित करने का प्रयत्न करते हैं। वे अन्य भाषाओं के साहित्य को समझने में अनुवाद के योगदान को रेखांकित करने की कामयाब कोशिश करते हैं। इन विभिन्न शोध आलेखों से हमें पता चलता है कि किस प्रकार से एक पाठ या साहित्यिक कृति अपने मूल भाषाई परिवेश से बाहर प्रसरण-संचरण करती है तथा वे कौन-कौन से राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं नीतिविषयक कारक हैं जो साहित्यिक पाठों के परिसंचरण को प्रभावित करते हैं।

इस संपादित पुस्तक की कुछ सीमाएँ भी हैं। इस ग्रंथ में अंग्रेजी, फ्रांसीसी, जर्मन, रूसी, स्पेनिश, पुर्तगाली आदि भाषाओं में रचे गये विश्व साहित्य एवं उनके अनुवादों की चर्चा की गयी है, परंतु ग्रंथ में मध्य-पूर्व एशिया, चीन-जापान एवं अन्य एशियाई देशों के साहित्य पर लगभग नहीं ही लिखा गया है। प्रो. हरीश त्रिवेदी का एकमात्र लेख है जो एशिया विशेषकर भारत के संदर्भ में विश्व साहित्य एवं अंग्रेजी भाषा की स्थिति पर प्रकाश डालता है। प्रो. स्तेफानोस स्टेफनीड के आलेख में 'अनुवाद की दृष्टि से भूमध्य का पुनरवलोकन' में उल्लिखित 'नेति नेति' का उद्धरण दिया गया है। इस प्रकार, पुस्तक में यदि फारसी-अरबी, संस्कृत, चीनी-जापानी आदि एशियाई भाषाओं में रचे गये साहित्य पर भी कुछ सामग्री होती तो यह पुस्तक विश्व साहित्य की परिकल्पना में समग्र होती। किंतु, पुस्तक जितने बड़े क्षेत्र एवं विषय को अपने में समेटे हुए है, वह अपने आप में बहुत विशाल है एवं यह एक सराहनीय कार्य है।

'ट्रांसलेशन एंड वर्ल्ड लिटरेचर' ग्रंथ के अध्ययन से हमें भाषा-साहित्य-अनुवाद सभी के अंतरसंबंध का पता चलता है। इससे हमें पाठ के स्थानिक एवं कालिक संचरण का भी भान होता है। समय के साथ एवं स्थान परिवर्तन के कारण किसी साहित्यिक पाठ के महत्त्व में किस प्रकार के बदलाव होते हैं, यह पुस्तक से समझने में सहायता मिलती है। पुस्तक की रचना विद्वत् वर्ग एवं अनुवाद अध्ययन के वितान को ध्यान में रख कर की गयी है। प्रस्तुत ग्रंथ अपने उद्देश्यों में सर्वथा सफल है। प्रस्तुत पुस्तक अनुवाद अध्ययन, तुलनात्मक साहित्य एवं विश्व साहित्य के साथ- साथ साहित्य, समालोचना के क्षेत्र में कार्य कर रहे शोधार्थियों-विद्यार्थियों एवं विद्वानों के लिए उपादेय है। पुस्तक का अनुवाद अंग्रेजी से हिंदी भाषा में किया जाए तो यह ज्यादा बड़े पाठक समूह तक अपनी बात एवं विमर्श को पहुँचाने में और अधिक उपयोगी सिद्ध होगी। ❖❖❖

आईने के पीछे की काली परत

सौरभ चतुर्वेदी

संपर्क :
शाखा प्रबंधक
बड़ौदा यूपी बैंक
शाखा बाँसडीह
बलिया
मोबाइल - 8795849601

पुस्तक : चाँदपुर की चंदा
लेखक : अतुल कुमार राय
प्रकाशक : हिन्दयुग्म प्रकाशन
वर्ष : 2016
पृष्ठ : 199
मूल्य : 286 रु.

यूँ ही एक दिन रविवार को अपने गाँव गया था। पिताजी पूरे घर का रंग-रोगन कराना चाहते थे। लिहाज़ा, राय-मशवरे के लिए मुझे भी हाजिर होने को कहा गया। घर की साफ-सफाई में एक पुराना उपेक्षित बक्सा मिला। बक्से को खोला गया तो दुनिया भर के कबाड़ के साथ अप्रैल 1996 की 'चंपक' पत्रिका मिली। उन दिनों घर में छः साल का बच्चा मैं ही था तो ज़ाहिर सी बात है कि वो पत्रिका भी मेरे लिए ही आयी होगी। मेरे पिता और चाचा लोगों की पठन-पाठन में रुचि होने के कारण जब से होश संभाला तभी से हिंदी साहित्य के मूर्धन्यों को अक्षरों में छपे हुए, देखते ही बड़ा हुआ। 'कादम्बिनी', 'हंस', 'नया ज्ञानोदय' जैसी पत्रिकाओं को समझने की शुरुआत भले देर से हुई, लेकिन उनसे परिचय तभी से रहा जब से चंपक, नंदन या चाचा चौधरी और साबू के साथ नागराज, डोगा और सुपर कमांडो ध्रुव से दोस्ती रही।

मेरा बेटा अभी सात साल का है, वो चंपक मैंने उसे पढ़ने को दी। चंपक को देखकर उसकी पहली प्रतिक्रिया ही ऐसी थी कि मेरे भीतर का नॉस्टेल्जिया उत्साहहीन हो गया। यह मेरे लिए एक बड़ी बात थी.. पढ़ने-लिखने के प्रति मेरे ही समाज में कुछ ऐसा हो रहा है जिससे मैं बिल्कुल ही अनभिज्ञ हूँ।

अपने सोशल अवेयरनेस को थोड़ा और अपडेट करने के लिए मैं गाँव में निकला.. इसबार मुझे दूना आश्चर्यजनक अनुभव हुआ क्योंकि न सिर्फ छोटे बच्चों बल्कि 11वीं - 12वीं के विद्यार्थियों से लगायत एम.ए., बी.ए. के विद्यार्थियों के पास भी किसी पत्र पत्रिका का होना तो दूर उनके विषय में सामान्य जानकारी भी नहीं थी।

एक बात और, इन सबके पास स्मार्टफोन्स थे और सोशल मीडिया पर लगभग सभी के अकाउंट्स भी थे। लगभग आधे घंटे कुछ बच्चों से बात करने के बाद मुझे इतना समझ मे आने लगा कि आज केवल पढ़ाई पर ही ऑनलाइन का प्रभाव नहीं है बल्कि नई पीढ़ी की चेतना, उसकी सोच और जीवन जीने के प्रति उसका नज़रिया भी डिजिटल हो गया है। उसके साथ कदम मिलाना ही उचित है और अनिवार्य भी।

यहाँ ध्यान देने वाली बात है कि मैं बलिया जिले के पूर्वी छोर पर नितांत देशज अपने गाँव में अपने बाद की पीढ़ी से मुख़ातिब था। हिंदी साहित्य की कृतियों के प्रति काफ़ी उदार मेरे बचपन के गाँव में ऐसा अनुभव निराशाजनक था। मैंने अपनी आशा को थोड़ा और जीवन देने के लिए उनसे पूछा कि इधर फेसबुक या व्हाट्सएप के अतिरिक्त भी कुछ पढ़ा है?

'चाँदपुर की चंदा'..अतुल भईया लिखे हैं।

एक का उत्तर था।

'चाँदपुर की चंदा' इन दिनों की बड़ी ही चर्चित किताब है। मेरे ही जिले के एक युवक अतुल कुमार राय ने इस किताब को लिखा है। मैंने भी इसकी चर्चाओं के बाद इसे पढ़ा।

चूँकि मेरे भीतर की बौद्धिकता ने मुझे यह बताया है कि मैं छः साल की उम्र से ही हिंदी की पत्रिकाएँ पढ़ रहा हूँ और अबतक हिंदी साहित्य की सैकड़ों किताबें, उन किताबों की समीक्षाएँ, आलोचनाओं के साथ अंग्रेजी साहित्य में भी ठीक-ठाक पढ़ लिया है। साहित्यिक सेमिनारों, गोष्ठियों और विमर्शों में मेरे बोलने पर तालियाँ बजती हैं, इसीलिए मेरी पाठकीय दृष्टि पर चढ़े हुए चश्मे से किताब ठीक-ठाक ही

लगी।

लेकिन अपने गाँव के लड़कों के साथ के अनुभव के बाद मुझे अपनी दृष्टि पर ही संदेह हुआ और ऐसा लगा कि मैं वो नहीं पढ़ पाया हूँ जो लेखक ने लिखा है और जिसे ये बच्चे भी अच्छे से समझ गए हैं और मैं चूक गया।

मुझे किताब को फिरसे पढ़ना था और इसबार मैंने इसे बिना किसी चश्मे के, बिना किसी अहंकार और बिना किसी पूर्वाग्रह के पढ़ा।

वाह! एक-एक कर पन्ने पलटते रहे और भीतर का जो कुछ भी था, वो सब बहता रहा।

ग़ज़ल को जैसे गाया नहीं जाता, बल्कि पढ़ा जाता है.. उसी तरह उपन्यास लिखा नहीं जाता बल्कि कहा जाता है।

उपन्यास की कहानी पर बात करना उपन्यासकार के साथ अन्याय होगा क्योंकि ऐसा उन पाठकों के साथ भी ज्यादती होगी जो इसे आने वाले समय में पढ़ेंगे। एक-एक पन्ने का रस क्रमवार मिलना ही इस किताब का सच्चा आनन्द है।

बलिया रेलवे स्टेशन से चाँदपुर की कहानी शुरू होती है जो एक लयबद्ध तरीके से पात्र दर पात्र अपने नायक 'मंटू' और नायिका 'पिंकी' तक पहुँचती है। चाँदपुर के केंद्र में मंटू और पिंकी होते हैं और उनके इर्द गिर्द ही पूरी कहानी का रोचक ताना बाना बुना गया है। कहानी की विषयवस्तु चाँदपुर है, नायक भी चाँदपुर है और निष्कर्ष भी चाँदपुर है।

एक गाँव जो नदी के किनारे बसा है, जिसकी भौगोलिक संरचना नदी ने कुछ इस तरह की कर दी है कि प्रत्येक वर्ष की बाढ़ के बाद उसकी सीमाओं को लेकर भी कोई निश्चय न हो सके। इसी गाँव में

हिंदी साहित्य की एक विशेषता रही है, यहाँ प्रत्येक पीढ़ी ने अगली को नकारा है और लताड़ लगायी है। एक-दूसरे को खारिज करने की प्रवृत्ति हर काल में रही है और इसके बाद भी अच्छे लेखन को नये-पुराने के दृष्टिकोण के इतर अपना स्थान हमेशा मिला है।

अपनी मौसी के घर 'मंटू' रहता है.. मंटू का छोटा-सा परिवार है जिसे पूरा कर देता है उसका दोस्त राकेश। मंटू के परिवार के साथ ही कहानी में शामिल हैं छोटे-बड़े अनेकों पात्र जो पूर्ण करते हैं कथानक को।

कथानक प्रथम दृष्टया एक प्रेम कहानी है जो, एक गाँव मे शुरू होकर गाँव में ही पूर्ण होता है। लेकिन, पूरा पढ़ लेने के बाद पता चलता है कि लेखक ने मंटू और पिंकी की कहानी कहते-कहते सैकड़ों चाँदपुर और चाँदपुर की चंदाओं की कथा कह दी है। मैंने अपने ही जिले में हर साल बाढ़ की विभीषिका देखी है और इस विभीषिका का वीभत्स परिणाम अपनी आँखों से देखा है।

चाँदपुर गाँव भी डूबता है वास्तविकता में भी और कहानी में भी। किंतु, इसबार कहानी में डूबा हुआ चाँदपुर देश-दुनिया को 'चाँदपुर की चंदा' से रू-ब-रू कराता है।

आपदाओं के दौर में प्रशासनिक ढोल कितने पोपले होते हैं, मीडिया और समाजसेवी एनजीओज़ का गठबंधन कितना खतरनाक हो गया है, आपदा नियंत्रण का वास्तविक अर्थ क्या है? मंटू और चंदा की कहानी कहते कहते अतुल धीरे से समझा गये हैं।

एक जगह एक पात्र खेदन एक अधिकारी से कहता है.. 'आपदा नियंत्रण उसको कहा जाता है जिसमें, ऑफिसरों, नेताओं और समाजसेवियों की मौज होती है।'

चाँदपुर की चंदा को अतुल सिर्फ मंटू की प्रेमिका तक ही सीमित नहीं रखते हैं। वे स्त्री के मौलिक अधिकारों और धरातलीय सशक्तीकरण के लिए तत्पर हैं। कहानी में चंदा के अतिरिक्त दो और स्त्री पात्र हैं..एक चंदा की बहन 'पूनम' और दूसरी मंटू की बहन 'गुड़िया'.. इसके अतिरिक्त एक और लड़की 'सविता' का जिक्र अतुल करते हैं जो चंदा की सहेली है।

चंदा इन सबके साथ-साथ पूरे देश की लड़कियों की ओर से एक दृश्य में कहती है.. 'बाबा! चाँदपुर में किस बेटी की औकात है कि अपने बाप के सामने बैठ जाए? इतनी हिम्मत किसी बेटी में आ जाती और इतना-सा ज्ञान किसी बाप को हो जाता तो न किसी लड़की को घर से भागना पड़ता, न ही किसी को जहर खाना पड़ता।'

'आप रमेसर चौधरी से क्यों न पूछे कि डेढ़ लाख दहेज देकर गुड़िया की शादी कर रहे हो, दस-बीस हजार लगाकर गुड़िया को पढ़ा लिखाकर पैरों पर खड़ा कर दिये होते तो आज मिट्टी तेल डालकर उसे आग लगाने की नौबत न आयी होती।'

सही ही तो कहती है चंदा..आज भी तो लड़कियों का पैदा होना उनके माता-पिता के लिए अवांछित चिंताओं की खेंप है। लड़कियों के विवाह और दहेज की चिंताओं के आगे उनका करियर, सामाजिक और पारिवारिक प्रतिष्ठा गौण कर दी जा रही है। एक चंदा तो हर घर में होनी चाहिए।

इस किताब को पढ़ने के पूर्व एक पूर्वाग्रह मेरे मन में था कि मैंने प्रेमचंद को

पढ़ा है, भगवतीचरण वर्मा, धर्मवीर भारती, रेणु, श्रीलाल शुक्ल, निर्मल वर्मा, शिवानी और हजारीप्रसाद द्विवेदी जैसों को पढ़ा है तो फिर ऐसा क्या है जो मैं अतुल की किताब पढ़ने में अपना पैसा और समय दोनों जाया करूँ?

इस किताब को दुबारा पढ़ लेने के बाद कुछ-कुछ स्पष्टीकरण मुझे मिलने लगा..

जिस दौर की हिंदी को मैंने मानक बनाया हुआ है, उस दौर की हिंदी ने तकनीकी सुविधाओं का मजा नहीं लिया था... प्रेमचंद को प्रेमचंद बनने में कितने साल लग गये और आज इलेक्ट्रॉनिक प्लेटफार्म पर पोस्ट लिखकर और फिर दिनभर लाइक गिनते-गिनते सौ लाइक होते ही अनेक प्रेमचंद हो जाते हैं... कभी-कभी तो यह थोड़ा ठीक भी लगता है कि साहित्यिक बौद्धिकता की ठेकेदारी सोशल मीडिया के कारण समाप्त हो रही है..हर पत्र-पत्रिका के लिए सोशल मीडिया पर आना मजबूरी हो गयी है... आत्ममुग्धता और कोरी संतुष्टि की साहित्य-सेवा के समय में जहाँ एक मिनट में रचना लिखकर अगले ही पल कमेंट्स का स्वाद लेते हुए अपने वालों की वाह-वाह और जलने वालों की थू-थू से ही पता चलता है कि रचना का स्तर क्या है... अब ऐसे में मेरे उस पुराने आदर्शोन्मुख यथार्थवाद को अपडेट करने का कोई प्लेस्टोर कहाँ से लाया जाए?

इसके अतिरिक्त हिंदी के कवियों ने संस्कृत के लेखकों ने अथवा कुछ अंग्रेजी के भी विद्वानों ने ऐसा लिख दिया है कि दूसरों के लिखने के लिए विषयों का अकाल पैदा कर दिया है। ऐसे में आजकल लिखा जाने वाला साहित्य अधिकतर लेखक की अपनी कुंठा, पूर्वाग्रह या एजेंडे का इबारतीकरण ज्यादा लगने लगता है।

ऐसे में एक किताब यही कोई तीस साल का लेखक लिखता है और एक बहुत बड़ा वर्ग जिसे कभी भी हिंदी साहित्य का पाठक नहीं समझा गया, उसकी जुबान पर जब इस किताब के पात्र हैं तो लगता है कि अब वो समय आ गया है जब हिंदी को पढ़ने और लिखने दोनों के ही तरीकों में एक क्रांतिकारी परिवर्तन के लिए ही ये किताब लिखी गयी है।

किताब में एक प्रसंग ग्रामसभा के चुनाव का भी है। देश की संसद से लेकर ग्रामपंचायत तक के चुनाव के परिणाम केवल मतपेटिकाएँ ही तय नहीं करती। कहानी कहते-कहते अतुल बड़े करीने से इसे भी समझा गये हैं।

कहानियों में थ्रिल और एक्शन को पसंद करने वाला व्यक्ति जब 'मंटू' जैसे विशुद्ध प्रेमी को नायक मानने लगे और यह स्वीकार करने लगे कि 'चंदा' जैसे पात्रों का चरित्र अपने नायक की तुलना में अधिक स्ट्रांग होकर भी प्रेम की कसौटी पर जब परखा जाता है तो वो नायक के साथ ही खड़ी होती है और कहानी पूरी होते-होते सरलता के नये प्रतिमान गढ़ती है।

लिखने की शैली ऐसी है कि कहानी के पात्रों के साथ गाँव के पोखर, तालाब, स्कूल और नदी के तट को भी पाठक अपना समझने लगता है।

पात्रों के चयन में बड़ी बारीकी से ग्रामीण-सामाजिक, ताने-बाने का ध्यान रखा गया है। पात्रों के नाम भी बड़े मजेदार रखे गये हैं। नेता डब्लू डेंजर हैं, कवि आग्नेय जी के शिष्य अलगू आतिश उर्फ चिंगारी जी हैं। एक और मजेदार पात्र सूरज जलजला है। कुल मिलाकर ये उपन्यास एंटरटेनमेंट, मैसेज, सटायर और रिफॉर्मेशन का एक कम्प्लीट पैकेज है।

हिंदी साहित्य की एक विशेषता रही है, यहाँ प्रत्येक पीढ़ी ने अगली को नकारा है और लताड़ लगायी है। एक-दूसरे को खारिज करने की प्रवृत्ति हर काल में रही है और इसके बाद भी अच्छे लेखन को नये-पुराने के दृष्टिकोण के इतर अपना स्थान हमेशा मिला है।

अतुल के इस उपन्यास की शुरुआत है अभी। अभी प्रशंसाओं का दौर है, आगे आलोचनाएँ भी होंगी और काफी कठोर भी होंगी। किंतु, इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि अतुल कुमार राय की 'चाँदपुर की चंदा' ने हिंदी को भारी संख्या में नये पाठक दे दिये हैं। मोबाईल की स्क्रीन के अतिरिक्त अब कागज़ के पन्नों पर आँखे टिकने लगी हैं। मेरे गाँव में तो लड़को ने कुछ विशेष नंबर अपने-अपने मोबाइल में 'चंदा' नाम से सेव करना शुरू कर दिया है।

अच्छा लगता है... पठनीयता के संक्रमण काल में अतुल से उम्मीद जगती है और अब तो यह किताब उस अवस्था में पहुँच चुकी है जहाँ प्रत्येक पाठक या तो इसकी प्रशंसा करेगा अथवा बुराई... किंतु, अब कोई इस किताब के प्रति निरपेक्ष नहीं रह सकता।

बुकस्टाल्स के लगभग प्राणहीन होते जाने के दौर में बलिया के एक बुकस्टाल से एक दिन में पाँच सौ प्रतियों का बिक जाना मेरे जैसे हिंदीभक्तों के लिए उत्साहित होने का समाचार है।

'चाँदपुर की चंदा' अभी शुरू हो रही है। कहना अतिश्योक्ति नहीं होगी कि हिंदी के प्रत्येक मंच पर, प्रत्येक गलियारे में शीघ्र ही इसकी चर्चाएँ होंगी। ❖❖❖

कालचक्र की पदचाप

प्रदीप कुमार ठाकुर

संपर्क :
प्रदीप कुमार ठाकुर
केंद्रीय हिंदी निदेशालय
वितरण एकक, पश्चिमी खंड-7
आर के पूरम, नई दिल्ली-110066
संपर्क-9330561518

पुस्तक : समय का अकेला चेहरा (काव्य-संग्रह)
कवि : नरेंद्र पुंडरीक
प्रकाशक : लिटिलबर्ड पब्लिकेशन्स
अंसारी रोड, दरियागंज
नई दिल्ली
पृष्ठ : 148
मूल्य : 225 रु.

नरेंद्र पुंडरीक नब्बे के दशक के कवियों में एक चर्चित नाम है। केदारनाथ अग्रवाल साहित्य के मर्मज्ञ, कवि और लेखक के रूप में साहित्य जगत में प्रख्यात हैं। वर्तमान में केदार स्मृति शोध संस्थान के सचिव और 'माटी' पत्रिका के संपादक के रूप में कार्यरत हैं जो इक्कीसवीं सदी में भी कवि एवं लेखक के रूप में सक्रिय हैं। उनका नया काव्य-संग्रह 'समय का अकेला चेहरा' लिटिलबर्ड पब्लिकेशन्स, दरियागंज, नयी दिल्ली से प्रकाशित हुआ है। उनका यह काव्य-संग्रह एक नये ऐंद्रिक भावबोध तथा अनुभूति के साथ समकालीन हिंदी कविता की जमीन को उर्वर बनाने की दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय है। उनका पहला काव्य-संग्रह 'नंगे पाँव' केदार जी के विशेष अनुरोध पर परिमल प्रकाशन से प्रकाशित हुआ।

इस संग्रह में कवि ने अलग-अलग कोणों से भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रसंगों को काव्य का कथ्य बनाकर उसे नये भावबोध से जोड़ते हुए पूरी समग्रता के साथ एक मानवतावादी जमीन पर उतारने का प्रयास किया है। स्वयं से जुड़ीं स्मृतियों, पिता से जुड़ें प्रसंगों के इर्द-गिर्द बुनी गयी यह रचना अपने वृत्त में स्त्री, धर्म, समाज और समसामयिक हलचलों को शिद्दत के साथ समेटती हुई एक नये आख्यान रचने का उपक्रम करती है। किंतु यह अपने समय का रूखा बयान भर नहीं है बल्कि यह उस समय से उपजे इतिहास-बोध को युगबोध में बदलकर भविष्य की आवाजों को पकड़ने की कोशिश भी है। कवि न केवल ऐतिहासिक घटनाचक्रों की जमीनी पड़ताल करता है बल्कि उसके अंतस में उतरकर तेजी से बदलते घटनाचक्रों और संकुचित होते जा रहे परिवेश की शिनाख्त करता है। कवि की कुछ पंक्तियाँ ('अपना एक समय था' कविता से) द्रष्टव्य हैं-

वह अपना एक समय था।
जब हम हिंदू-मुसलमान नहीं होते थे।
होते तो अब भी नहीं हैं लेकिन आज की तरह।
हर शहर में।
हिंदू-मुसलमान बनाने के।
कारखाने नहीं खुले थे।
'और
गाय के बछड़े का खेत जोतना।

इतिहास होने जा रहा है और।
खेत का खेत होना भी।
गाय का सीधापन हमारी माओं में।
हजारों साल पहले ही स्थानांतरित हो गया था।
जो उसकी बेटियों में ठहरा हुआ है।
जो गाय कही जाती हैं।

लोकतंत्र रूपी वटवृक्ष की शाखाओं पर जब कुठाराघात किया जाता है तो वह व्यथित हो उठता है। तब संवैधानिक मूल्यों की वकालत करता हुआ वह आत्ममुग्धता और बदबोलेपन की जड़ में गिरफ्त देश के कटु यथार्थ को बारीकी से पकड़ता हुआ यह 'क्षेपक' कविता में कहता है-

लेकिन इसे चाहे जितना शीशा दिखाओ
अपने को दुनिया का सबसे बड़ा लोकतंत्र।
कहने में नहीं अघाता।
जबकि इसके लोकतंत्र में कहीं।
आदमी नहीं लौकता हमेशा।
जाति में छलांग लगाकर।
धर्म में कुलांचें मारता है।
इसका चेहरा धू-धू कर।
जलती हुई बस्तियों का हाहाकारी चेहरा है।
जिसमें बलात्कारों से बेजार हुई।
औरतों और लड़कियों की चींखें हैं।
हलाक होते बूढों और बच्चों की आवाजें हैं।

गांधी के इस देश में जन्में नये सत्ताधारी वर्ग की स्वार्थी नीतियों के फलस्वरूप उपजे असंतोष और दैनिक जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जूझती फटेहाल जनता की सूनी उदास आँखों के दयनीय दृश्य उनकी कविताओं से झाँकतें हैं। अपनी 'हल्के मामा' कविता में वह कहता है।

आदमी इतना ही चाहता है।
बाकी के खोज-बीन की।
पेट की खौखियाहट के मारे इस देश में।
फुरसत ही कहाँ रहती है आदमी को।
उसकी तो सारी काबिलियत पेट की।
लातें बचाने में ही निकल जाती है।

कवि की जागृत चेतना जाति और धर्म के नाम पर बाँटने वाली विभेदवादी नीतियों तथा उसको प्रश्रय देने वाले नियंताओं के रुग्ण मस्तिष्क की संकीर्णताओं को लक्षित करती है। 'यह गाँव और यह नदी तुम्हारी नहीं है' कविता की पंक्तियाँ देखें-

इस वक्त तक हमारे या उनके।
गुमान में भी नहीं था कि।
कभी भग्गू को यह कहकर।
बेइज्जत किया जाएगा कि।
यह गाँव और यह नदी तुम्हारी नहीं है।

स्त्री और प्रेम नरेंद्र पुंडरीक की कविताओं का अन्यतम विषय है। बाह्य-आवरण से ढँकें स्त्री देह के भीतर के मन को टटोलते हुए कवि ने स्त्रीमन के बारीक रेशों के सीवन को उधेड़कर उसकी धमनियों में चलने वाले क्रंदन, एकाकीपन तथा अबूझ वेदना को महसूस करने की भरसक चेष्टा की है। एक उदाहरण देखें-

अपने बीमार होने को।
जल्दी बीमार होना नहीं मानतीं।
इन्हें लगता है।
यदि वे नहीं उठेंगी।
तो सूरज नहीं निकलेगा।
कैसे चलेगा दुनिया का कारोबार।
और।
सूरज
नदी और
औरत।
तीनों इस दुनिया की सबसे नायाब चीजें हैं
जब तक यह अपनी तईं हैं।
यह दुनिया,दुनिया बनी रहेगी।
('तीनों इस दुनिया की' कविता से)

कवि का अंतर्मन उस स्त्री के उस कोने को झाँकने में सफल हुआ है, जहाँ रोशनी के कतरें नहीं पहुँचे हैं और जहाँ वह उदास गुमसुम बैठी यंत्रवत एक अंतहीन पीड़ा को भोगने को अभिशप्त है।

मेरे पढ़े लिखे में।
कहीं नहीं दिखती।
आती-जाती।
नाश्ता-पानी लाती पत्नी।
और।
उसने कहा मेरे सिर में दर्द है।
जरा सहला दो इसे।
जरा सा दबा दो मेरे हाथ-पैर।
उसके हाथ-पैर दबाते हुए मुझे लगा।
यही वह स्त्री है।
जिसे मैं खोज रहा था।
जो एक पुरुष से कह सके।
दबा दो मेरे हाथ-पैर।
('वह स्त्री मुझे यहीं कहीं मिली थी' कविता से)

कवि को कविता की पूरी ताकत का अंदाजा है। यही कारण है कि वह पूरी ईमानदारी से कविता की पूरी क्षमता का इस्तेमाल करता है ताकि इस दुनिया में कुछ ठोस बचा रहे। उसके अनुसार प्रेम ही वह औषधि है जो आज के स्वादहीन समय का सही इलाज है।

शीर्षक कविता में प्रेम की आवश्यकता को रेखांकित करता हुआ वह 'प्रेम तो कोई'... कविता में कह उठता है –

यह भी तय है कि यदि
दुनिया को अच्छा होना है तो
निश्चित है कि प्रेम को
बचाये रखना होगा

वह 'हम कैसे हो गये' कविता में प्रश्न करता है –

सोचता हूँ अच्छी दुनिया और
अच्छे लोगों के लिए
हमारे इतना चिंतित रहते हुए भी
इतनी खराब दुनिया कैसे बन गई
और हम कैसे हो गये?

कवि की चिंता समय के हर उस अकेले चेहरे की चिंता है, जिसमें उत्कट जिजीविषा विद्यमान है, जिसकी आवाज शहरी कोलाहल के बीच दब गई है, जो समय के थपेड़ों को सहकर भी ताल ठोंकते हुए संघर्षरत है और जिसकी पुतलियों में एक हरी-भरी दुनिया का सपना बचा हुआ है। वह' सोने का मुकुट' कविता में लिखता है –

उनका सपना सोने के मुकुट को नहीं
उन खेतों का होता था जहाँ वे
चला रहे होते थे हल
इस समय उनके सिर में
बंधी हुई साफी जो कई जगह से
फटी-चिंथी होने के बावजूद सिर में
सोने के मुकुट सी दिखती थी।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि नरेंद्र पुंडरीक का यह काव्य संग्रह वस्तुतः हमारे समय और समाज का वह आईना है जिससे गुजरते हुए वह परिवेश जीवित हो उठता है जो आदमी के निर्माण की तथा उसके होने की वजह है। अपने पिता की उंगली पकड़े जिस तरह वह जीवन पथ पर आगे बढ़ता हुआ आज यहाँ तक पहुँचा है, उससे वह हर पड़ाव और ठहराव पर स्वयं को जुड़ा पाता है। माँ, पिता, संबंधी, मित्र जैसे रिश्तों की यह गरमाहट उसे आंतरिक ऊष्मा देती है। हालाँकि संग्रह में निजी जीवन प्रसंगों का बोझ ज्यादा है जिससे पाठक सीधे-सीधे जुड़ता प्रतीत नहीं होता। काव्ययात्रा के इस पड़ाव पर इतने प्रसंगों की ज्यादा जरूरत महसूस नहीं होती। बावजूद इसके कवि निष्काम भाव से दुनिया को सुंदर बनाने की जद्दोजहद में प्रयासरत है। वह विशिष्ट में सामान्य को खोजने को बेचैन है ताकि उस सपने को सच किया जा सके, जिसके अहाते में सब हैं और जिसके उपवन में साझा जीवन की खुशबू विद्यमान है। ❖❖❖

आत्मा का सुकवि

डॉ. सतीश कुमार राय

संपर्क :
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिंदी विभाग
बाबासाहेब भीमराव अंबेडकर
बिहार विश्वविद्यालय,
मुजफ्फरपुर (बिहार)

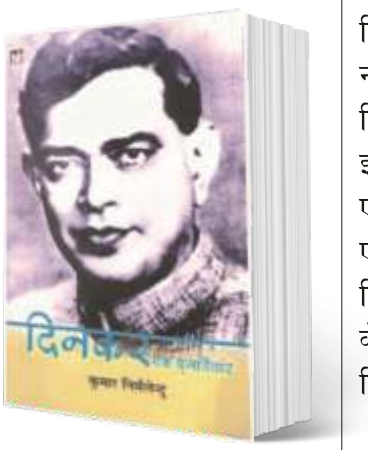

पुस्तक : दिनकर : एक पुनर्विचार
लेखक : कुमार निर्मलेन्दु
प्रकाशक : लोकभारती प्रकाशन
पहली मंजिल, दरबारी बिल्डिंग
महात्मा गांधी मार्ग, प्रयागराज-211001
वर्ष : 2021
पृष्ठ : 368
मूल्य : 350 रु. (पेपर बैक)

रामधारी सिंह दिनकर (1908-1974 ई.) उत्तर छायावाद के अत्यंत विशिष्ट स्वच्छंदतावादी कवि हैं। राष्ट्रकवि के रूप में सर्वमान्य दिनकर केवल कवि ही नहीं, साहित्य की कई विधाओं को समृद्ध करने वाले साहित्य-सर्जक भी हैं। उनकी साहित्य-साधना में गहरायी है और व्यापकता भी। उन पर शताधिक शोध कार्य हो चुके हैं और दो सौ से अधिक समीक्षा-ग्रंथ प्रकाशित हैं। 1946 में प्रकाशित 'कुरुक्षेत्र' के बाद दिनकर को ओज और विद्रोह के कवि के साथ ही 'विचारक कवि' के रूप में भी स्वीकृति मिली। 1951 ई. में उन पर चार आलोचनात्मक ग्रंथ प्रकाशित हुए- 'दिनकर और उनकी काव्य कृतियाँ' (सं. : प्रो. कपिल), 'दिनकर की काव्य-साधना' (डॉ. मुरलीधर श्रीवास्तव), 'दिनकर और उनकी काव्य प्रवृत्तियाँ' (शिवचरण शर्मा), और 'दिनकर' (शिवबालक राय)। 1952 ई. में कामेश्वर शर्मा ने अपनी आलोचनापरक कृति 'दिग्भ्रमित राष्ट्रकवि' में दिनकर पर नये ढंग से विचार किया। विजेन्द्र नारायण सिंह, सावित्री सिन्हा जैसे आलोचकों ने दिनकर की रचनाधर्मिता की गहरी व्याख्या की। इस व्याख्या को विस्तार देती हुई, अभी हाल में, एक नयी पुस्तक प्रकाशित हुई है- 'दिनकर : एक पुनर्विचार'। जैसा कि शीर्षक से ही स्पष्ट है कि इस पुस्तक के लेखक कुमार निर्मलेन्दु ने पूर्व के विचारों को परखते हुए आज के संदर्भ में दिनकर की प्रासंगिकता की पड़ताल की है।

दिनकर की तरह कुमार निर्मलेन्दु भी इतिहास के विद्यार्थी हैं, सुकवि और चिंतक भी। दोनों के लिए इतिहास मृत अतीत की शव-परीक्षा नहीं, वर्तमान का मार्गदर्शक रहा है। दिनकर ने लिखा है-

''जब भी अतीत में जाता हूँ,
मुर्दों को नहीं जिलाता हूँ,
पीछे हटकर फेंकता बाण,
जिससे कंपित हो वर्तमान।''

कुमार निर्मलेन्दु का इतिहास-बोध

उनकी पूर्व प्रकाशित कृतियों- 'मगधनामा', 'प्रयागराज और कुम्भ' तथा 'कौशाम्बी' में मुखर है। दिनकर राष्ट्र की मुक्ति और जनतंत्र की स्थापना के लिए अपनी गौरवशाली परंपरा को माध्यम बनाते हैं, किंतु उनका मूल स्वरूप 'युगचारण और समय के वैतालिक' का है। निर्मलेन्दु जी ने दिनकर के इस मूल स्वरूप को दृष्टिपथ में रखते हुए उनकी साहित्य-साधना के वैशिष्ट्य पर विचार किया है।

368 पृष्ठों की यह पुस्तक 'भूमिका' के अतिरिक्त इक्कीस प्रक्रमों में समायोजित है। भूमिका इस अर्थ में महत्त्वपूर्ण है कि उसमें दिनकर के कालखंड की साहित्यिक प्रवृत्तियों का संक्षिप्त किंतु सारगर्भित विवेचन है। कितनी स्पष्टता और शब्दों की मितव्ययिता के साथ लेखक ने यह टिप्पणी की है- ''आधुनिक हिंदी कविता में 1936 से 1946 ई. तक के कालखंड को 'उत्तर छायावाद' कहा जाता है। रामधारी सिंह दिनकर इसको 'छायावादोत्तर काल' कहते थे। यही वह कालखंड है जिसमें 'प्रगतिवाद' और 'प्रयोगवाद' जैसे काव्यांदोलनों का उदय हुआ और इसी दौरान 'तारसप्तक' की रचना भी हुई। भारतीय राजनीति में वामपंथी चेतना के प्रसार और समाजवादी दलों एवं किसान आंदोलनों के निर्माण का दौर भी यही है। इसी दौर में 1942 ई. का नौसेना विद्रोह भी हुआ।'' (भूमिका, पृष्ठ संख्या : 9)

दिनकर के कविकर्म को रेखांकित करते हुए उनका कथन है- 'दिनकर अपने युग की समस्त विविधताओं को अपनी रचनाधर्मिता में समेटते हुए उसके प्रतिनिधि कवि हैं। उनकी प्रारंभिक रचनाएँ कवि-सम्मेलनों के प्रभाव में लिखी गयी थीं। 'हुंकार' की कविताओं ने अपने समय में एक बड़े जनसमुदाय को आंदोलित और आनंदित किया था। उनको प्रशंसा और प्रसिद्धि तो 'रेणुका' और 'हुंकार' से मिली, किंतु कविता के इतिहास में उनका महत्त्व 'रसवन्ती', 'द्वंद्वगीत', 'कुरुक्षेत्र', 'रश्मिरथी', 'उर्वशी' तथा 'कोयला और कवित्व' जैसी काव्य-कृतियों के कारण ही है।' (वही, पृष्ठ संख्या : 10)

दिनकर को उद्धृत करते हुए उन्होंने लिखा है- दिनकर मानते थे कि 'प्रत्येक कवि अपने समय के विश्व को विशृंखल मानता है और वह उसे सामंजस्य देकर पहले की अपेक्षा कुछ अधिक बोधगम्य बनाना चाहता है।' स्वभावतः उनकी कविताओं में भारतीय लोकचेतना की दशा-दिशा, संवेदना और सामाजिक आर्थिक समस्याओं की जीवंत झाँकी देखने को मिलती है। उनकी रचनाओं में जनता का पक्ष न कभी ओझल हुआ और न ही उनकी विद्रोही चेतना की धार कभी भोथरी हुई। उन्होंने अपनी कविताओं में जनाक्रोश की आग और जनसामान्य के प्रति अनन्य अनुराग को सदैव सँजोए रखा। उनके काव्य में 'अनल तत्त्व' प्रमुखता से विद्यमान रहा है।

है सौंदर्य शक्ति का अनुचर,
जो है बली, वही सुंदर,
सुंदरता निस्सार वस्तु है,
हो न साथ में शक्ति अगर।
सिर्फ ताल, सुर लय से आता,
जीवन नहीं तराने में,
निरा साँस का खेल कहो,
यदि आग नहीं है गाने में।
(धूप छाँह)

छायावादोत्तर युग के हिंदी कवियों में वे सर्वाधिक लोकप्रिय रहे हैं। कहते हैं कि लोकप्रिय होना और श्रेष्ठ होना अलग-अलग बात है। परंतु दिनकर की विशेषता यह है कि वे लोकप्रिय भी हैं और श्रेष्ठ भी। उनके इंद्रधनुषी व्यक्तित्व की भाँति ही उनका कृतित्व भी बहुआयामी है। हिंदी कविता के साथ ही उन्होंने हिंदी गद्य की विभिन्न विधाओं को भी अपनी रचनात्मकता से समृद्ध किया है। वे हिंदी के उन गिने-चुने कवियों में से एक हैं, जो कालातीत होते हैं।'' (वही, पृष्ठ संख्या : 10)

इस पुस्तक के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए लेखक ने कहा है- 'मेरी यह पुस्तक दिनकर पर एक और पुस्तक लिखने भर के लिए नहीं लिखी गयी है। मेरा उद्देश्य दिनकर के साहित्यिक और सांस्कृतिक प्रदेय और उनके महत्त्व को नये सिरे से विश्लेषित करना है। चूँकि वे अपने युग के प्रतिनिधि कवि हैं, इसलिए यह जरूरी है कि उनकी कृतियों को उनके युग की पृष्ठभूमि में समझने की कोशिश की जाए। राष्ट्रीयता उनकी रचनाओं की एक प्रमुख प्रवृत्ति है, इसलिए भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन और स्वाधीनता के बाद के सत्ता-प्रतिष्ठान विरोधी आंदोलनों की पृष्ठभूमि में भी उनका विश्लेषण अपेक्षित है। यह पुस्तक, दरअसल, दिनकर के व्यक्तित्व और उनके संपूर्ण कृतित्व का एक पुनर्मूल्यांकन है। इसमें उनके रचनाकर्म का एक संतुलित आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। यह उनकी साहित्य-साधना और काव्यात्मक-चेतना के विविध पक्षों को उद्घाटित करने की एक छोटी, किंतु ईमानदार कोशिश है।' (वही, पृष्ठ संख्या : 16)

पुस्तक के सारे अध्याय इस ईमानदार कोशिश का साक्ष्य देते हैं। पहले अध्याय में दिनकर का परिचय है। लेखक ने काफी गंभीरता से दिनकर के व्यक्तित्व और कृतित्व पर प्रकाश डाला है। इस अध्याय में अनेक उपशीर्षकों के माध्यम से दिनकर की जीवन-यात्रा, दिनकर उपनाम की कथा, वामन से विराट तक की यात्रा, दुःख को शक्ति बना लेने की दक्षता और संघर्ष से दीप्त उपलब्धियों की चर्चा है। इसी अध्याय में दिनकर की रचनाओं में उनकी झलक और व्यक्तित्व की गूँज का विवेचन भी है। कुमार निर्मलेन्दु लिखते हैं- ''हुंकार की 'परिचय' शीर्षक कविता में कवि ने अपना परिचय समग्रता में दिया है। एक तरफ वह कहता है कि 'मधुर जीवन हुआ कुछ प्राण! जब से/लगा ढोने व्यथा का भार हूँ मैं' और दूसरी तरफ यह कि 'सुनूँ क्या सिंधु! मैं गर्जन तुम्हारा ? स्वयं युग-धर्म का हुंकार हूँ मैं।'

दिनकर को प्रायः ओज और ऊर्जा का अग्निसंभव कवि माना जाता था। उनके द्वारा 'उर्वशी'- जैसी शृंगारिक रचना का प्रणयन बहुत-सारे लोगों के लिए अनपेक्षित था। इसका संकेत देते हुए 'आपद्धर्म' शीर्षक कविता में उन्होंने लिखा है :-

रोज पत्र आते हैं, जलते गान लिखूँ मैं,
जितना हूँ, उससे कुछ अधिक जवान दिखूँ मैं।
(परशुराम की प्रतीक्षा, 1962 ई.)

'नील कुसुम' में संकलित 'कवि की मृत्यु' शीर्षक कविता को पढ़कर ऐसा लगता है मानो यह कवि दिनकर द्वारा स्वयं की मृत्यु पर लिखा गया शोकगीत है-

जब गीतकार मर गया, चाँद रोने आया,
सूरज बोला, यह बड़ी रोशनीवाला था।
बोला बूढ़ा आकाश, ध्यान जब यह धरता,
मुझमें यौवन का नया वेग जग जाता था।
देवों ने कहा, बड़ा सुख था इसके मन की
गहराई में डूबने और उतराने में।
योगी था, बोला सत्य, भागता मैं फिरता,
यह जाल बढ़ाये हुए दौड़ता चलता था।
मर्दों को आयी याद बाँकपन की बातें,
बोले, जो हो, आदमी बड़ा अलबेला था।

नारियाँ बिलखने लगीं, बाँसुरी के भीतर
जादू था कोई अदा बड़ी मतवाली थी।
आखिर, वह भी सो गया जिंदगी ने जिसको
था लगा रखा सोतों को छेड़ जगाने में।''
(पृष्ठ संख्या-35-36)

पहले अध्याय में ही लेखक ने दिनकर पर महात्मा गांधी के व्यापक प्रभाव का विवेचन किया है। साथ ही उन्होंने महात्मा गांधी से कई मुद्दों पर उनकी मतभिन्नता को भी रेखांकित किया है। दिनकर की बहुज्ञता और सामासिक संस्कृति-बोध पर भी इस अध्याय में सम्यक् विचार किया गया है। दूसरे अध्याय 'हिंदी के हितों के प्रबल प्रहरी' में उनकी भाषा-नीति का संक्षिप्त विवेचन हुआ है। दिनकर ने राज्यसभा में कई बार राष्ट्रभाषा के रूप में हिंदी की शक्ति और संभावनाओं को उजागर किया था। लेखक ने एक वक्तव्य का अंश उद्धृत कर उनकी स्पष्ट भाषा-नीति को रेखांकित किया है। 21 फरवरी 1963 ई. को राज्यसभा में बोलते हुए दिनकर ने कहा था- ''संसद में चौदह भाषाएँ हैं। यहाँ हिंदी का पक्ष-समर्थन करने के लिए जब हिंदीवाला खड़ा होता है, तब उसकी आत्मा में एक संकोच पैदा होता है। मगर जो वस्तुस्थिति है, वह यह है कि देश में जब-जब भाषा का विवाद छिड़ता है, हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे बिना नहीं रह सकते कि हिंदी इस देश के लिए अनिवार्य है। ऐसे लोग देश में हैं, जो देश की एकता तो चाहते हैं, लेकिन हिंदी के लिए जिनके भीतर कोई खास उत्साह नहीं है। ऐसे लोग भी जब भाषा के सवाल पर विचार करने लगते हैं तब उनका यही मत बनता है कि अंततोगत्वा, देर या अबेर, हिंदी को जोड़नेवाली भाषा के रूप में स्वीकार करना ही पड़ेगा।'' (पृष्ठ संख्या : 61)

तीसरे अध्याय में दिनकर की काव्य-यात्रा का विवेचन है। लेखक ने अत्यंत गंभीरता के साथ 'विजय संदेश' (1928) से लेकर 'हारे को हरिनाम' (1970) तक का विवेचन किया है। अध्याय के प्रारंभ में ही निर्मलेन्दु लिखते हैं- ''विजय संदेश'' (1928 ई.) रामधारी सिंह दिनकर की प्रथम और 'हारे को हरिनाम' (1970 ई.) अंतिम काव्यकृति है। इनके बीच के दौर में उन्होंने करीब ढाई दर्जन काव्यकृतियों की रचना की। उनकी कविता का पाट बहुत चौड़ा है। वे अपनी काव्य-यात्रा में ओज एवं ऊर्जा, सौंदर्य एवं प्रेम, काम एवं अध्यात्म और भक्ति एवं प्रपत्ति को एकसाथ साधते हुए चलते हैं। 'विजय संदेश' से लेकर 'हारे को हरिनाम' और उसके बाद तक की दिनकर की काव्य-यात्रा उनकी विशद् लोकचेतना और गहन संवेदनशीलता का प्रमाण है। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उनके व्यापक रचना-संसार के माध्यम से भारत के लगभग आधी सदी (1928-1973 ई.) के सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक इतिहास को भी बखूबी जाना और समझा जा सकता है।'' (पृष्ठ संख्या : 65)

इस अध्याय में दिनकर की प्रायः समस्त कृतियों के कथ्य को स्पष्ट किया गया है और संकलित कविताओं की संवेदना को विवेचित भी किया गया है। दिनकर की कविताओं के साथ उनकी प्रबंध-कृतियों के वैशिष्ट्य को भी लेखक ने रेखांकित किया है। 'कुरुक्षेत्र' के संबंध में वे कहते हैं- 'कुरुक्षेत्र' के पहले दिनकर के काव्य में विचार-तत्त्व इस तरह उभरकर सामने नहीं आया था। यद्यपि यह द्वितीय विश्वयुद्ध के समय की रचना है, तथापि इसकी मूल प्रेरणा युद्ध से नहीं, बल्कि देशभक्त नवयुवकों के मन में व्याप्त हिंसा-अहिंसा के द्वंद्व से उत्पन्न हुई थी। बहरहाल, साहसपूर्वक गांधीवादी अहिंसा की आलोचना करने वाले 'कुरुक्षेत्र' का हिंदी-जगत में यथेष्ट आदर हुआ था। इसमें युवा पीढ़ी को प्रेरणा प्रदान करते हुए प्रश्नाकुल स्वर में यह कहा गया कि-

कहो कौन दायी होगा उस दारुण जगद्दहन का,
अहंकार या घृणा ? कौन दोषी होगा उस रण का ?
सत्त्व माँगने से न मिले, संघात पाप हो जाएँ,
बोलो धर्मराज, शोषित वे जिये या कि मिट जाएँ ?
किसने कहा पाप है समुचित सत्त्व-प्राप्ति-हित लड़ना ?
उठा न्याय का खड्ग समर में अभय मारना-मरना ?
पानी कौन ? मनुज से उसका न्याय चुराने वाला ?
या कि न्याय खोजते विघ्न का सीस उड़ाने वाला ?

इन पंक्तियों में जो सवाल उठाए गए हैं उनको हम 'कुरुक्षेत्र' का मूल प्रश्न भी कह सकते हैं।'' (पृष्ठ संख्या : 89-90)

उन्होंने आगे कहा है- कुरुक्षेत्र में उन सभी भावनाओं का परिपाक है, जो कवि दिनकर को शुरू से ही आंदोलित करती आ रही थी, जो विचार उन्होंने अपनी स्फुट कविताओं में बिखेरे थे, कुरुक्षेत्र में उनका समन्वित दार्शनिक रूप प्रकट हुआ है। विश्व-शांति की स्थापना की चिंता 'कुरुक्षेत्र' में कम थी। अपने देशवासियों की विचार-दिशा बदलने की भावना से आंदोलित होकर ही उन्होंने इस काव्य की रचना की थी। कुरुक्षेत्र में महात्मा गांधी के विचारों का प्रतिनिधित्व युधिष्ठिर करते हैं, किंतु जो नवयुवक गांधी जी की अहिंसा को धर्म के रूप में स्वीकार करने को तैयार नहीं थे, उनके प्रतिनिधि भीष्म हैं।'' (पृष्ठ संख्या : 91)

'रश्मिरथी' दिनकर की अत्यंत लोकप्रिय प्रबंध कृति है। यह कृति कर्मवाद का संदेश ही नहीं देती, दलित-विमर्श को भी सार्थक दिशा देती है। लेखक के शब्दों में 'रश्मिरथी में कर्ण के महाभारतकालीन आख्यान को आधार बनाकर उन्होंने उपेक्षित जनों की अदम्य जिजीविषा और

उनकी जययात्रा का मंगलगान किया है। कुल-गोत्र-हीन कर्ण का पुरुषार्थ और पराक्रम वैसे लोगों के लिए प्रेरणा का अजस्र-स्रोत बन जाता है जो लांछन, उपेक्षा और दुःख झेलकर अपने लिए मुकाम हासिल करने का हौसला रखते हैं।' (पृष्ठ संख्या : 97)

'उर्वशी' दिनकर की प्रेमभावना और सौंदर्य दृष्टि को पूरी तीव्रता से व्यंजित करने वाली कृति है। रूप की दृष्टि से यह काव्य-नाटक है। यह कृति जितनी लोकप्रिय हुई उतनी ही विवादास्पद भी। 'कल्पना' पत्रिका में इसके पक्ष-विपक्ष में अनेक आलोचनात्मक लेख छपे। इस ओर संकेत करते हुए लेखक ने लिखा है- ''हिंदी साहित्य-संसार में एक ओर 'उर्वशी' की कटु आलोचना हुई और दूसरी ओर मुक्तकंठ से उसकी प्रशंसा भी हुई। 1960 के दशक में दिनकर की इस काव्यकृति को लेकर जितनी चर्चा हुई और जितने विवाद हुए, वह हिंदी साहित्य के इतिहास की एक अभूतपूर्व घटना है। इस काव्य-नाटक को दिनकर की 'कवि-प्रतिभा का एक चमत्कार' माना गया। कवि ने उर्वशी और पुरुरवा के वैदिक मिथक के माध्यम से देवता एवं मनुष्य, स्वर्ग एवं पृथ्वी, अप्सरा एवं लक्ष्मी और काम एवं अध्यात्म के संबंधों का अद्‌भुत विश्लेषण किया है। 'उर्वशी' को कामाध्यात्म की कविता कहा गया है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ. रामविलास शर्मा और डॉ. नगेन्द्र जैसे आलोचकों ने इसकी प्रशंसा मुक्तकंठ से की है। डॉ. लक्ष्मीनारायण सुधांशु ने 'उर्वशी' की रचना को हिंदी काव्य-जगत में एक उल्लेखनीय घटना कहा है। डॉ. कृष्णदत्त पालीवाल ने 'उर्वशी' को 'प्रणय-काव्य की मुकुटमणि' कहा है। इस प्रबंध काव्य ने दिनकर की कविता को एक नये शिखर पर पहुँचा दिया है।'' (पृष्ठ संख्या : 111)

'उर्वशी' पर उन्होंने उन्नीसवें-बीसवें अध्यायों में भी लिखा है। उसके कामाध्यात्म पर, उसके काव्यरूप पर लेखक ने नये ढंग से विचार किया है। अनेक विद्वानों और स्वयं दिनकर के उद्धरणों को प्रस्तुत करने के बावजूद लेखक का अपना मत पूरी तार्किकता और स्पष्टता के साथ व्यक्त हुआ है। उनका मत है : ''उर्वशीकार ने प्रेम के तीन रूपों को तीन प्रतीक चरित्रों द्वारा व्यक्त किया है- उर्वशी का प्रेम मृण्मय-चिन्मय काम का प्रतीक है, औशीनरी का प्रेम भोगहीन समर्पण-युक्त उदात्त काम का प्रतीक है और सुकन्या का प्रेम प्रजननशील गार्हस्थ्य प्रेमयुक्त मर्यादित काम का प्रतीक है। 'उर्वशी' एक विचारमूलक शृंगारिक काव्य है। चूँकि शरीर ही प्रेम की जन्मभूमि है, इसलिए उर्वशीकार की दृष्टि में अंग-संज्ञा का परवर्ती प्रेम पहले शरीर से ही प्रारंभ होता है-

देह प्रेम की जन्मभूमि है, पर उसके विचरण की,
सारी लीला-भूमि नहीं सीमित है रुधिर-त्वचा तक।
यह सीमा प्रसरित है मन के गहन गुहा लोकों में
जहाँ रूप की लिपि अरूप की छवि आँका करती है।
और पुरुष प्रत्यक्ष विभासित नारी-मुखमण्डल में
किसी दिव्य अव्यक्त कमल को नमस्कार करता है।

सांसारिक प्रेम से मोक्ष की ओर गमन उर्वशीकार का मुख्य ध्येय है। शास्त्रीय शब्दावली में हम कह सकते हैं कि प्रेय से श्रेय की ओर उन्नयन 'उर्वशी' का मूल स्वर है।'' (पृष्ठ संख्या : 353)

'उर्वशी' एक प्रतिनिधि और लोकप्रिय काव्य-नाटक है। काव्य की व्यंजना और नाटक की दृश्यमयता दोनों का समावेश इसे विशिष्ट बनाता है। नाटक का कार्य-व्यापार संवादों के माध्यम से ही विकसित होता है। सफल काव्य-नाटक होने के बावजूद इसके कई दीर्घ संवाद खटकते भी हैं। कुमार निर्मलेन्दु ने इसे लक्षित करते हुए कहा है- 'उर्वशी' के आधे भाग में उर्वशी-पुरुरवा का संवाद है। तीसरे अंक में उर्वशी 10 पृष्ठों (पृ. 77 से 86) तक लगातार बोलती चली गयी है। यह दीर्घ संवाद 'उर्वशी' के नाटकत्व पर सबसे बड़ा प्रश्नचिह्न है। लेकिन कविवर दिनकर के अनुसार इस ग्रंथ का प्रतिपाद्य दार्शनिक मंथन इस वृहद् संवाद में ही निहित है। बहरहाल, प्रणय-लीला के मध्य इस वृहद् संवाद से युक्त 'उर्वशी' के तृतीय अंक में गति और क्रियाशीलता का अभाव है, जो सैद्धांतिक रूप से किसी नाटक का प्राण तत्त्व होता है।'' (पृष्ठ संख्या : 358)

पुस्तक का चौथा अध्याय पुनर्मूल्यांकन के औचित्य पर केंद्रित है। इस अध्याय के प्रारंभ में ही निर्मलेन्दु जी की यह टिप्पणी है- ''रामधारी सिंह दिनकर को बहुधा द्वंद्व और द्विधा का कवि कहा गया है, परंतु विडंबना यह है कि उनके व्यक्तित्व और कृतित्व को लेकर खुद आलोचकों में एक विचित्र द्वंद्व और द्विधा देखने को मिलती है। यही कारण है कि जहाँ एक ओर छायावादोत्तर कवियों में दिनकर को सर्वाधिक ख्याति मिली, वहीं दूसरी ओर उनका बहुत ही गलत मूल्यांकन भी किया गया। 'संस्कृति के चार अध्याय' सहित करीब दो दर्जन गद्य-ग्रंथों के रचनाकार होने के बावजूद गद्यकार के रूप में दिनकर के अवदान का सम्यक् आकलन करने की कोशिश तक नहीं की गयी। हिंदी आलोचकों द्वारा दिनकर का मूल्यांकन प्रायः सपाट ढंग से किया गया है।'' (पृष्ठ संख्या : 123)

लेखक का यह कथन गलत नहीं है। 1952 ई. में राज्यसभा जाने के बाद दिनकर को कांग्रेसी संस्कृति का कवि मान लिया गया। इस जनपक्षधर कवि की सर्वाधिक उपेक्षा जनवादी और प्रगतिशील आलोचकों ने की। दिनकर के भक्त भी कम नहीं रहे। उन्हें सही और निष्पक्ष आलोचक कम मिले, जनता का प्रेम और

सम्मान अधिक मिला। या तो उन्हें श्रद्धा की फूल-मालाओं से लाद दिया गया या फिर उपेक्षा की मोटी चादर से उनका वास्तविक चेहरा ढँक दिया गया। इस विडंबना को दूर किये बिना दिनकर का सम्यक् मूल्यांकन संभव नहीं है। यह हिंदी के गंभीर पाठकों के लिए संतोष का विषय है कि अपनी इस कृति के माध्यम से कुमार निर्मलेन्दु ने असंभव से संभव की ओर वैचारिक यात्रा की है।

पाँचवाँ अध्याय 'अपने समय का सूर्य : दिनकर' कवि के दीप्त व्यक्तित्व की झलक देता है। छठा अध्याय लेखक की व्यापक दृष्टि और रचना की मूल संवेदना के अभिज्ञान का प्रमाण प्रस्तुत करता है। 'दिनकर के सपनों का भारत' शीर्षक इस अध्याय में लेखक ने दिनकर के उन सपनों को रेखांकित किया है, जो उनकी रचनाओं में व्यक्त होते रहे हैं। उनका पहला स्वप्न देश की मुक्ति और जनतांत्रिक राष्ट्र के रूप में उसके अभ्युदय का है। कोई भी रचनाकार यथार्थ के चित्रण के बावजूद उन सपनों को भी अपनी रचनाओं में रूप देने की कोशिश करता है, जिनमें बेहतर दुनिया की मंगलाकांक्षा होती है। दिनकर के काव्य में गहरा यथार्थबोध है तो स्वप्नों की प्रतिछवि भी। लेखक ने अनेक उपशीर्षकों में परिकल्पना के रूप में दिनकर के सपनों को सामने रखा है। ये शीर्षक हैं- 'लोग चुस्त और दृढ़ हों', 'समाज में श्रम की प्रतिष्ठा', 'प्राच्य और पाश्चात्य का समन्वय', 'शांति, सत्य और अहिंसा', 'जनता का राज', 'किसान-मजदूरों को भू-स्वामित्व', 'भोगवादी संस्कृति का तिरस्कार', 'भाई-भतीजावाद और भ्रष्टाचार से मुक्ति', 'मातृभाषा ही हो शिक्षा का माध्यम', 'सर्वसमावेशी और पंथनिरपेक्ष भारत'। इस अध्याय के अंत में लेखक ने निष्कर्ष देते हुए लिखा है- ''महत्त्वपूर्ण बात यह है कि दिनकर देश-प्रेम से आगे बढ़कर विश्व-प्रेम की ओर जाना चाहते हैं। 'वेणुवन' में संकलित एक लेख 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' में उन्होंने लिखा है- ''भारत से प्रेम करो और खूब करो, लेकिन यह मत भूलो कि भारत संसार का अंश मात्र है।'' उन्होंने आगे यह भी लिखा है कि ''प्रत्येक देश में मेरा देश है, मैं उसी देश को प्राप्त करने के लिए संघर्ष कर रहा हूँ।''

कुल मिलाकर दिनकर के सपनों का भारत उदारता, सहिष्णुता, समन्वय और सहजीवन की बुनियाद पर खड़ा है। उनको एक ऐसा भारत काम्य है, जहाँ प्रत्येक प्राणी का 'सुखभाग' सम हो और यह धरती 'युद्ध की ज्वरमीति' से मुक्त हो।'' (पृष्ठ संख्या : 165)

सातवें अध्याय 'दिनकर का संस्कृति चिंतन' में लेखक ने संस्कृति का परिचय देते हुए उसके स्वरूप का विवेचन किया है और फिर भारतीय संस्कृति के वैशिष्ट्य को रेखांकित भी। इस क्रम में उन्होंने केंद्र में 'संस्कृति के चार अध्याय' को रखा है किंतु 'रेती के फूल', 'भारत की सांस्कृतिक कहानी', 'हमारी सांस्कृतिक एकता' जैसे दिनकर के संस्कृति विषयक ग्रंथों को भी दृष्टिपथ में रखा है। आठवें अध्याय 'दिनकर की युगचेतना' में दिनकर की सांस्कृतिक चेतना पर विचार किया गया है। लेखक के शब्दों में- 'दिनकर का देश के प्रति लगाव उनके इतिहास-प्रेम में व्यंजित है। यदि हम उनके समग्र साहित्य पर विचार करें तो पाएँगे कि राम, कृष्ण, शिव, भीष्म, धर्मराज, अर्जुन, हिमालय, गंगा, मगध, पाटलिपुत्र, चित्तौड़ आदि भारत के गौरवशाली अतीत के पवित्र प्रतीक है। उनका देश-प्रेम भारतीय संस्कृति को उसकी समग्रता में धारण करते हुए चलता है।' (पृष्ठ संख्या-181)

इस अध्याय में दिनकर की व्यक्तिनिष्ठ चेतना, दार्शनिक चेतना और वैज्ञानिक चेतना का भी सूक्ष्म विश्लेषण हुआ है। नवम अध्याय में दिनकर की कविताओं में व्यक्त उनकी इतिहास-दृष्टि का विवेचन है। 'संस्कृति के चार अध्याय' का संदर्भ यहाँ भी आया है। सूत्रवाक्य में लेखक ने कहा है- ''कुल मिलाकर दिनकर अपने लेखन से भारत की सामासिक संस्कृति की एक जीवंत प्रतिमा गढ़ते दिखायी देते हैं।'' (पृष्ठ संख्या : 204)

दसवें अध्याय 'दिनकर : जीवन दृष्टि और संवेदना' में दिनकर की सहज जीवन-दृष्टि पर प्रकाश डाला गया है। लेखक का मत है- ''दिनकर की रचनाओं में विचार और संवेदना का सम्मिश्रण है। व्यक्तिगत प्रेम-सौंदर्यमूलक कविताएँ हों या फिर राष्ट्रीय कविताएँ, सभी कवि की संवेदना से स्पंदित हैं। उनमें आरंभ से ही स्वयं को अपने परिवेश से जोड़ने की एक तड़प दिखायी पड़ती है। इसलिए उनकी व्यक्तिगत प्रेम-सौंदर्यमूलक कविताओं में भी एक जनोन्मुखी चेतना और सहजता है। छायावाद या उत्तर छायावादी वैयक्तिक कविता की कुंठा, अवसाद और निराशा की जगह प्रसन्नता और सर्वत्र सौंदर्य के प्रति एक स्वस्थ मानवीय प्रतिक्रिया दिखायी पड़ती है। दिनकर की सबसे बड़ी विशेषता है- अपने देश और युग-सत्य के प्रति जागरूकता।'' (पृष्ठ संख्या : 207)

दिनकर राष्ट्रकवि हैं, राष्ट्र की आत्मा से संवाद करने वाले कवि। अपनी प्रखर राष्ट्रीय चेतना के कारण वे लोकप्रिय हुए और महत्त्वपूर्ण भी। दिनकर की राष्ट्रीय चेतना में राष्ट्र की मुक्ति थी तो एक नये भारत के निर्माण का संकल्प भी। लेकिन दिनकर को केवल राष्ट्रीय चेतना का कवि मान लेना भी गलत है और अपने ग्रंथ के इस अध्याय में लेखक ने इस बात का उल्लेख भी किया है। 1950 के बाद दिनकर की कविताओं में भावगत वैविध्य आता है। राष्ट्रीय कविताओं की सर्जना के बाद वे प्रेम, सौंदर्य, समानता जैसे विषयों पर लिखते हैं और मानववाद,

अरविन्द-दर्शन, रवीन्द्रनाथ, इकबाल का प्रभाव ग्रहण करते हैं। कुमार निर्मलेन्दु ने लिखा है- ''1950 ई. के बाद दिनकर यह महसूस करने लगे थे कि उनकी राष्ट्रीय कविताएँ उनके वास्तविक व्यक्तित्व का प्रतिनिधित्व नहीं करतीं और न इनके द्वारा उन्हें साहित्य के इतिहास में बहुत ऊँचा पद प्राप्त हो सकेगा। उन्होंने इस सत्य का साक्षात्कार किया कि कवि में रूप में जीने के लिए उन्हें अपनी मुद्रा बदलनी पड़ेगी। स्वभावतः उन्होंने अपनी मुद्रा बदल ली और अपने नकाब को उतार फेंका। 'चक्रवात' की भूमिका में उन्होंने लिखा है- ''राष्ट्रीयता मेरे व्यक्तित्व के भीतर से नहीं जनमी, उसने बाहर से आकर मुझे आक्रांत किया।'' भारतवर्ष में वैदिक काल से ही 'उदार चरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम' की चिंतन-परंपरा चली आयी है। और संयोगवश उसी समय रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कविताओं में विश्व मानवता का रूप उभर रहा था। उन सबसे प्रभावित होकर ही 'नीलकुसुम' की कविताओं में दिनकर भारतीय चिंताधारा के उस मूल स्रोत के पास जा पहुँचे।'' (पृष्ठ संख्या : 224)

बारहवें अध्याय- 'दिनकर-काव्य में द्वंद्व और द्विधा' में लेखक ने द्वंद्व और द्विधा को कवि की दुर्बलता के रूप में नहीं, बल्कि एक रचनात्मक शक्ति के रूप में रेखांकित किया है। कवि का मानस अत्यंत संवेदनशील होता है। उसमें अनेक परस्पर विरोधी भाव-तरंगें उठती रहती हैं। लेखक के शब्दों में- ''दिनकर ने यह अनुभव किया है कि कविता में भावुकता को बुद्धि से अनुशासित होना चाहिए, लेकिन वे मूलतः आवेगों के कवि हैं। आवेग के किसी क्षण में जो बात उचित प्रतीत होती है, बाद में वही गलत भी लग सकती है। आवेशों ने दिनकर के विचारों में द्वंद्व और द्विधा का समावेश कर दिया है।'' (पृष्ठ संख्या : 228) आगे वे यह भी लिखते हैं- ''उनकी काव्य-यात्रा आद्योपांत द्वंद्वों से जूझने की कथा है। द्वंद्व कवि को चिंतन और भावना के स्तर पर भरमाते और बेचैन करते हैं, लेकिन कवि उन चुनौतियों को धैर्यपूर्वक स्वीकार करके अपनी रचनात्मकता को आगे ले जाने में सफल होता है।'' (पृष्ठ संख्या : 239)

पुस्तक के दो अध्यायों में काव्य भाषा, अप्रस्तुत विधान का विवेचन हुआ है। यह विवेचन वस्तुतः शास्त्रीय है और इसमें काव्यशास्त्र के निकष पर दिनकर की भाषा और शिल्पविधि को परखने का प्रयास हुआ है। पंद्रहवें अध्याय- 'दिनकर का गद्य-लेखन' में गद्यकार के रूप में दिनकर की देन का मूल्यांकन हुआ है। दिनकर ने गद्य की अनेक विधाओं में लिखा है। निबंध, आलोचना, संस्मरण, यात्र-वृत्तांत, जीवनी-साहित्य को उन्होंने नयी अर्थवत्ता दी है। लेखक ने इस अर्थवत्ता की ओर संकेत तो किया है, किंतु विषय की व्यापकता के कारण वे समग्र विवेचन-मूल्यांकन से बच निकले हैं। सोलहवें अध्याय- 'आलोचक दिनकर' में लेखक का गंभीर और सतर्क मूल्यांकन दिनकर की आलोचना-दृष्टि की सार्थकता को पूर्णतः स्पष्ट कर देता है। निष्कर्ष के रूप में निर्मलेन्दु जी लिखते हैं- ''दिनकर के समालोचनात्मक सिद्धांत उनकी कविताओं से निःसृत हुए हैं। कई विद्वानों को ऐसा लगता रहा है कि उनकी आलोचनाएँ उन्हीं की कविताओं के समर्थन के लिए लिखी गयी हैं। इन सबके बावजूद उनको हिंदी के आधे दर्जन श्रेष्ठ आलोचकों में गिना जा सकता है। उनकी आलोचना-दृष्टि प्रायः संतुलित और निर्भ्रांत है, उनकी गद्य-भाषा अत्यंत परिमार्जित है और उनके विचार बहुत स्पष्ट हैं। इन्हीं गुणों के कारण हिंदी आलोचना के इतिहास में उनका स्थान अक्षुण्ण रहेगा।'' (पृष्ठ संख्या : 317)

अगले अध्याय- 'सौंदर्य के कवि दिनकर' में उन्होंने दिनकर को गर्जन-तर्जन का ही नहीं, सौंदर्य का भी अप्रतिम कवि माना है। दिनकर की सौंदर्य-चेतना प्रारंभ से ही उनकी कविताओं में व्यंजित होती है। प्रेम और सौंदर्य निस्संदेह दिनकर के काव्य की अंतर्धारा है। लेखक के शब्दों में- 'विषम परिस्थितियों के रहते हुए भी दिनकर के हृदय के किसी कोमल तंतु और सुकुमार भावना ने ही उन्हें कवि बना दिया। यदि युग की विभीषिका प्रबल नहीं होती तो वह निश्चय ही सौंदर्य और प्रेम के अनूठे गायक होते।'' (पृष्ठ संख्या : 329) लेखक ने दिनकर की नारी-विषयक दृष्टि का भी सम्यक् विवेचन किया है। नारी के विभिन्न रूपों को दिनकर ने अपने रचनाओं में चित्रित किया है। नारी के शील, सौंदर्य, संघर्ष और आत्मलोचन की सशक्त अभिव्यक्ति दिनकर के काव्य में हुई है। दिनकर की नारी विषयक दृष्टि एक व्यापक और संवेदनशील दृष्टि है। उनके अनुसार नारी अतुलनीय है, अनुपम है। वह शक्ति का स्रोत है और सृष्टि प्रसारक भी। पुस्तक का अंतिम अध्याय 'साहित्य और राजनीति' है, जिसमें साहित्य और राजनीति के अंतर संबंधों को स्पष्ट करते हुए दिनकर की राजनीतिक चेतना पर प्रकाश डाला गया है।

यह पुस्तक दिनकर के संपूर्ण कर्तृत्व को विवेचित करने वाली एक उपयोगी पुस्तक है। हर पाठक वर्ग को इसमें अपने लिए कुछ नया मिलेगा। लेखक ने दिनकर की समस्त कृतियों के गहन अध्ययन और उन पर प्रकाशित आलोचना ग्रंथो, विशिष्ट आलेखों के गंभीर चिंतन से इसे विशिष्ट बना दिया है। यह दिनकर-संबंधी अध्ययन को आगे बढ़ाने वाला एक मानक ग्रंथ सिद्ध होगा।

❖❖❖

आत्मा की पीड़ा का विरल दस्तावेज़

डॉ. एम. वेंकटेश्वर

पुस्तक : पुरुष तन में फँसा मेरा नारी मन
लेखक : मानोबी बंद्योपाध्याय
प्रकाशक : राजपाल एंड सन्स,
1590, मदरसा रोड
कश्मीरी गेट, दिल्ली-110006
वर्ष : 2018
पृष्ठ : 148
मूल्य : 178 रु.

समकालीन हिंदी कथा साहित्य में किन्नर विमर्श महत्त्वपूर्ण स्थान बना चुका है। किन्नर समुदाय जो हिजड़ा समुदाय के नाम से जाना जाता है, भारतीय समाज का उपेक्षित, अपमानित, लांछित, घृणित और तिरस्कृत समुदाय है। साहित्य में इस समुदाय के लोगों पर बहुत कम लिखा गया है। पुराणों में कहीं-कहीं कुछ उल्लेख अवश्य हुआ है जैसे महाभारत में शिखंडी और बृहन्नला के कथा प्रसंग दिखायी दे जाते हैं। आधुनिक साहित्य में इस अभिशप्त समुदाय के लोगों के जीवन संघर्ष और विसंगतियों पर अभी बृहत् शोध की आवश्यकता है। किन्नरों के जीवन में व्याप्त असंतोष और वितृष्णा का चित्रण हिंदी के कुछ उपन्यासकारों ने किया है जैसे नीरजा माधव (यमदीप), महेंद्र भीष्म (किन्नर कथा, मैं पायल), प्रदीप सौरभ (तीसरी ताली), निर्मला भुराडिया (गुलाम मंडी), चित्रा मुद्गल (पोस्ट बॉक्स नं 203 नाला सोपारा), अनुसूइया त्यागी (मैं भी औरत हूँ) आदि। ये उपन्यास भारतीय किन्नर समुदायों के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों का बखूबी चित्रण करते हैं। किन्नरों की लैंगिक पहचान अन्य लिंगी के रूप में की जाती है। अंग्रेजी में इन्हें Eunuch और Third Gender (थर्ड जेंडर) कहा जाता है अर्थात् इनकी गणना पुल्लिंग और स्त्रीलिंग श्रेणी में नहीं होती बल्कि इनके लिए एक भिन्न श्रेणी 'थर्ड जेंडर या अन्य लिंगी' वर्ग में की जाती है। यह समुदाय स्वयं को पुल्लिंग या स्त्रीलिंग श्रेणी में शामिल करने के लिए अधिकार चाहता है। थर्ड जेंडर श्रेणी के अतिरिक्त एक अन्य श्रेणी भी इस समुदाय के बीच मौजूद है जिन्हें ट्रांस जेंडर (विपरीतलिंगकामी) कहा जाता है। जब कोई किन्नर शारीरिक और मानसिक प्रवृत्तियों से विपरीत लिंगी की भावानुभूति और शारीरिक प्रवृत्तियों का अनुभव करता हो और तद्नुरूप यदि वह अपना लिंग (gender) परिवर्तन करा ले तो वह ट्रांसजेंडर कहलाता है। पुरुष के रूप में जन्म लेकर स्त्री प्रवृत्तियों से यदि वह ग्रस्त हो और यदि वह लिंग परिवर्तन की जटिल शल्य प्रक्रिया के माध्यम से वह अपना लिंग परिवर्तन कर ले तो वह व्यक्ति ट्रांसजेंडर कहलाएगा। इसके विपरीत स्त्री के रूप में जन्म लेकर पुरुष सुलभ प्रवित्तियों से ग्रस्त होकर स्वयं का पुरुष रूप में भी रूपांतरण संभव है। अत्याधुनिक प्लास्टिक सर्जरी की विधियों और हार्मोन उपचार से यह परिवर्तन संभव हुआ है। कुछ किन्नर लोग जिनके जननांग शिथिल अथवा निष्क्रिय होकर विपरीत लिंगी के प्रति आकर्षण की मानसिक और शारीरिक स्थितियों में कैद हो जाते हैं उनके लिए अपने मनोनुकूल लैंगिक स्वरूप प्राप्त करने के लिए यह परिवर्तन कारगर सिद्ध हुआ है। ऐसे कई लोग समाज में दिखायी देते हैं जो पुरुष शरीर में स्त्रौण और स्त्री शरीर में पुरुष प्रवृत्तियों के साथ आचरण करते हैं। ये अक्सर विपरीत लिंगकामी होते हैं। पुरुष के रूप में अपने भीतर छिपी स्त्री प्रवृत्ति के कारण वे पुरुषों की ओर आकर्षित होते हैं, तद्नुरूप उनकी यौनिकता भी सक्रिय होती है।

मानोबी बंद्योपाध्याय एक ऐसी ही ट्रांसजेंडर स्त्री है, जो सोमनाथ बंद्योपाध्याय के रूप में जन्म लेकर बाल्यावस्था से ही अपने भीतर कैद स्त्री की आत्मा से संचालित होकर पुरुषोचित व्यवहार के विपरीत पुरुषों के प्रति आसक्त होकर वासना के जाल में फँसती जाती है। वह अपने जीवन को सार्थक बनाने के लिए जीवन भर स्वयं से और समाज से लड़कर अंत में अपना लिंग परिवर्तन करा लेती है। वह सोमनाथ से मानोबी नामक एक सुंदर स्त्री में रूपांतरित होकर अपना जीवन बिता रही है।

ऐसी ही ट्रांसजेडर स्त्री 'मानोबी बद्योपाध्याय' की आत्मकथा है 'पुरुष तन में फँसा मेरा नारी मन'। प्रस्तुत आत्मकथा मूल बांग्ला में रचित है जो हिंदी और अंग्रेजी में अनूदित हुई।

अपनी आत्मकथा 'पुरुष तन में फँसा मेरा नारी मन' को पाठकों को समर्पित करते हुए मानोबी लिखती हैं "उन सबके नाम, जिन्होंने मुझे अपमानित किया और अवमानव कह कर जीवन के हाशिये पर धकेल दिया। उन्हीं के कारण मुझे लड़ने की ताकत मिली और मैं जीवन में आगे बढ़ पायी। आशा करती हूँ कि पुस्तक मुझ जैसों के लिए प्रेरणात्मक सिद्ध होगी और वे भी जीवन में सफल हो पाएँगे।

कितनी बार ऐसा हुआ है कि आपकी गाड़ी लाल बत्ती पर रुकी है और आपने कार की खिड़की के बाहर से, भीख मांगते हिजड़े को देख कर अपना मुँह मोड़ लिया है? क्या आपको बहुत घृणा महसूस हुई? क्या यह स्थिति उस अनुभूति से बदतर नहीं लगी जो आप गोद में बच्चा लिए किसी भिखारिन को भीख मांगते देख कर महसूस करते हैं? क्यों? मैं आपको बताती हूँ कि ऐसा क्यों है। आप हिजड़े से घृणा करते हैं क्योंकि आप उसके लिंग के साथ कोई पहचान नहीं जोड़ पाते। आप उसे एक विचित्र घृणित जीव, संभवतः एक अपराधी और निश्चित तौर पर एक अवमानव समझते हैं।

मैं भी उनमें से एक हूँ। मुझे सारा जीवन लोगों के मुख से हिजड़ा, बृहन्नला, नपुंसक, खोजा, लौंडा... जैसे शब्द सुनने पड़े हैं और मैंने जीवन के इतने वर्ष यह जानते हुए बिताये हैं कि एक जातिच्युत व परित्यक्त हूँ। क्या इससे मुझे पीड़ा का अनुभव हुआ? हुआ और इसने मुझे बुरी तरह से आहत किया है। परंतु, चलन से बाहर हो चुके मुहावरे का प्रयोग करें तो कह सकते हैं कि समय बड़े-बड़े घाव भर देता है। मेरे मामले में इस कहावत ने थोड़ा अलग तरह से अपना प्रभाव दिखाया है। कष्ट तो अब भी है पर समय के साथ-साथ दर्द घट गया है। यह मेरे जीवन के एकांत क्षणों में मुझे आ घेरता है, जब मैं अपने अस्तित्व संबंधी यथार्थ से जूझ रही होती हूँ। मैं कौन हूँ और मैं एक पुरुष की देह में कैद स्त्री के रूप में क्यों जन्मी? मेरी नियति क्या है? मेरे इस रंग-बिरंगे बाहरी आवरण के नीचे, शर्मसार व चोटिल वैयक्तिकता छिपी है जो आज़ाद होने के लिए तरस रही है। अपनी शर्तों पर जीवन जीने की आज़ादी और जो मैं हूँ, उसी रूप में रहने की आज़ादी! मैं अपने लिए यही आज़ादी और स्वीकृति चाहती हूँ। मेरा बाहरी कठोर रूप तथा उदासीनता ऐसा कवच है जिसे मैंने अपनी संवेदनशीलता को जीवित रखने के लिए पहनना सीखा है। आज, अपने सौभाग्य के बल पर, मैंने ऐसी अद्भुत सफलता अर्जित कर ली है जो प्रायः मेरे जैसे लोगों के लिए नहीं होती। लेकिन यदि मेरा सफर कुछ और हुआ होता? मैं अपने आप से बारंबार कहती हूँ कि अब मेरे लिए समय आ गया है कि मैं इस ख्याति के बीच प्रसन्न रहूँ 'परंतु भीतर ही भीतर कोई चेतावनी देता है। मेरी अंतरात्मा मुझसे कहती है कि मुझे अपने आसपास जो शोहरत और उत्सव दिखायी देता है, वह सब 'माया' है' और मुझे एक सन्यासी के वीतराग की तरह ही इस प्रशंसा को ग्रहण करना चाहिए।

मीडिया का कहना है कि कोई ट्रांसजेंडर पहली बार कॉलेज के प्रिंसिपल पद पर नियुक्त हुई, जो अपने-आप में एक उल्लेखनीय कदम है। तब से मेरे फोन लगातार घनघनाते हैं, मेरी डेस्क पर अलग-अलग स्थानों पर होने वाले बधाई कार्यक्रमों के न्यौतों के अंबार लगे रहते हैं। मुझे यह मानकर बहुत खुशी होती है कि जो लोग मेरा अभिनंदन करते हैं, उन्होंने मुझे उसी रूप में स्वीकार किया है, जो मैं हूँ, परंतु मैं उन खी-खी करते सुरों, तिरस्कार और दबी हंसी को कैसे अनसुना कर सकती हूँ, जो छिपाने की कोशिश करने पर भी नहीं छिपतीं? उनके लिए मैं एक 'तमाशा' भर हूँ और बिना पैसों का कोई तमाशा देखने को मिल रहा हो तो कौन नहीं देखना चाहेगा?

मानसिक आघात और क्रोध, दो ऐसे भाव हैं जिन्हें मैंने दबाना और नज़र अंदाज करना सीखा है। ये मेरे मानसिक कवच का हिस्सा हैं, जिनसे मैं अपने आप को महफूज रख पाती हूँ। मैंने अंततः इस तथ्य को स्वीकार कर लिया है कि मेरी उपलब्धियों का मेरे आस-पास के लोगों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। उन्हें अब भी लगता है कि मैं आज भी नपुंसक हूँ और यही मेरी असली पहचान है। मुझे भावुक होने का अधिकार भी है, यह विचार अधिकतर लोगों को अनचीन्हा लगता है। मैं उन्हें दोष नहीं देती। मैं स्वयं को दोषी मानती हूँ कि मैंने ऐसी पीड़ा को नजरअंदाज क्यों नहीं किया। मुझे तो बहुत पहले उनकी परवाह करनी छोड़ देनी चाहिए थी। ऐसा नहीं है कि जीवन के इक्यावन वर्षों के दौरान, मुझे कभी अपने हिस्से का प्यार नहीं मिला। कई बार मेरा दिल भी टूटा, पर हर बार मुझे एक नया सबक सीखने का अवसर मिलता। मैंने बहुत अच्छी तरह और गहराई से प्यार किया और आशा करती हूँ कि मेरे साथी जहाँ भी हैं, वे चुपचाप मेरे उस रूप को याद करते होंगे। यह और बात है कि संबंध कभी मेरे लिए कारगर नहीं हो सके।

जिन्होंने मुझे प्रेम किया, वे सदा मुझे छोड़ कर चले गये और हर बार जैसे मेरा कुछ हिस्सा भी, उनके संग कहीं खो गया।

आज अपनी कहानी लिखने बैठी हूँ तो जैसे यादों का रेला उमड़ आया है। मैंने इस विश्वास के साथ यह सब लिखा है कि इस तरह समाज, हम जैसे लोगों को बेहतर तरीके से समझ सकेगा। हम बाहरी तौर पर दिखने में भले ही थोड़े अलग लगें, पर आपकी तरह ही इंसान हैं और आप सबकी तरह ही शारीरिक और भावात्मक जरूरतें रखते हैं।''(आत्मकथा से)

झिमली मुखर्जी पांडे ने मानोबी बंद्योपाध्याय के मुख से उसके जीवन की कहानी को सुनकर बांग्ला में लिपिबद्ध किया जो पुस्तकाकार रूप में पहले बांग्ला और फिर अनूदित होकर हिंदी एवं अंग्रेजी में प्रकाशित हुई। हिंदी में इस कृति का अनुवाद रचना भोला यामिनी के द्वारा किया गया जो सन् 2018 में राजपाल एंड सन्स से प्रकाशित हुआ। आत्मकथा का शीर्षक 'पुरुष तन में फँसा मेरा नारी मन' प्रतीकात्मक और भाव व्यंजक है जिसके माध्यम से मानोबी जन्म से लेकर वर्तमान तक की अपनी संघर्ष गाथा का विशद् वर्णन प्रस्तुत करती है। इस आत्मकथा में सोमनाथ बंद्योपाध्याय नामक बालक से मानोबी बंद्योपाध्याय नामक सुंदर स्त्री में रूपांतरित होने तक की संघर्ष, शोषण और यातनाओं के अनुभूत सत्य को उजागर किया गया है। सोमनाथ बंद्योपाध्याय का जन्म 23 सितंबर 1964 को हुगली के चंद्रनगर में नाना के घर में हुआ था। आत्मकथा में सोमनाथ/मानोबा स्वयं के लिए स्त्रीलिंग का प्रयोग करती हैं। दो पौत्रियों के बाद चिरप्रतीक्षित पुत्र जन्म पर पिता चित्तरंजन बद्योपाध्याय के गर्व और प्रसन्नता की सीमा न रही। पिता को लगा कि पुत्र का जन्म भगवान शिव के वरदान के फलस्वरूप हुआ था इसलिए उन्होंने पुत्र का नाम 'सोमनाथ' रख दिया। बालक सोमनाथ के दादा और नाना दोनों सुसंपन्न और सुशिक्षित थे इसलिए बालक का पालन-पोषण तद्नुरूप ही होने लगा। एक लड़के के रूप में जन्म लेने के बावजूद सोमनाथ को घर में लक्ष्मी माना गया। यह मानो आने वाली घटनाओं का पूर्वाभास था। मानोबा ने इस सत्य को स्वीकार किया है कि उसे बाल्यावस्था से ही अपने शरीर में विपरीत विकारी तत्त्व की मौजूदगी का आभास होने लगा था। घर में संगीत और साहित्य का वातावरण प्रबल था जिस कारण सोमनाथ का बचपन टैगोर के साहित्य और संगीत के बीच बीता। बाल्यावस्था से ही सोमनाथ में नृत्य, संगीत और साहित्यिक अभिरुचि का विकास होता चला गया जिसके कारण आगे चलकर कॉलेज जीवन में उसे सुंदर नर्तक और नृत्यांगना के रूप में ख्याति मिली। स्कूली जीवन में ही सोमनाथ को अनुभव होने लगा था कि उसके वय के लड़के उसे सामान्य से अधिक आकर्षित करने लगे थे। उसके व्यवहार, चाल-ढाल में स्त्रैण तत्त्व स्पष्ट रूप से झलकने लगा था। इस परिवर्तन को माता-पिता बहुत समय तक नकारते रहे, किंतु उसे स्वयं इसका अनुभव होने लगा था। उसमें बचपन से कामातुरता जाग चुकी थी और वह लड़कों के सहवास के लिए तड़पता था। स्कूली जीवन में ही कुछ लड़कों ने उसका यौन शोषण करना शुरू कर दिया था जिसे मानोबी ने स्वीकार किया है। विपरीत लिंगी के प्रति यौनाकार्षण सहज मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति है जिसे सोमनाथ पुरुष के शरीर में स्थित स्त्री की मनःस्थिति में कैद होकर एक तरह की यातना को भोग रहा था जो अकथनीय और घोर सामाजिक वितृष्णा का विषय है। सोमनाथ के शारीरिक और मानसिक स्थिति के प्रति परिवार के सभी सदस्य उदासीन थे। उसकी दोनों बहनें सोनाली और रूपाली भी उसके साथ भाई के रूप में ही व्यवहार करती रहती हैं। लेकिन वह हर पल एक भयानक मानसिक द्वंद्व से गुजर रहा था। एक ओर उसके बाह्य और आंतरिक अवयव तेजी से स्त्री-लैंगिक मनोजगत में डूब रहे थे तो दूसरी ओर वह अपने वैयक्तिक और सामाजिक अस्तित्व में उत्पन्न दोहरेपन से आतंकित होने लगा था। घर में उसे बहनों की छींट वाली फ्रॉकों से लगाव था इसलिए वह अपने निक्कर-शर्ट उतारकर उनकी फ्रॉक पहन लेता था। ये सब उसके भीतर पनपने वाले स्त्री-लैंगिक लक्षण थे जिसे वह स्वीकार करने लगा था। सोमनाथ का स्कूली जीवन उपहास और अपमान से भरा हुआ था। बहुत जल्द स्कूल में लड़कों को पता चल गया कि कक्षा में एक लड़के के रूप में लड़की मौजूद है। पाँचवीं कक्षा तक आते-आते वह सुंदर नौजवानों की ओर आकर्षित होने लगा। उसमें कामेच्छा जागृत होने लगी। एक बार इक्कीस साल के उसके कज़िन ने उसका बलपूर्वक यौन शोषण किया। इस अनुभव ने उसके भीतर की स्त्री को जगाना आरंभ कर दिया जो पहले ही अपने पंख खोलकर उड़ान भरने को तैयार थी। वे दोनों नियमित रूप से छिपकर यौन तुष्टि करने लगे।

इन वर्जित अनुभवों को मानोबा ने बेबाकी से आत्मकथा में वर्णित किया है जो पाठकों को झकझोर देता है। सातवीं कक्षा में वह सब लड़कों की आँखों का तारा बन गया था। जब वह मनचले लड़कों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करता तो उसे कहीं भीतर गुदगुदी होती। आठवीं कक्षा में

पहुँचते ही वह पूरे आत्मविश्वास के साथ घर में बहनों के कपड़े पहनने लगा। एक बार माँ ने उसे अकेले में समझाना चाहा कि लड़का होकर, लड़कियों की तरह रहना और कपड़े पहनना, उसका यह विचित्र व्यवहार पूरे खानदान के लिए बदनामी का कारण बन रहा है। तब वह कहता, "परंतु माँ! मैं एक स्त्री हूँ ... क्या आपको विश्वास नहीं आता? क्या मुझे आप लोगों से बेहतर तरीके से कपड़े पहनने नहीं आते? माँ, आप मुझे एक लड़की बनने दो...।" सोमनाथ के इस जवाब से माँ विस्फारित नेत्रों से उसे ताकती रह जातीं किंतु उन्होंने कभी अपनी पीड़ा बाहर प्रकट नहीं की। सोमनाथ को माँ पर तरस आता क्योंकि माँ संतान की खुशी के लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर कर देती है। सोमनाथ को बचपन से इस बात का अपराध-बोध था कि उसकी माँ सदैव स्वयं को दोषी मानती रहीं कि उन्होंने एक हिजड़े को जन्म दिया, क्योंकि उसे सारी दुनिया इसी नाम से बुलाने लगी थी। पिता भी दुनिया वालों के तानों और अपमानजनक व्यवहार से दुःखी हो रहे थे। सारा परिवार अवसाद में डूब रहा था और सोमनाथ अपनी स्थिति से विवश था। सोमनाथ तन-मन के अंतर्विरोधी अवस्था में होते हुए भी पढ़ाई में अच्छा था, कुशाग्र बुद्धि का था, सदा अच्छे अंकों से उत्तीर्ण होता जिससे कुछ सीमा तक लोगों का मुँह बंद रहता। सोमनाथ के संघर्ष को उसके बौद्धिक सामर्थ्य से मानसिक बल प्राप्त होता था। स्कूली जीवन में सोमनाथ सदैव कक्षा में प्रथम स्थान प्राप्त करता रहा।

विवाह, पूजा आदि अवसरों पर वह स्त्रियों को सुंदर ढंग से सजा सँवरा देखता तो उसके मन में यह विचार जरूर पैदा होता कि उन परिधानों और आभूषणों में वहाँ मौजूद अनेक स्त्रियों से वह ज्यादा सुंदर है। स्कूल के संगीत और नृत्य के कार्यक्रमों में वह भाग लेता और लोगों को अपनी जन्मजात कलात्मक प्रतिभा से चकित कर देता। सोमनाथ के जीवन से नृत्य का गहरा नाता रहा है। कॉलेज की पढ़ाई के बाद वह विधिवत नृत्य सीखने के लिए सुप्रसिद्ध नृत्य मंडलियों में शामिल होने लगा था। उसे आभास होने लगा था कि नृत्य कला ट्रांसजेंडर का जन्मजात गुण है। उनकी नाट्य मंडली में उसके जैसे और भी कलाकार थे, जो शारीरिक रूप से पुरुष थे पर मानसिक रूप से स्त्री।

प्रस्तुत आत्मकथा से ट्रांसजेंडर समुदाय की भाषा, बोली, संस्कार और उनके तौर-तरीकों का पता चलता है। इस दृष्टि से यह आत्मकथा ट्रांसजेंडर समुदाय के समाजशास्त्रीय अध्ययन का महत्त्वपूर्ण स्रोत हो सकता है। ऐसे ट्रांसजेंडर लोग आपस में एक-दूसरे को 'मीठा चावल, मामा, कोटी' आदि नामों से पुकारते हैं। इनके समुदाय में आपसी व्यवहार के लिए कोड भाषा का इस्तेमाल किया जाता जो केवल ये लोग ही समझ पाते हैं। इन लोगों में काफी एकजुटता रहती है। आत्मकथा में सोमनाथ ने उसके जीवन में आये व्यक्तियों के वास्तविक नामों को बदलकर लिखा है जिससे कि उनकी पहचान गोपनीय रहे।

नवीं कक्षा में सोमनाथ को जीवन में पहली बार प्रेम का अनुभव हुआ, जब वह सुंदर कली की तरह खिल रहा था। वह धीरे-धीरे आकर्षक रूप धारण कर रहा था। लोग उसकी लैंगिकता को लेकर चर्चा करने लगे थे। इस अवस्था में सोमनाथ के जीवन में श्याम और श्वेत नामक दो भाई प्रवेश करते हैं, जो उसके जीवन को बुरी तरह प्रभावित करते हैं। ये दोनों भाई अलग-अलग छिपकर सोमनाथ से प्रेम और यौन संबंध बनाते हैं। सोमनाथ भावनात्मक स्तर पर श्याम से गहरे जुड़ जाता है (स्त्री के रूप में)। वह उसे ही अपने जीवन का लक्ष्य मान लेता है। इस आसक्तिपूर्ण संबंध में सोमनाथ अपनी सारी हदें पार कर जाता है। मानोबा ने जीवन के उस पड़ाव का चित्रण खुलकर बिना दुराव के किया है। अक्सर आत्मकथाएँ शत-प्रतिशत ईमानदारी से कम ही लिखी जाती हैं, किंतु मानोबा की आत्मकथा इसका अपवाद है। मानोबा ने जीवन में घटित जुगुप्सा पूर्ण प्रसंगों को भी उन्मुक्त होकर व्यक्त किया है। उस अवस्था में अपने भीतर उठते हुए पाशविक प्रेम और काम के उन्माद को स्वीकार किया है। श्वेत और श्याम दोनों सोमनाथ के जीवन में एक अस्थायी पड़ाव थे जो कुछ समय के लिए हलचल पैदा करके ओझल हो जाते हैं। दो प्रेमियों के बिछुड़ जाने के बाद उसमें एक अजीब खालीपन आ गया था जिसे सहना उसके लिए कठिन था। दसवीं कक्षा में 'देब' नामक एक ट्रांसजेंडर लड़के से उसका संपर्क होता है। बीते हुए विफल प्रेम के अनुभव के बाद सोमनाथ के जीवन में देब का प्रवेश एक नये रिश्ते को जन्म देता है। यह रिश्ता भी परस्पर आकर्षण और शारीरिक संबंध के लिए ही विकसित हुआ था। ट्रांसजेंडर के जननांग अविकसित, अल्पविकसित या निष्क्रिय होते हैं। जब कि थर्ड जेंडर (हिजड़ा) के जननांग नहीं होते। अपने उस निष्क्रिय अवयव से सोमनाथ को घृणा थी। वह उससे छुटकारा पाना चाहता था। उसे अपने शरीर में स्त्री के गुप्तांग का अभाव खटकता था इसीलिए स्त्री की योनि को अपने शरीर में विकसित करने के लिए उसके मन में लिंग परिवर्तन कराने का विचार उत्पन्न हुआ। वह स्त्री के रूप में

काम क्रीडा का भरपूर आनंद प्राप्त करने की कल्पना करता रहता था। मानोबा ने आत्मकथा में ट्रांसजेंडर लोगों के यौन व्यवहार के संबंध में अनेक वास्तविकताएँ उजागर की हैं। ट्रांसजेंडर उद्दाम कामुक होते हैं इसलिए वे अनुकूल साथी की तलाश में खोये रहते हैं। उपयुक्त साथी के मिलते ही वे अपनी काम-कुंठा की तुष्टि में डूब जाते हैं। सोमनाथ उर्फ मानोबी इसी विसंगति का शिकार थी जिसकी स्वीकारोक्ति आत्मकथा की अरुचिकर विशेषता है। देब से वह प्रेम करने लगा था, वह उसके साथ स्थायी संबंध बनाये रखना चाहता था, किंतु वह देब को संतुष्ट करने में असमर्थ था क्योंकि उसके पास स्त्री के अवयव नहीं थे।

अक्सर ट्रांसजेंडर को समलैंगिक समझा जाता है क्योंकि वे पुरुष या स्त्री के शरीर में विपरीत लिंगी से संबंध बनाना चाहते हैं। मानोबी इसे स्पष्ट कर देती है वह विपरीतलिंगकामी (हेटरोसेक्सुअल) थी न कि समलैंगिक (होमोसेक्सुअल)। मनुष्य का यौनाचार उसकी सामाजिकता को परिभाषित करता है। संयमित यौनाचार के लिए ही विवाह नामक सामाजिक संस्था बनी है। मानोबी अंततः किसी विपरीत लिंगी व्यक्ति के साथ विवाह के बँधन में बंधने का सुनहरा सपना भी देखने लगी थी। इसके लिए उसे कोई निश्छल प्रेमी की तलाश थी। वह अपने तन और मन के बेमेल अस्तित्व से जूझते-जूझते निराशा और अवसाद में डूब जाती। उसे पुरुष तन में कैद स्त्री मन को आजाद करना था। सोमनाथ पूर्ण स्त्री के रूप में नया जीवन शुरू करना चाहता था।

सोमनाथ का स्कूली आचरण और उसके मित्र जिसमें उसका यौन शोषण करने वाले दोस्त भी शामिल थे। उसके माता-पिता और परिवार के अन्य सदस्य उसके दोस्तों के साथ के अनैतिक और विकृत संबंधों से पूरी तरह अनभिज्ञ थे। प्रारंभ से सोमनाथ का रुझान कला एवं साहित्य की ओर अधिक था। उसके पिता उसे आगे की पढ़ाई विज्ञान विषय में कराना चाहते थे। किंतु, सोमनाथ की रुचि इसके विपरीत थी। उम्र के साथ सोमनाथ के विचारों में परिपक्वता जैसे-जैसे बढ़ती गयी उसका ध्यान अपने शरीर और मन की असंगति को सुलझाने के उपायों को खोजने की दिशा में सक्रिय होने लगा। उसने मेडिकल कॉलेज के एक विशेषज्ञ से अपनी समस्या बतायी। उसे पता चला कि सेक्स परिवर्तन के ऑपरेशन होते हैं। तभी उसने अपना ऑपरेशन कराने का फैसला कर लिया। उसे बताया गया कि यह ऑपरेशन बहुत महँगा और जोखिम भरा होता है। उसे इसके लिए अभी काफी समय तक प्रतीक्षा करनी होगी क्योंकि, उसकी आयु इस ऑपरेशन के योग्य नहीं थी और अभी उसकी पढ़ाई चल रही थी। उसे कॉलेज की पढ़ाई करनी थी। वह अपने भविष्य को सुनिश्चित करना चाहता था जिससे वह दोहरेपन की यातना से मुक्त हो जाए। इस संबंध में उसने अन्य विशेषज्ञों से भी सलाह ली। जटिल हारमोनल असंतुलन के कारण ऐसी असामान्यता उत्पन्न होती है जिसे उन्नत मेडिकल तकनीकों व इलाज की मदद से सुधारा जा सकता है। उसे इस संबंध में मैनाक मुखोपाध्याय नामक विशेषज्ञ ने इलाज करने का आश्वासन दिया। वह पारिवारिक धरातल पर जो जीवन जी रहा था, बाह्य समाज में उसका व्यवहार इसके विपरीत था। सोमनाथ ऐसे अनेक किन्नर और ट्रांसजेंडर वर्ग के लड़कों के संपर्क में आ जाता था जो उसकी ओर आकर्षित होते थे। वे लोग उसका यौन शोषण करते और छोड़ देते।

कॉलेज की पढ़ाई के लिए उसने अपने ही कस्बे 'नैहाटी' के ऋषि बंकिमचंद्र कॉलेज में प्रवेश लिया। यहाँ उसके जीवन का दूसरा अध्याय प्रारंभ हुआ। चौदह वर्षों के स्कूली जीवन के अनुशासन से अब वह मुक्त हो गया था। वह अपेक्षाकृत अधिक स्वतंत्र था। कॉलेज में उसकी उपस्थिति से सभी अचंभित हो गये 'लंबा कुर्ता और सलवार पहने उस सुंदर युवक को सभी छात्र अपलक ताकते रह जाते थे, जो स्त्री सुलभ चेष्टाओं के साथ कॉलेज परिसर में घूमता था। बहुत जल्द वह कॉलेज में आकर्षण का केंद्र बन गया। यहाँ 'अभि' नामक एक लड़के और बंदना और दीपान्विता नामक दो लड़कियों की संगत में उसका कॉलेज का जीवन बीतने लगा। अभि के साथ सोमनाथ ने शारीरिक संबंध बना लिया था और वह उसके साथ भावनात्मक रूप से भी गहरा जुड़ गया। अपने अबोधपन में वह अभि के साथ दांपत्य संबंध की कल्पना करने लगा। अभि के साथ मिलकर दंपत्ति की तरह उसने तस्वीर भी खिंचवा ली थी। यह सब क्रियाएँ उसकी मानसिक दुर्बलता का प्रतीक थीं, जिसे मानोबी ने स्वीकार किया। मानोबी ने आत्मकथा में अपनी चंचल और अस्थिर मनोवृत्ति को साहस और ईमानदारी के साथ कबूला है। किंतु अभि का साथ भी उसे रास नहीं आया और वह भी उसे छोड़कर चला गया। सोमनाथ के जीवन में लैंगिक संबंधों का सिलसिला निरंतर चलता रहा।

आत्मकथा में मानोबी ने अपनी धार्मिक प्रवृत्ति का भी बखान किया है। भगवान शिव उसके इष्ट देव हैं। निराशा और पराजय के क्षणों में उसे शिव की

प्रार्थना से सदैव बल प्राप्त हुआ। ऋषि बंकिमचंद्र कॉलेज, नैहाटी से सोमनाथ ने बी.ए. पास किया। पोस्ट ग्रेजुएट कोर्स में प्रवेश पाने के लिए उसकी पहली पसंद कोलकाता यूनिवर्सिटी थी। लेकिन, जादवपुर यूनिवर्सिटी का नाम भी उसके मन में गूँजता था। जादवपुर यूनिवर्सिटी की प्रवेश परीक्षा लिखने में उसके कॉलेज के एक और साथी 'देबू' ने मदद की। जे यू (जादवपुर यूनिवर्सिटी) में सोमनाथ को बंगाली विषय में एम.ए. करने के लिए प्रवेश मिल गया। जेयू के निर्बंध और स्वच्छंद वातावरण में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता भरपूर थी। हर तरह के विचार और जीवन शैली को वहाँ स्वीकार किया जाता है, जिस कारण निर्भीक रूप से सोमनाथ ने अपना उच्छृंखल जीवन नये सिरे से शुरू कर दिया। विश्वविद्यालय परिसर में अपने वास्तविक रूप में अपनी पहचान बनाने में वह सफल हो गया। उस वातावरण में किसी प्रकार की वर्जनाएँ नहीं पनप सकती थीं। जे यू परिसर में वह पुरुषों जैसे कपड़े पहनता था पर वह सबसे अलग था जिसे लोग पसंद करते थे।

"मैं न तो पुरुष थी और न ही सहज रूप से स्त्री लगती थी। हालाँकि मेरी आत्मा एक स्त्री की आत्मा थी। उस प्रगतिशील जे यू के माहौल में मेरी लैंगिकता से किसी को कोई अंतर नहीं पड़ा। मैं केवल एक छात्र थी जो यूनिवर्सिटी में शिक्षा ग्रहण करने आयी थी और वही सबसे बड़ा कारण था।" (आत्मकथा से)

बदलती परिस्थितियों के संग सोमनाथ के जीवन में भी बदलाव होना स्वाभाविक ही था। यूनिवर्सिटी में लब्ध प्रतिष्ठित विद्वानों से उसका परिचय होने लगा। प्रोफेसर शंख घोष के लेक्चर उसे विशेष प्रिय थे। इनसे सोमनाथ ने निकटता बढ़ाई और अपनी वास्तविकता से उन्हें अवगत कराया। उसने उन्हें पत्र लिख अपनी स्थिति से अवगत कराया "मैं बहुत कष्ट में हूँ, क्योंकि मैं अपनी पुरुष देह की इस यौन कैद से बाहर आकर, अपने स्त्री रूप व आत्मा को पाना चाहता हूँ।" प्रत्युत्तर में शंख घोष ने उसे धैर्य से स्थितियों का सामना करने की सलाह दी जिससे उसके मनोबल में वृद्धि हुई। जे यू में प्रथम वर्ष से ही वह लोकप्रिय छात्र बन गया था। वहाँ आयोजित नृत्य आदि के कार्यक्रमों में उत्साह से भाग लेने लगा। जे यू के यूथ फेस्टिवल में उसने सर्वश्रेष्ठ पुरुष नर्तक का पुरस्कार पाया। यूनिवर्सिटी के सीनियर्स जैसे शुभाशीष भट्टाचार्य और शुभो बासु आदि उसे पसंद करने लगे। वह नियमित रूप से यूनिवर्सिटी के सांस्कृतिक कार्यक्रमों में भाग लेने के लिए कक्षाओं के बाद देर शाम तक रिहर्सल आदि के लिए ठहर जाता था। जे यू में पढ़ने के लिए वह रोज 'नैहाटी' से लोकल ट्रेन द्वारा यात्रा करता था। नैहाटी से रोज लोकल ट्रेन से आने-जाने में काफी समय नष्ट होता था। यह काफी असुविधाजनक भी था। नृत्य और रंगमंच से प्रभावी ढंग से जुड़ने के लिए वह जे यू हॉस्टल में रहना चाहता था। किंतु माता-पिता ने इसकी इजाज़त नहीं दी। उसे अपनी आर्थिक पराधीनता का अहसास होने लगा था। वह स्वयं को माता-पिता की बेटी मानता था। रह-रह कर माता-पिता के प्रति बेटे के कर्तव्य को पूरा न कर पाने का अपराध-बोध उसे दुखी कर देता था। उस समय तक उसके पिता तिरानवें वर्ष के हो चुके थे और नैहाटी के घर में निष्क्रिय अवस्था में दिन बिता रहे थे। जल्द-से-जल्द सोमनाथ को स्वावलंबी होकर माता-पिता की देखभाल करने की चिंता सताने लगी। वह 1985 का वर्ष था, जब जे यू के ही एक और प्राध्यापक पबित्र सरकार जो एक प्रसिद्ध भाषाविद थे, शंख घोष की तरह सोमनाथ की मदद के लिए तैयार हुए। इन्हीं दिनों वह जे यू के सुप्रसिद्ध यात्रा- संस्मरण लेखक के पुत्र 'सागर बोस' के मोह जाल में फँस गया। सागर बोस के लिए सोमनाथ ने एक बार फिर अपना सब कुछ समर्पित कर दिया, किंतु यह संबंध भी अल्पकालिक था। जे यू में ही एक और प्रभावशाली व्यक्ति 'कपिल' के संसर्ग में सोमनाथ पहले ही आ चुका था। कपिल को सागर-बोस के साथ सोमनाथ की निकटता पसंद नहीं थी। सागर बोस, कपिल के अधीन था, दोनों मिलकर सोमनाथ का शारीरिक शोषण करते हैं।

जे यू में अधिकतर मित्रों को यकीन हो गया था कि वह एक मर्द के चोले में औरत ही है। किंतु कुछ ऐसी भी लड़कियाँ थीं जो उसकी ओर उसे मर्द मानकर आकर्षित होती थीं और उसे मर्द ही मानती थीं। उन लोगों ने उसे मर्द ही बने रहने की सलाह भी दे डाली। रुमा दास, कृष्णा और सुपर्णा इस कृति में ऐसे ही पात्र हैं।

सोमानाथ जादवपुर यूनिवर्सिटी से एम ए पास हो गया किंतु वह प्रथम श्रेणी नहीं प्राप्त कर सका इसका पछतावा उसे हमेशा रहा। उसने अपना अध्ययन जारी रखने के लिए एम फिल में प्रवेश ले लिया। वह नाट्य और रंगमंच के क्षेत्र में शोध करना चाहता था इसलिए वह एक नाट्य शोध संस्थान के शोधार्थी के रूप में काम करने लगा। मानोबी के व्यक्तित्व की यह विशेषता है कि विषम और प्रतिकूल सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों से निरंतर जूझते हुए भी उसने ज्ञानार्जन के

प्रयासों को कभी विराम नहीं दिया। शोध कार्य को जारी रखते हुए तेईस वर्ष की आयु में उसने 'बगुला' नामक कस्बे के श्री कृष्णा कॉलेज में एक सौ पच्चीस रुपया प्रतिमाह वेतन पर अंशकालिक प्राध्यापक के रूप में कार्य किया। 'बगुला' के अनुभव सोमनाथ के लिए उतने दुःखदायी नहीं थे। वहाँ के छात्र उसे 'सर' कहकर संबोधित करते थे, जो उसे प्रीतिकर लगता। उसके सह-अध्यापक उसे पसंद करते थे। यहाँ वह बिना किसी विवाद में फँसे अपना कार्य करने लगा। इसी बीच उसे रोजगार कार्यालय के माध्यम से 'पतुलिया' ब्वायज स्कूल में अध्यापन के लिए उसे स्थायी नियुक्ति मिल गयी। 20 दिसंबर 1989 को उसने स्कूल में पाँचवीं से दसवीं कक्षा को पढ़ाना शुरू किया। स्कूल का अध्यापकीय जीवन उसके लिए उत्साहवर्धक बना। माइकेल जैक्सन की याद दिलाने वाले हावभावों से युक्त शिक्षक को देखकर छात्र उसे 'जैक्सन सर' बुलाने लगे। पुरुष रूप में उसके हाव-भाव स्त्रियाँ जैसे होने के कारण बहुत जल्द लोग उसे ट्रांसजेंडर समझ गये। इस पड़ाव पर भी उसकी संगत में ऐसे लोग आये जो अल्पकालिक विलासी संबंध बनाकर गुम हो गये। 'बिमान चौधरी' नामक एक सह-अध्यापक के संग सोमनाथ पुनः जुड़ गया। बिमान उसे पत्नी के रूप में स्वीकार करने के लिए व्याकुल था क्योंकि उसने सोमनाथ में मौजूद स्त्री की आत्मा को पहचान लिया था। वह सोमनाथ को लिंग परिवर्तन का ऑपरेशन जल्द से जल्द कराने के लिए आग्रह करने लगा। किंतु बिमान भी डॉक्टरों की सलाह पर उसके जीवन से एकाएक दूर हो गया। इस प्रकार सोमनाथ के एक और प्रेम-प्रकरण का दुःखद अंत हो गया। बिमान चौधरी के विछोह के अवसाद से घिरे हुए सोमनाथ को पश्चिम बंगाल कॉलेज सर्विस कमीशन की ओर से 'झाड़ग्राम' के विवेकानंद सतवार्षिकी महाविद्यालय में लेक्चरर के पद पर नियुक्ति का पत्र मिला। सोमनाथ के जीवन का यह एक निर्णायक मोड़ था।

झाड़ग्राम कॉलेज में सोमनाथ के जीवन को तहस नहस करने वाला 'अरिंदम पर्बत' नामक एक आकर्षक युवक प्रवेश करता है। अरिंदम, सोमनाथ का विश्वास जीतने के लिए प्रारंभ में मर्यादित व्यवहार करता है। दोनों में प्रेम हो जाता है। सोमनाथ भी उसकी ओर आकर्षित होकर उसे जीवन साथी बनाने के सपने सँजोने लगता है। अरिंदम पूर्ण स्त्री के रूप में सोमनाथ को भोगने के लिए उस पर शीघ्र ऑपरेशन करवाने के लिए दबाव डालता है। सोमनाथ, डॉ खन्ना को अरिंदम के साथ अपने संबंध के बारे में बता देता है। वह बताता है कि उसे अरिंदम के रूप में उसका पति मिल गया है और उनके संबंध को साकार रूप देने के लिए उसे औरत के जिस्म की जरूरत थी। वह अरिंदम से विवाह रचाने के अपने उद्देश्य को व्यक्त करता है। यह तभी संभव होगा जब वे उसकी देह को एक औरत के साँचे में ढाल देंगे। डॉ खन्ना उसके लिए बहुत खुश हुए थे। जब सोमनाथ मानोबी बनकर पुनः अपने काम पर आयी तो अरिंदम की कंपनी का मालिक समरजीत प्रकट होता है। अरिंदम और समरजीत ने मानोबी को अपने जाल में फाँस लिया था। समरजित, मानोबी को भोगना चाहता था इसके लिए उसने अरिंदम को अपना मोहरा बनाकर इस्तेमाल किया था। अरिंदम एकाएक अदृश्य हो जाता है। मानोबी पर इसका गहरा असर पड़ता है। वह चारों ओर से मुसीबतों से घिर जाती है। अरिंदम और समरजित उस पर बलात्कारी और अपराधी होने का आरोप लगाकर उसके जीवन को बरबाद करने के लिए उद्यत हो जाते हैं। मानोबी भी उनके खिलाफ मुकदमा दायर करती है। दोनों ओर से मुकदमेबाजी होती है। समरजित अपने पैसों के प्रभाव से बच निकलता है लेकिन मुकदमा चलता रहता है। यह प्रसंग मानोबी के जीवन को कलंकित करने के लिए रचा गया एक भयावह षडयंत्र था।

मानोबी आत्मकथा में विभिन्न अवस्थाओं में उसके व्यक्तिगत जीवन में उथल-पुथल मचाने वाले पात्रों का विस्तार से वर्णन करती हैं। सोमनाथ ने अपनी रचनात्मक गतिविधियों को स्वरूप प्रदान करने के लिए अपने घर में डांस और थियेटर के लिए एक ग्रुप बना लिया था, जिसे उसने अर्द्धनारीश्वर नाट्य संस्था का नाम दिया पुरुष व प्रकृति का सामंजस्य। जगदीश नामक एक और ट्रांसजेंडर से सोमनाथ की अंतरंग मैत्री उल्लेखनीय है। वह भी सोमनाथ के जीवन में प्रवेश कर घातक रूप से उसके जीवन को प्रभावित करता है। मानोबी अपनी व्यावहारिक विकृतियों और विरोधाभासों को स्वीकार करती है। वह हर बार स्थायी विश्वसनीय संबंध के लालच में स्वार्थी विलासी ट्रांसजेंडर और थर्ड जेंडर लोगों के चंगुल में फँसती जाती है। इनमें से कई पात्र अपना सर्वनाश खुद कर लेते हैं और मानोबी के जीवन से बाहर हो जाते हैं। सोमनाथ ने झाड़ग्राम स्थित विवेकानंद सतवार्षिकी कॉलेज में अध्यापन का कार्य प्रारंभ कर दिया। नैहाटी से झाड़ग्राम की दूरी प्रतिदिन की आवाजाही के लिए अनुकूल नहीं थी। इस कारण उसे झाड़ग्राम में ही अपने लिए आवास की व्यवस्था करनी पड़ी। कॉलेज का वातावरण सोमनाथ के अनुकूल नहीं

था। सोमनाथ बंद्योपाध्याय के नाम से पुरुष नहीं बल्कि कोई आधी स्त्री आ पहुँची थी। इस कॉलेज में सोमनाथ ने तिरस्कार के साथ-साथ अमानवीय व्यवहार और मानसिक यंत्रणा को भोगा। उस असहनीय यातना के बावजूद उसे टैगोर के गीतों व कविताओं में निहित दर्शन को पढ़ने और उस पर चर्चा करने का सुअवसर मिला। बांग्ला साहित्य के श्रेष्ठ प्राध्यापक के रूप में सोमनाथ को छात्रों का पर्याप्त समर्थन प्राप्त हुआ। लिंग परिवर्तन के लिए सर्जरी कराने का उसका संकल्प दृढ़ होता गया। वह इसके परिणामों से अवगत था। अध्यापन कार्य के साथ सोमनाथ ने पत्रकारिता जगत में भी प्रवेश किया और ट्रांसजेंडर लोगों की समस्याओं को स्वानुभव के आधार पर समाज के सम्मुख प्रस्तुत करने के लिए व्यक्तिगत रूप से पत्रिका प्रकाशित करने का निर्णय लिया। इस तरह भारत की पहली ट्रांसजेंडर पत्रिका का प्रकाशन हुआ जिसे उसने 'अबोमानोब' (subhuman) नाम दिया। यह एक प्रकार से समाज के खिलाफ उसका विद्रोह था जो बाहरी तौर पर उदारमना और सबको एक साथ लेकर चलने का दिखावा करता है, परंतु भीतर से ज़ालिम और निर्दयी है। पत्रिका में ट्रांसजेंडर लोगों से जुड़ी हर बात को प्रकाशित किया गया। सोमनाथ के सहयोगियों ने पत्रिका के लिए ट्रांसजेंडर व्यक्तियों के साक्षात्कार लिए, उनके स्वास्थ्य और सुरक्षा से संबंधित विषयों पर बात की, उनके रहन-सहन और बोलचाल के तौर-तरीकों पर चर्चा हुई, प्रेम, सेक्स और बधिया आदि विषयों को भी इसमें शामिल किया गया। यह पत्रिका खूब लोकप्रिय हुई। पाठक पत्रिका पढ़कर सार्थक सवाल करने लगे। इस तरह मानोबी इसे बड़ी उपलब्धि मानती हैं। इसकी उपलब्धि इसी बात में थी कि उसने आम जनता के मन में ट्रांसजेंडर लोगों के लिए एक जगह बनाने में सफलता पायी। मानोबी ने 'श्यामोली दी' नामक एक ट्रान्सजेंडर के जीवन पर बांग्ला में एक उपन्यास लिखा 'अंतहीन अंतरीन प्रोसीतोबोर्तिका' अर्थात रहस्यमयी क्षितिज। यह अबोमानोब पत्रिका में धारावहिक रूप से प्रकाशित हुआ और साहित्य जगत में सराहा गया।

सुप्रीम कोर्ट ने अप्रैल 2014 में अपने एक फैसले में ट्रांसजेंडर लोगों को थर्ड जेंडर तीसरे लिंग के रूप में मान्यता दी और संविधान में उनके समान अधिकारों की सुरक्षा की बात की गयी। इस निर्णय ने मानोबी को बहुत राहत दी। इस संदर्भ में मानोबी ने स्वप्नमोय चक्रवर्ती की ट्रांसजेंडर लोगों के जीवन पर आधारित पुस्तक 'होलदे गोलप' का उल्लेख किया है जिसे 'आनंद पुरस्कार' से सम्मानित किया गया। बांग्ला के प्रसिद्ध फिल्मकार ऋतुपर्णो घोष ने ट्रांसजेंडर के सत्य को प्रदर्शित करने के लिए 'चित्रांगदा' फिल्म बनायी थी जिसे लोगों ने देखा जरूर था लेकिन ट्रांसजेंडर के सत्य को पूरी तरह स्वीकारा नहीं गया। मनोबी के अनुसार अब एक निश्चित परिवर्तन समाज में दिखायी दे रहा है। यही कारण है कि पहले की तुलना में अब काफी ट्रांसजेंडर अपनी सच्चाई समाज के सामने स्वीकार करने में झिझकते नहीं हैं।

अबोमानोब पत्रिका के प्रकाशन के बाद सोमनाथ के जीवन में तेज़ी से परिवर्तन आया। उसे मीडिया में काफी लोकप्रियता मिली। उसकी लोकप्रियता ने कॉलेज के आततायियों से मुक्ति दिलाने में मदद की। उसने अपना खाली समय सेक्स परिवर्तन ऑपरेशन के संबंध में अधिक से अधिक जानकारी एकत्रित करने में लगाया। उसने सेक्स बदलने की सर्जरी करवाने का संकल्प तो ले लिया था, लेकिन उसे मालूम था कि यह प्रक्रिया बहुत जटिल और जोखिम से भरी होगी। हालाँकि अबोमानोब के कारण शहर में उसकी ख्याति में वृद्धि और कोलकाता के साहित्य जगत से नियमित संपर्क के कारण उसके आत्मविश्वास में वृद्धि हो गयी थी इसलिए वह हर चुनौती का सामना करने के लिए तैयार हो गया। इस ऑपरेशन से पूर्व उसने कई मनोचिकित्सकों और मनोविश्लेषकों से सलाह ली। सभी ने उसे उचित मार्गदर्शन दिया। सबसे ज्यादा मदद डॉ. अनिर्बान मजूमदार नामक एक प्रसिद्ध एन्डोक्रोनोलॉजिस्ट ने की। उन्होंने सोमनाथ को पूरी प्रक्रिया वैज्ञानिक ढंग से समझायी। सोमनाथ ने पाया कि डॉ. अनिर्बान मजूमदार कोलकाता में अपने क्षेत्र के महारथियों में से एक थे। डॉ. अनिर्बान ने उसकी सर्जरी करने के लिए हामी भर दी। इस ऑपरेशन के लिए सोमनाथ ने अपनी मेहनत से काफी बड़ी राशि की बचत की थी, जो इस अवसर पर उसके काम आयी। डॉ. अनिर्बान मजूमदार के प्रति मानोबी ने अपनी कृतज्ञता व्यक्त की है क्योंकि उनके समर्थन और प्रोत्साहन के बिना यह ऑपरेशन संभव नहीं था। उन्होंने अन्य ट्रांसजेंडर लोगों को भी ऐसी सर्जरी के लिए प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से ही सोमनाथ की सर्जरी करने के लिए हाथ बढ़ाया। उन्होंने अपनी फीस भी बहुत घटा दी थी ताकि अधिक-से-अधिक ट्रांसजेंडर उनके पास आने के लिए हिम्मत कर सकें। मानोबी ने इस बात का उल्लेख विशेष रूप से किया कि डॉ. अनिर्बान ने उससे एक रुपया भी नहीं लिया। सोमनाथ

के ऑपरेशन के निर्णय का विरोध करने वाले संगी-साथियों की भी कमी नहीं थी। कई लोगों ने इसे खतरनाक बताया और उसे इस ऑपरेशन को कराने से रोकने का भरपूर प्रयास किया। कुछ लोगों ने पहले किये गये ऐसे ऑपरेशन की विफलता के उदाहरण दिये लेकिन इन सबका कोई असर सोमनाथ पर नहीं हुआ। डॉ. अनिर्बान ने उसका हौसला बढ़ाया। डॉ. अनिर्बान के साथ डॉक्टरों की एक अनुभवी टीम ने हॉरमोनल दवाओं के मेल से उसका इलाज करना शुरू कर दिया था। इन डॉक्टरों के पास उस समय इस सर्जरी के लिए कोई कारगर मार्गदर्शन मौजूद नहीं था। फिर भी डॉक्टरों ने हिम्मत नहीं हारी और एक चुनौती के रूप में इस ऑपरेशन को किया। मानोबी ने आत्मकथा में उस लंबी प्रक्रिया के बारे में लिखा है जिससे जनसामान्य को उसके इलाज के बारे में सविस्तार जानकारी मिल सके। पहले उसके भीतर मौजूद पुरुष हारमोन को घटाया जाना था, उसके शरीर तंत्र में इसकी मात्रा अधिक थी, इसके साथ ही इंजेक्शन और दवाओं की मदद से शरीर में ऐस्ट्रोजन नामक मादा हॉरमोन को बढ़ाना था। यह एक क्रमिक चिकित्सा थी, जिसमें उसके शरीर में जाने वाले कृत्रिम हॉरमोन गहरी उथल-पुथल मचाने वाले थे। यह हॉरमोन उपचार सन् 1999 में आरंभ हुआ था और अंततः वर्ष 2003 में सोमनाथ की सर्जरी की गयी। अगले तीन वर्षों तक मानोबी हॉरमोन थेरेपी लेती रही और उसने अपने शरीर को धीरे-धीरे बदलते देखा। उसने अनुभव किया कि वह बेहद खूबसूरत और आकर्षक होती जा रही है। उसके देह की पुरुषोचित कठोरता घुलती जा रही थी और धीरे-धीरे त्वचा कोमल और चमकदार दिखने लगी थी। वक्ष भी विकसित होने लगे थे। जब वह अपने बदलते हुए शरीर को देखती तो उसके रोंगटे खड़े हो जाते। पहले भी पुरुष का शरीर होने के बावजूद उसके नैन-नक्श काफी तीखे हुआ करते थे। इस वजह से डॉ. अनिर्बान का काम थोड़ा आसान हो गया था। वह पहले से ही एक स्त्री की तरह ही सोचती और व्यवहार करती थी, इससे भी कृत्रिम हारमोन को बढ़ावा मिला। सर्जरी के बाद सोमनाथ को काफी मनोवैज्ञानिक दबाव से गुजरना पड़ा क्योंकि बाह्य समाज में लोग उसे फब्तियों और अपशब्दों से परेशान करने लगे थे। अब उसे स्त्री के रूप में समाज की मान्यता की आवश्यकता थी। इसके लिए भी उसे काफी संघर्ष करना पड़ा। हर ऐसे अवसर पर डॉ. अनिर्बान चट्टान की तरह उसके साथ खड़े थे। वह नियमित रूप से उसका परीक्षण करते रहे। उसकी मनोचिकित्सीय काउंसिलिंग बढ़ा दी गयी ताकि वह आगे आने वाले उस भारी बदलाव के तनाव को झेल सके। तब उसे समझ में आया कि जन्मजात पुरुष के देह के साथ नारीत्व को महसूस करना एक अलग बात थी और शरीर की प्राकृतिक प्रक्रियाओं को रोककर सजग भाव से दूसरे सेक्स में बदलने का निर्णय लेना पूरी तरह से अलग चुनौती थी। एक बार यह सब होने के बाद वह अपने पहले के रूप में वापस नहीं जा सकती थी। उसने डॉ. अनिर्बान को आश्वस्त किया कि वह स्त्री होने के लिए ही जन्मी थी और उसने इसके लिए अपने जीवन को दांव पर लगा दिया था ताकि उसे एक नारी देह मिल सके। उसके रूपांतरित देह में स्त्री की कृत्रिम योनि भी रोपित कर दी गयी। यह डॉ. अनिर्बान के प्लास्टिक सर्जन मित्र डॉ. मनोज खन्ना के सहयोग से संभव हो सका। अब सोमनाथ पूर्ण रूप से एक आकर्षक सुंदर स्त्री में परिवर्तित हो चुका था। अब स्त्री देह में समाज का सामना करने की बड़ी चुनौती उसका इंतजार कर रही थी। उसने सर्जरी के बाद कानूनी तौर पर अपना नाम बदल लिया क्योंकि नाम भी उसके नवीन रूपांतरित स्त्री स्वरूप के अनुरूप होना चाहिए था। यही भाव उसके नाम में झलकना चाहिए था। उसने मानोबी नाम इसलिए चुना क्योंकि इसका अर्थ है सर्वोत्कृष्ट मादा, जैसा प्रकृति ने उसे बनाया है। इस तरह उसने अपना नाम सोमनाथ से बदलकर मानोबी रखा और यह काम कोर्ट में मैजिस्ट्रेट के सामने किया गया। इसके बाद शीर्षस्थ अखबारों को अपने नाम और लिंग परिवर्तन के बारे में सूचित किया।

मानोबी ने 2005 में पीएचडी का काम पूरा कर लिया और उसे डॉक्टरेट की उपाधि कल्याण विश्वविद्यालय के दीक्षांत समारोह में सन् 2006 में दी गयी। मानोबी ने कल्याण विश्वविद्यालय से ट्रांसजेंडर से जुड़ी समस्याओं पर शोध कार्य सम्पन्न किया। आज वह डॉ. मानोबी बंद्योपाध्याय के नाम से शैक्षिक जगत में जानी जाती है। उसके सारे सर्टिफिकेटों पर सोमनाथ लिखा था जब कि उसे पीएचडी की डिग्री मानोबी बद्योपाध्याय के नाम से मिली थी। पहले के सरकारी दस्तावेजों और नौकरी से जुड़े दस्तावेजों में अलग-अलग नाम के होने से उसके शैक्षिक जीवन की प्रगति में बाधाएँ उत्पन्न हुईं। इस असंगति को दूर करना आवश्यक था। इस असंगति के कारण मानोबी को पदोन्नतियों आदि से प्राप्त वेतन वृद्धि आदि लाभ नहीं मिल सके। किंतु, पश्चिम बंगाल में सत्ता परिवर्तन के बाद सुश्री ममता बनर्जी के शासन काल में उसके अभ्यावेदन पर तत्काल कार्यवाही

हुई और मानोबी बद्योपाध्याय के नाम पर पहले के सारे दस्तावेज़ों में परिवर्तन कर दिया गया और उसे वह सब वित्तीय लाभ भी मुहैया कराये गये जिनसे वह वंचित थी। मानोबी के पिता का देहांत मार्च 2011 में हो गया, उससे पहले ही माता का भी निधन हो चुका था। मानोबी माता-पिता के प्रति भावुक हो उठती हैं क्योंकि वे दोनों सोमनाथ के लिए आजीवन कष्ट उठाते रहे और उसकी सुरक्षा की चिंता आजीवन करते रहे। जब वह बेटी बन गयी तब भी उनके प्यार में कोई कमी नहीं आयी। उनमें संसार के खिलाफ लड़ने का साहस भले ही नहीं था, पर वे अपने शांत स्वभाव के साथ सदा मानोबी के संग रहे।

सन् 2012 में राज्य में प्रधानाचार्य पद के लिए नियुक्तियों का विज्ञापन आया। इसके लिए मानोबी ने आवेदन किया। वह कॉलेज सर्विस कमीशन की कठिन चयन प्रक्रिया में सफल हुई। मार्च 2015 में डॉ. मानोबी बंद्योपाध्याय की नियुक्ति देश की प्रथम ट्रांसजेंडर प्रिंसिपल के रूप में कृष्ण नगर वुमेन्स कॉलेज में हो गयी।

झाड़ग्राम कॉलेज में अध्यापन काल में सन् 2011 में मानोबी को महिषादल राज कॉलेज में आशापूर्णा देवी पर आयोजित एक सेमिनार में भाग लेने का अवसर मिला। उस सेमिनार के दौरान कुछ छात्र उससे मिलने आये थे। उन छात्रों में से देबाशीष नामक एक निर्धन परिवार का दयालु स्वभाव का लड़का उसकी सहायता करने के लिए आया। उस लड़के की ईमानदारी और कर्मठता ने उसे आकर्षित किया। बहुत जल्द वह लड़का मानोबी के जीवन का हिस्सा बन गया। देबाशीष को उसने पुत्र के रूप में स्वीकार कर लिया। देबाशीष उसके लिए देबू हो गया और वह भी मानोबी के आग्रह पर उसे माँ कहने लगा। अब मानोबी, देबा की माँ बनकर उसका पालन करने लगी। मानोबी के जीवन में देबा का आगमन उसके जीवन को सार्थकता प्रदान करने में सहायक सिद्ध हुआ। देबू से उसे वह दुर्लभ मातृत्व की अनुभूति हुई जिसके लिए वह व्याकुल थी। इस तरह से उसका नारीत्व परिपूर्णता को प्राप्त हो रहा था। माँ-बेटे के रूप में उन दोनों का रिश्ता मजबूत होने लगा। देबा के लिए एक सहारा मिल जाने से नैहाटी में रहने वाले उसके माँ-बाप को भी संतोष हुआ क्योंकि मानोबी उसे पढ़ा रही थी। मानोबी स्वयं को यशोदा और देबा को बालगोपाल के रूप में देखने लगी थी। मानोबी कृष्ण नगर कैंपस में देबा के साथ रहने लगी थी। मानोबी के शब्दों में "हमारा क्वार्टर बेहद छोटा-सा है पर मैं प्रसन्न हूँ। इसके आस-पास बहुत हरियाली है और मैं इसके आस-पास टहलते हुए, बदलती हुई ऋतुओं व उनके परिवर्तन को अपनी देह पर महसूस कर सकती हूँ। ताज़ी और शुद्ध हवा धीरे-धीरे मेरे भीतर बरसों से जमे तनाव को पिघलाने में कामयाब रही है। मुझे लगता है कि किस्मत ने पलटी खायी है जिसके लिए मैं भगवान शिव को धन्यवाद देती हूँ। आखिरकार, उन्होंने मेरी प्रार्थनाओं का प्रत्युत्तर दे ही दिया। देबा मेरी देखरेख करता है और हम बहुत ही शांतिपूर्ण जीवन व्यतीत कर रहे हैं। मैंने देबा को वह सब दिया जो एक माँ अपने बच्चे को प्रसन्न करने के लिए दे सकती है। अच्छा भोजन, कपड़े, ख़रीदारी और बाहर घूमने खाने के लिए पैसा। अब उसे अपने लिए नौकरी की तलाश करनी है क्योंकि वह मेरी मुलाकातों, बैंक के कामों और दुनिया व मेरे बीच संपर्क सूत्र की तरह काम कराते हुए अपना पूरा जीवन नहीं बिता सकता। (आत्मकथा से)। देबा अपनी माँ की देखभाल करता है और उसके साथ साये की तरह रहकर उसकी सेवा करता है। मानोबी ने देबू के भविष्य के लिए काफी कुछ सोच रखा है। अंत में मानोबी अपने माता-पिता और दोनों बहनों के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करत हैं जो उसके रूपांतरण की पूरी प्रक्रिया के दौरान उसके साथ रहीं। वह मुख्यमंत्री ममता बनर्जी का आभार प्रकट करती हैं जिन्होंने उसे घूरे से उठाकर चमकने और दुनिया के सामने आने में मदद की।

मानोबी बंद्योपाध्याय द्वारा बांग्ला में रचित आत्मकथा हिंदी और अंग्रेजी में अनूदित होकर साहित्य जगत में चर्चा का विषय बन गयी है। एक ट्रांसजेंडर महिला के स्वानुभवों का यह जीवंत दस्तावेज़ है। ट्रांसजेडर व्यक्ति का जीवन थर्ड जेंडर (किन्नर) समुदाय के लोगों से काफी भिन्न होता है, इस यथार्थ को समझने के लिए प्रस्तुत आत्मकथा उपयोगी है। लिंग परिवर्तन की प्रक्रिया से जुड़े अनेक अज्ञात तथ्यों को उद्घाटित करने में मानोबी की आत्मकथा सहायक हो सकती है। मानोबी ने बिना किसी दुराव के लोकलाज की परवाह किए बिना अपने शरीर और आत्मा पर हुए हिंसक हमलों का वर्णन किया है। प्रस्तुत आत्मकथा सभ्य समाज के लिए एक चुनौती है। निश्चित रूप से समाज में परिवर्तन की आवश्यकता को प्रस्तुत कृति रेखांकित करती है। आखिरकार, मानोबी ने पुरुष तन में फंसे नारी मन को मुक्त कर ही दिया। ❖❖❖

नूतन कोणार्क का अभ्युदय

डॉ. सत्यप्रकाश पाल

संपर्क :
सहायक आचार्य,
हिंदी विभाग,
काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी

पुस्तक : ऐ जिन्दगी तुझे सलाम
लेखक : हरभजन सिंह मेहरोत्रा
प्रकाशक : अमन प्रकाशन,
कानपुर-208012 (उ.प्र.)
वर्ष : 2020
मूल्य : 275 रु.

ऐ जिंदगी तुझे सलाम किन्नर विमर्श पर आधारित हरभजन सिंह मेहरोत्रा का एक महत्त्वपूर्ण उपन्यास है, जिसका प्रकाशन 2020 में हुआ है। शीर्षक की भाँति ही पूरा उपन्यास भी एक सकारात्मक सोच और प्रगतिशील दृष्टिकोण से संपन्न है। किन्नर अर्थात् ट्रांसजेंडर लोग भी हमारे समाज का अनिवार्य और अविभाज्य अंग हैं। हमारे समाज का ताना-बाना मर्द और औरत से मिलकर बना है लेकिन यह तीसरा जेंडर भी हमारे समाज का ही हिस्सा है। दुर्भाग्य से इसकी पहचान कुछ ऐसी बन गयी है कि जिसके कारण सभ्य समाज इन्हें अच्छी नज़र से नहीं देखता, और इन्हें किन्नर, हिजड़ा, छक्का, पावैया, खुस्रा, जनखा, कोज्जा, आदि शब्दों से संबोधित कर अपमानित और तिरस्कृत करने का अपराध करता है। एक मनुष्य के रूप में उन्हें भी जीवन जीने और मानवीय अधिकारों को प्राप्त करने का पूर्ण अधिकार है। परंतु यह हमारे समाज का दुर्भाग्य है कि सदियों से इन्हें एक समस्या की तरह देखा जाता रहा और सामाजिक तौर पर अस्वीकार किया गया। इन कारणों से जहाँ एक तरफ ये लोग समाज और राष्ट्र के विकास की प्रक्रिया में भागीदार होने और अपना योगदान देने से वंचित रह गये, वहीं दूसरी तरफ इनका स्वयं का जीवन भी बदतर होता चला गया। कई शुभ अवसरों पर नाच गाकर उत्सव मनाने वाले ये लोग बाद में बसों, रेलगाड़ियों और बाजारों में माँग कर जीवन यापन करने के लिए मजबूर होते चले गये। एक लंबे संघर्ष के बाद किन्नर समुदाय के लोगों को वाजिब और जरूरी सामाजिक पहचान और कानूनी अधिकार प्राप्त हुआ है। अनंत काल से समाज में दुर्भाग्यवश और अभिशाप के प्रतीक रूप में रूढ़ हो चुके किन्नर बहुत विलंब से ही सही परंतु आज चिंत्त और विमर्श के केंद्र में आ गया है। नवम्बर 2009 में भारत सरकार ने किन्नरों की पुरुषों एवं महिलाओं से अलग पहचान को स्वीकृति प्रदान की तथा निर्वाचन सूची एवं मतदाता पहचान-पत्रों पर इनका 'अन्य' के तौर पर उल्लेख किया। 15 अप्रैल 2015 को उच्चतम न्यायालय ने तीसरे लिंग के रूप में किन्नरों के अधिकारों को मान्यता दी और सभी आवेदनों में तीसरे लिंग का उल्लेख अनिवार्य कर दिया। इतना ही नहीं उच्चतम न्यायालय ने इन्हें बच्चा गोद लेने का अधिकार भी दिया और इन्हें चिकित्सा के माध्यम से पुरुष या स्त्री बनने का भी अधिकार दिया। लेकिन आज भी समाज में इन्हें अच्छी दृष्टि से नहीं देखा जाता। कोई इन्हें न तो अपने घर पर बुलाना पसंद करता है और न ही कोई इनसे सामाजिक संपर्क रखना चाहता है। उलटे जिस दिन किसी शुभ अवसर पर ये किसी परिवार में बधाई देने आते हैं, तो गृहस्वामी जल्द-से-जल्द इन्हें मुँहमांगी रकम देकर इनसे पीछा छुड़ाना चाहते हैं। साहित्यिक दृष्टिकोण से आज अनेक विमर्शों की चर्चा की जा रही है और समाज के अनेक उपेक्षित वर्गों पर साहित्य में चिंतन हो रहा है, किंतु लिंग निरपेक्ष और समाज बहिष्कृत किन्नर समुदाय के चिंतन और विमर्श से जुड़ा विषय आज सर्वाधिक प्रासंगिक और महत्त्वपूर्ण सिद्ध हो रहा है। पिछले कुछ वर्षों में किन्नर विमर्श को आधार बनाकर हिंदी के विभिन्न विधाओं में उससे जुड़े विषयों पर बहुत सी रचनाएँ आईं। किंतु यह ग्रंथ किन्नर विमर्श की इस चिंतन प्रक्रिया को और अधिक विस्तार देने का कार्य करता है।

उपन्यास की कथावस्तु एक किन्नर बच्ची मधु के चरित्र को केंद्र में रखकर रची गयी

है। पगलिया नामक एक स्त्री जिसकी मानसिक स्थिति सही नहीं होती है अक्सर बदनीयत और कुचरित्र वाले आवारा मर्दों की ज्यादती का शिकार होती रहती है। बच्ची मधु का जन्म भी एक ऐसी ही घटना का परिणाम था। जन्म के बाद मधु को एक बहुत ही निर्धन और असहाय दंपति रूपा और उसके पति कलुआ द्वारा पाला जाने लगा। रूपा को स्वयं कोई संतान नहीं थी और पगलिया की बच्ची मधु से उसे स्वाभाविक लगाव हो गया। यह जानते हुए भी कि यह बच्ची सामान्य बच्चों की तरह नहीं है रूपा बच्ची मधु के लिए अपने पति को भी छोड़ने को तैयार हो जाती है। छह-सात माह की अवस्था में ही मधु को कुछ जरायमपेशा लोगों द्वारा दुर्गा पूजा के मेले से चुरा कर किन्नरों को बेच दिया जाता है। जहाँ बच्ची मधु बड़ी होती है और रज्जो मौसी तथा निर्मला गुरु जैसी किन्नरों के सहयोग से वह अपनी पढ़ाई पूरी कर प्रशासनिक अधिकारी बनती है। फिर वह अपने जन्म से जुड़े रहस्यों का पता लगाती है। जब उसे अपने ही तरह किसी अन्य बच्चे के बारे में पता चलता है तो वह उसे सहर्ष स्वीकार करती है। इस उपन्यास में एक किन्नर बच्ची मधु के प्रशासनिक अधिकारी रोशनी बढ़ाने तक के सफर को लेखक ने पूरी रचनात्मकता और रोचकता के साथ प्रस्तुत किया है। किन्नरों का जीवन जन्म से ही मुश्किलों से भरा होता है। उन्हें जीने के लिए कदम-कदम पर चुनौतियों का सामना करना पड़ता है। समाज में लंबे समय से उन्हें हेय दृष्टि से देखा जाता रहा है। यह उपन्यास किन्नर जीवन संघर्ष के विभिन्न पक्षों और पहलुओं पर विचार करने के लिए पाठकों को बाध्य करता है।

लेखक ने इस उपन्यास के माध्यम से जहाँ किन्नरों के अभिशप्त जीवन के कारणों को ढूँढने का प्रयास किया है, वहीं उनके कष्टपूर्ण जीवन का चित्रण भी किया है। आजादी के इतने वर्षों बाद भी हमारी सरकारों के विकासवादी नीति-नियमों में किन्नरों के लिए कोई ठोस योजना का सर्वथा अभाव था। इस कारण ऐसे लोगों को एक लंबे समय से लगातार अपमानित और तिरस्कृत जीवन जीने के लिए बाध्य होना पड़ा। उभय लिंग अथवा थर्ड जेंडर के इस जन समुदाय ने लोगों की खुशी के अवसरों पर नाच-गा कर न्योछावर या दान तथा बसों, ट्रेनों आदि में ताली बजाकर, लोगों को दुआएँ दे कर पैसे मांगने जैसे भिक्षावृत्ति तुल्य साधन पर जीवन-यापन को अपनी नियति मान लिया है। हमारे समाज ने कभी ऐसे लोगों की ओर गंभीरता से गौर करने तक का कष्ट नहीं उठाया। इनके जीवन-यापन हेतु रोजगार, पुनर्वास आदि के लिए सामाजिक और शासन के स्तर पर किसी भी तरह के ठोस कार्यक्रमों का अभाव रहा है। लेखक ने अपने उपन्यास में इस तथ्य को दर्शाया है कि उभय लिंग अथवा थर्ड जेंडर के लोग समाज के लिए अभिशाप नहीं, उन्हें अभिशप्त नहीं बल्कि सशक्त समझे जाने की जरूरत है। यह वास्तविकता है कि थर्ड जेंडर की जनसंख्या में बुचरा अर्थात् ऐसे लोग जो जन्म से ही न स्त्री न पुरुष होते हैं की संख्या मात्र आधे से एक प्रतिशत के करीब ही है। किसी कारणवश स्वयं को इस वर्ग में समर्पित करने वाले, मनसा अर्थात् मनोवैज्ञानिक कमजोरी के कारण स्वयं को अक्सर स्त्रीलिंग के अधिक निकट महसूस करने वाले तथा हंसा अर्थात् शारीरिक कमजोरी और नपुसंकता आदि के कारण इस वर्ग में शामिल लोग होते हैं जिन्हें समुचित इलाज, साधारण आपरेशन और उपयुक्त काउंसलिंग द्वारा ठीक करके स्त्री या पुरुष बनाया जा सकता है और उनके रोजगार और पुनर्वास आदि की व्यवस्था कर उन्हें सामान्य जीवन में वापस लाया जा सकता है। उपन्यास को पढ़ते हुए लगातार यह महसूस होता है कि किन्नर अर्थात् थर्ड जेंडर के लोगों को समाज की मुख्यधारा से जोड़ना ही, उनकी समस्या का एकमात्र समाधान हो सकता है। उनकी पहचान, उपचार, शिक्षा और रोजगार के अवसर को सुनिश्चित कर उन्हें समाज से एक घृणित, अभिशप्त और उपेक्षित वर्ग की मिली पहचान के बदनुमा दाग को मिटाया जा सकता है। इस उपन्यास में चित्रित उपन्यास की नायिका मधु अथवा रोशनी का जीवन भी इस विचार का समर्थन करता है।

एक किन्नर लड़की के जीवन संघर्षों की परत-दर-परत विवेचना करता हरभजन सिंह मेहरोत्रा का यह उपन्यास उनके जीवन में जन्म से लेकर पढ़ाई-लिखाई, नौकरी और प्रेम आदि में होने वाले उन अकल्पित मुश्किलों का चित्रण करता है। उपन्यास की नायिका रोशनी को जन्म से ही अपने विशेष लिंग के होने के कारण दुःख उठाना पड़ता है। परंतु, एक सामान्य मनुष्य की भाँति रोशनी भी जीवन के अनेक झंझावातों का सामना कर अपनी जिंदगी को अपनी मेहनत के दम पर एक बेहतर मुकाम देती है।

यह कृति एक संक्षिप्त उपसंहार के अतिरिक्त तीन परिच्छेदों में विभाजित दो सौ पृष्ठों का उपन्यास है। आकार में यह उपन्यास न तो अति संक्षिप्त और न ही अधिक विस्तृत है। मधु अर्थात् रोशनी

उपन्यास की मुख्य चरित्र और नायिका है। रूपा, कलुवा, पगलिया, आरती, निर्मला गुरु, नविता आदि इस उपन्यास के अन्य पूर्ण पात्र हैं जिनके सहारे रोशनी के चरित्र को केंद्र में रखकर पूरा कथा विन्यास रचा-बुना गया है। एक किन्नर लड़की के जीवन संघर्षों की परत-दर-परत विवेचना करता हरभजन सिंह मेहरोत्रा का यह उपन्यास उनके जीवन में जन्म से लेकर पढ़ाई-लिखाई, नौकरी और प्रेम आदि में होने वाले उन अकल्पित मुश्किलों का चित्रण करता है। उपन्यास की नायिका रोशनी को जन्म से ही अपने विशेष लिंग के होने के कारण दुःख उठाना पड़ता है। परंतु एक सामान्य मनुष्य की भाँति रोशनी भी जीवन के अनेक झंझावातों का सामना कर अपनी जिंदगी को अपनी मेहनत के दम पर एक बेहतर मुकाम देती है। लेकिन यह मुकाम हासिल करने में रोशनी जैसी लड़कियों को सामान्य मनुष्य की तुलना में ज्यादा संघर्ष करना पड़ता है। उपन्यास उभयलिंगी लोगों को सामाजिक रूप से स्वीकार करने की पक्षधरता को दर्शाता है। और, इसके लिए उनके शिक्षित और आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर होने की जरूरत पर विशेष बल देता है। साथ ही किन्नर जीवन की स्वीकार्यता को पुरजोर तरीके से रखता है, क्योंकि वे भी मानव समाज और मानव जाति के अभिन्न अंग हैं। उपन्यास इसकी प्रेरणा देता है कि किन्नरों के उत्थान के लिए समाज को उनके प्रति अपनी रूढ़ धारणा बदलनी होगी और उन्हें स्वीकार करना होगा। एक मनुष्य के रूप में उन्हें भी पूरी गरिमा, अवसर और सम्मान के साथ जीवन जीने का अधिकार है। भारत का संविधान भी देश के ऐसे लोगों को मान्यता दे चुका है। हमारे साहित्य और हमारे समाज की मानसिकता में किन्नर विमर्श अभी भी बेहद अपरिपक्व तथा पूर्वाग्रहग्रस्त अवस्था में है, ऐसा कहा जाए तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। हमारे समाज की वैचारिकी अभी भी इन्हें स्वीकार करने में हिचक रही है। फिर भी यह तो मानना ही होगा कि दिन-प्रतिदिन खुल रहे और विकसित हो रहे समाज ने अब इन्हें भी थोड़ा-सा ही सही, स्पेस देना शुरू कर दिया है और शीघ्र ही हम वह दिन भी देखेंगे, जब ये भी समाज में सामान्य लोगों की भाँति अपने मानवाधिकारों के साथ जीवन-यापन कर सकेंगे।

लेखक को ऐसी प्रामाणिक कृति के लिए साधुवाद जो किन्नरों के प्रति विभेद, वितृष्णा को समझ कर एक नये सूर्योदय का अवसर देगा। पूरा उपन्यास अपने कलेवर बुनावट एवं वैचारिक दृष्टि से एक अलग धरातल पर रचा-बुना गया कारुणिक एवं हृदयस्पर्शी उपन्यास है।

❖❖❖

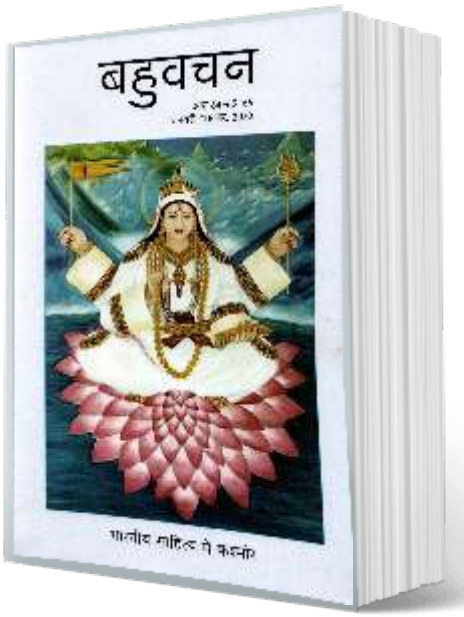

तकनीक और विकास का अंतर्संबंध

प्रेमपाल शर्मा

संपर्क :
प्रेमपाल शर्मा
96 कला विहार अपार्टमेंट्स
मयूर विहार फेज वन एक्सटेंशन
दिल्ली - 91
मोबाइल : 99713 99046
ppsharmarly@gmail.com

पुस्तक : Midnight's Machines
A Political History of
technology in India.
लेखक : अरूण मोहन सुकुमार
प्रकाशक : पेंगुईन रैंडम
हाऊस इंडिया
वर्ष : 2019
मूल्य : 599 रु.

इस किताब के लेखक अरुण मोहन सुकुमार को इस वर्ष रामनाथ गोयनका पुरस्कार मिला है। फिलहाल ऑब्जर्वर रिसर्च फाउंडेशन में काम कर रहे हैं और पी.एचडी फ्लेचर स्कूल, टैफ्स यूनिवर्सिटी से की है। पुस्तक के शीर्षक से आप चौंक सकते हैं लेकिन सही मायनों में आजाद भारत में तकनीक और राजनीति का क्या संबंध रहा है और भारत में विकास की गति पर उसका क्या असर पड़ा है, इसका बेबाक अध्ययन सचमुच चमत्कृत करता है। पुस्तक के कवर पर शशि थरूर संसद सदस्य की प्रशंसा वाक्यों से लगा यह नेहरू युगीन विज्ञान और तकनीकी प्रगति पर केंद्रित होगी, लेकिन नहीं, इसका मुख्य फोकस मौजूदा मोदी सरकार के विशेषकर तकनीक के माध्यम से कैसे सबके विकास को संभव बनाने की कोशिश है, उस पर ज्यादा ध्यान दिया है। अच्छाई या बुराई जो भी हो वह चाहे नेहरू युग में हो या इंदिरा गांधी के समय या उसके बाद, विद्वान लेखक से बच नहीं पाये। किसी भी राजनीतिक दल या व्यक्ति के प्रति लेखक का कोई पूर्वाग्रह नहीं है। उनका ध्यान विज्ञान और तकनीक के समानांतर दुनिया के देशों के बीच भारत की प्रगति उसकी आर्थिकी, उद्योग के विकास पर केंद्रित रहा है।

मेरे जैसे पाठक के लिए एक बात और चमत्कार की तरह लगी। अपनी लंबी प्रस्तावना में ही मदन मोहन मालवीय की भारत में तकनीक को लाने वालों में अग्रणी नेता के रूप में उनके योगदान को याद करना। अभी तक तो हम मदन मोहन मालवीय को मुख्य रूप से बनारस हिंदू विश्वविद्यालय के संस्थापक और निर्माता के रूप में ही जानते हैं। कुछ और राजनीति की परख रखने वाले उन्हें हिंदू

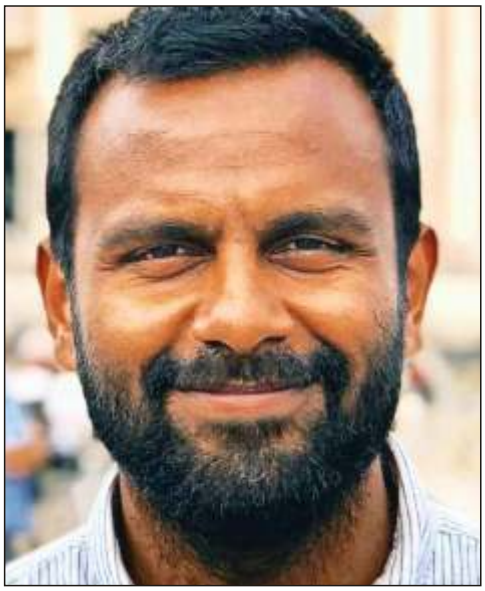

महासभा के नेता के रूप में भी रेखांकित करते हैं। पहली बार उनके विज्ञान और तकनीक के प्रति लगाव की बात इस पुस्तक से ही पता लगी। मालवीय जी स्वदेशी आंदोलन के तो समर्थक थे लेकिन उनका विचार था कि भारत जैसे गरीब देश के लिए तकनीक बहुत जरूरी है और इसके लिए यदि हमें विदेशों से तकनीक सीखनी पड़े, लेनी पड़े तो उसमें कोई हर्ज नहीं है। उनका अगला पड़ाव देश के अंदर विश्वविद्यालयों में शिक्षा के जरिये उस तकनीक को विकसित करने का होना चाहिए और यही उन्होंने बनारस हिंदू विश्वविद्यालय और दूसरे विश्वविद्यालय में किया। यह बात आजादी से पहले स्वदेशी आंदोलन के बहुत सारे नेताओं के गले उतारना आसान नहीं था लेकिन महात्मा गांधी ने उनकी योग्यता को भाँप लिया था। वे बहुत अच्छे संगठन करता तो थे ही उनकी देशभक्ति भी निष्ठा से परे थी। हिंदू महासभा के साथ संपर्क रखने के बावजूद भी उन्हें गांधीजी का विश्वास लगातार मिला। इसीलिए प्रथम विश्व युद्ध के समय जब अंग्रेजों ने भारत में

तकनीकी विकास और उद्योग को बढ़ाने के लिए जो समिति बनायी उसमें भारत की ओर से मदन मोहन मालवीय जी को ही शामिल किया गया। इस रूप में लेखक उन्हें भारत में विज्ञान और तकनीक की नींव जमाने वाले विश्वेशरैया, पीसी महालनोविस, विक्रम साराभाई और नंदन नीलकेणी आदि के साथ रखते हैं। वे औद्योगिकीकरण के पक्ष में थे जबकि गांधी औद्योगिकीकरण को भारत जैसे गरीब देश की लिए उपयुक्त नहीं पाते थे। लेखक मालवीय जी के सूत्र से देश की मौजूदा प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी की डिजिटल और तकनीकी दुनिया के प्रति लगभग सम्मोहन से जोड़ते हुए बहुत रोचक अंदाज में आजादी के बाद तकनीकी विकास को रेखांकित करता है।

पुस्तक की शुरुआत में लेखक प्रधानमंत्री मोदी के 2014 में पद ग्रहण करने के बाद सबसे पहले जापान की यात्रा के बारे में बताते हैं। संभवतः प्रधानमंत्री मोदी ने विदेश यात्रा के लिए सबसे पहले उस जापान को चुना जिसकी कार्यकुशलता, तकनीकी ऊँचाइयों से वे बेहद प्रभावित रहे हैं और आज भी हैं। जापान यात्रा में उन्होंने उन स्कूलों को देखने इच्छा प्रकट की जिन्होंने सैकड़ों प्रतिष्ठित व्यवसाय और वैज्ञानिकों को शिक्षा दी है। जापान के इतिहास पर रोशनी डालते हुए लेखक कहता है कि 19वीं सदी के उत्तरार्ध में मैजी शासक ने सबसे पहले सभ्यता और समाज के विकास को आगे ले जाने के लिए अच्छी शिक्षा और तकनीक के महत्त्व को पहचाना। यह अचानक नहीं है कि एशिया के देशों में जापान पहला देश था जिसने विकास की ऐसी ऊँचाइयों को

लेकिन 2014 के बाद आर एस एस की स्वदेशी जागरण मंच द्वारा पैदा किये अवरोधों के बावजूद भी मोदी विज्ञान और तकनीक के महत्व को बेहतर समझते हैं। लेखक यहाँ फिर मदन मोहन मालवीय जी को याद करते हैं जिनका कहना था कि भारत जैसे देश में अभी वैज्ञानिक तकनीक उसे स्तर की नहीं है इसलिए उसका आयात करने में कोई बुराई नहीं और उसके बाद हमें स्वावलंबी होना है। प्रधानमंत्री मोदी भी इसी रास्ते पर हैं कि यदि देश के संसाधनों को बढ़ाने के लिए विदेशी पूंजी की जरूरत है, फॉरेन इन्वेस्टमेंट की जरूरत है तो वह आनी चाहिए लेकिन धीरे-धीरे हम आत्मनिर्भर भारत की तरफ बढ़ेंगे। यहाँ स्वदेशी मंच का फॉरेन इन्वेस्टमेंट के बारे में जो विरोध है उसे उन्होंने दरकिनार कर दिया है।

हासिल किया है जो उसे दुनिया के महानतम देशों में शामिल करता है। आबादी और आकार में इतना छोटा होने के बावजूद केवल तकनीक के बूते वह अमेरिका, इंग्लैंड चीन के साथ खड़ा है। विज्ञान और तकनीक के रास्ते पर ही आगे चल कर सिंगापुर, दक्षिण कोरिया, हांगकांग ताइवान आज विकसित देशों में शामिल हैं। सिंगापुर के प्रधानमंत्री ने तो बार-बार यह कहा है कि मैं सौभाग्यशाली हूँ कि जब 1960 के दशक में सिंगापुर की बागडोर मैंने संभाली उस समय तकनीकी क्रांति का दौर शुरू हो चुका था। ज्ञान-विज्ञान के सैकड़ों दरवाजे पूरी दुनिया के लिए खुले हुए थे। मुझे बस इनसे सीखते हुए जनता तक पहुँचाना था। आज भी जो देश विकास की दौड़ में आगे हैं, उन सबने यही रास्ता चुना है और इसी रास्ते को प्रधानमंत्री मोदी ने चुना है।

प्रधानमंत्री मोदी इस बात को अपने समकालीन राजनेताओं के मुकाबले ज्यादा बेहतर तरीके से समझते हैं और इसलिए उनकी राजनैतिक एजेंडा में परिवर्तन के लिए तकनीक मुख्य हथियार के रूप में काम कर रही है।

पुस्तक का सबसे महत्त्वपूर्ण और प्रासंगिक अध्याय मोदी और तकनीक कहा जा सकता है। लेखक इस अध्याय की शुरुआत एक वास्तविक अनुभव से करते हैं। 2019 के चुनाव से कुछ दिन पहले मोदी जब एक जनसभा में भाषण दे रहे थे तो एक महिला ने बड़े भोलेपन से प्रश्न उठाया कि 'मैं अपने बेटे से परेशान हूँ। वह मोबाइल पर गेम खेलता रहता है उसकी इस लत को कैसे छुड़ाए?' प्रधानमंत्री मोदी जी ने उस प्रश्न को तुरंत लपका और कहा कि तकनीक को समस्या मत समझो! वह समाधान हैं। तकनीक ने ही हमें, आपको दुनिया से जोड़ा है। नयी-नयी सुविधाएँ पैदा की हैं। इसी मोबाइल के बूते मैं दूर बैठी अपनी माँ से बात कर सकता हूँ। अमेरिका में बैठे किसी दोस्त से बात कर सकता हूँ, न जाने कितने आयाम हैं। उन्होंने कहा- 'आप लगता है पब्जी गेम से परेशान हैं।' लेखक ने पब्जी शब्द के माध्यम से यह बताने की कोशिश की है कि जो प्रधानमंत्री देश की इतनी समस्याओं से घिरा रहता है, इतने विविध कामों में लगा होता है वह पब्जी और युवाओं पर उसके असर से पूरी तरह वाकिफ है। लेखक का इशारा इस ओर है कि मोदी इसीलिए लगातार सफल होते गये हैं। तकनीकी नब्ज पर उंगली रखे हुए हैं। याद होगा 2014 के चुनाव के वक्त उन्होंने

जगह-जगह सेल्फी के साथ फोटो दिये थे। उनके प्रधानमंत्री बनने में नयी तकनीक फेसबुक, व्हाट्सएप उतनी ही मददगार साबित हुई हैं और गहराई में जाते हुए लेखक ने आजादी के बाद तकनीक कैसे राजनीति को बदलती रही है, या राजनीति तकनीक और विज्ञान को कैसे प्रभावित करती रही इसका बहुत तर्क के साथ उत्तर दिया है।

निस्संदेह नेहरू जी वैज्ञानिक दृष्टिकोण के थे और इसी का परिणाम था आईआईटी, सीएसआईआर, इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस से लेकर बड़े-बड़े उद्योगों की स्थापना हुई। लेकिन कहीं न कहीं संविधान में निहित समाजवाद जैसे शब्दों से भी बंधे हुए थे। गांधी जी के साथ रहते हुए उनके ऊपर भी कुछ-कुछ यह प्रभाव था कि मशीन और तकनीक समाज में गैर बराबरी पैदा करती हैं। इसलिए उस पर अंकुश रहना चाहिए। किसी अंकुश रहने का परिणाम था कि हम दुनिया की तकनीकों को पूरे मन से स्वीकार नहीं कर पाये। लाइसेंस इंस्पेक्टर राज धीरे-धीरे हावी होता गया और इसी वजह से दुनिया भर में उपलब्ध ज्ञान और तकनीक से हमारी शिक्षा उद्योग और समाज बहुत हद तक वंचित बना रहा। राजनीतिक परिस्थितियाँ भी ऐसी रहीं कि हम खुद भी हिचकिचाते रहे। पश्चिम के देश भी बहुत फूँक-फूँक कर कदम बढ़ाते रहें। इंदिरा गांधी के दौर में भी यह सब चलता रहा। लेखक यहाँ तक कहता है कि आईआईटी तो खुल गये लेकिन वहाँ से पढ़ने के बाद देश में उनके रोजगार, उनकी मेधा के उपयोग के दरवाजे नहीं खुले थे क्योंकि हमारे अपने संसाधनों में विज्ञान उस स्तर तक नहीं पहुँचा था और न उद्योगों ने उनका स्वागत किया। नतीजा हमारी सर्वश्रेष्ठ मेधा 50 के दशक से ही इंग्लैंड अमेरिका की तरफ देखने लगी। हरगोविंद खुराना हो या चंद्रशेखर 70, 80 के दशक में मेधावी वैज्ञानिक अर्थशास्त्री समाजशास्त्री इतिहासकार सभी अमेरिका इंग्लैंड जाने की तैयारी करने लगा था। 80 के दशक में कुछ-कुछ दरवाजे खुलने लगे और इसका श्रेय पूरी तरह से राजीव गांधी को जाता है जिन्होंने कंप्यूटर आदि की बड़ी शुरुआत करायी लेकिन भारत के समाजवादी चिंतक बौद्धों ने उनका मजाक उड़ाया और उन्हें आत्मा रहित टेक्नोलॉजिस्ट आदि कहा। इसलिए उन दबावों की वजह से तकनीक को खुले मन से स्वीकार नहीं कर पाये जैसा 1991 के बाद हुआ। लेखक ने बहुत बारीकी के साथ पूरे देश की राजनीति और विकास को इस पुस्तक में सामने रखा है। आगे चलकर आंध्र प्रदेश के मुख्यमंत्री चंद्रबाबू नायडू के साथ भी यही हुआ। आप सब जानते हैं चंद्रबाबू नायडू ई-गवर्नेंस शुरू करने वाले पहले राजनेता थे और दक्षिण भारत में उनको देखा-देखी सभी राज्यों ने यह मॉडल अपनाया लेकिन चंद्रबाबू नायडू का भी मखोल 'लैपटॉप मुख्यमंत्री' के नाम से उड़ाया गया। यहाँ तक कि 2004 में चुनाव हारने पर तरह तरह के कार्टून भी बने। कहने का तात्पर्य समाज के अंदर अंतर्विरोध और राजनीति की धारा ने तकनीक को लगातार प्रभावित किया।

नेहरू जी की वैज्ञानिक दृष्टि, वैज्ञानिक सोच थी लेकिन देश की आजादी और संवैधानिक उपबंध के चलते हुए रूप में दुनिया के विज्ञान को भारत के समाज के लिए उस ढंग से उपयोग नहीं कर पाये। मोदी इसे जानते हैं और इसीलिए नया नारा बनाया 'सबका साथ सबका विकास' इसी तकनीक से पारंपरिक जाति, धर्म, मंदिर, मंडल, कमंडल की राजनीति को बदला जा सकता है और पिछले 2 लोकसभा के चुनाव और दर्जनों राज्यों के चुनावों ने इसे साबित किया है। यहाँ तक कि दिल्ली में उभरी आम आदमी पाटी की सफलता भी इसी तकनीक और डिजिटल माध्यमों की उपयोगिता से संभव हुई है। मोदी इसे कैसे संभाल पाते हैं इसका बहुत विस्तार से वर्णन पृष्ठ 185 से 200 तक इस पुस्तक में मौजूद है।

बीसवीं सदी के बंद होते-होते पोखरण के बावजूद अमेरिका और यूरोप के साथ भारत के संबंधों में तकनीकी लेनदेन की शुरुआत हुई। प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी और मनमोहन सिंह की राजनीतिक कुशलता की भी तारीफ कर सकते हैं। भारत में इन सब तकनीकों की आने से देश डिजिटल दुनिया प्रवेश करते हैं। 2008 की विश्वव्यापी मंदी के बाद इसके आयाम और तेजी से बदले। यहाँ यह कहना भी जरूरी होगा कि अमेरिका के साथ न्यूक्लियर डील होने के बाद भारत की कम्युनिस्ट पाटी यूपीए-2 से अलग हो गयी। इससे भारत में तकनीकी विकास और समाजवाद के बीच में जो खींच-तान थी, वह और दूर हुई। यहाँ वे एक उदाहरण आंकड़ों के साथ देते हैं। 2007 में अमेरिका और चीन के साथ लगभग बराबर का आयात था। अमेरिका का कुछ ज्यादा ही था। लेकिन 10 वर्ष बाद जहाँ अमेरिका से आयात 2 गुना हुआ, चीन से 10 गुना हो गया है। चीन ने शताब्दी के शुरू में एक

लंबी छलांग लगायी और यह विज्ञान और तकनीक से पैदा हुई। उसी के बूते भारत की कुल आयात का लगभग एक तिहाई इलेक्ट्रॉनिक सामान मोबाइल चीन से पूरा होता है। हाल के दो-तीन वर्षों के आंकड़े देखें तो चीन के तथाकथित बायकाट के बावजूद और चीन से तनातनी के बीच में भी चीन से हमारा आयात कई गुना बड़ा है। चीन के आयात पर हमारी कई उद्योग आश्रित हैं। हमारा निर्यात भी चीन को बढ़ा है लेकिन ताजा आंकड़े कहते हैं कि 150 बिलियन डॉलर के कुल एक्सचेंज में चीन से आयात 100 करोड़ बिलियन का हुआ और हमारा जो कुछ हुआ है वह कोयला आयरन और कच्चे माल को चीन के जाने से यानी कि हमारा दो तरफा नुकसान।

लेकिन 2014 के बाद आर एस एस के स्वदेशी जागरण मंच द्वारा पैदा किये अवरोधों के बावजूद भी मोदी विज्ञान और तकनीक के महत्व को बेहतर समझते हैं। लेखक यहाँ फिर मदन मोहन मालवीय जी को याद करते हैं जिनका कहना था कि भारत जैसे देश में अभी वैज्ञानिक तकनीक उसे स्तर की नहीं है इसलिए उसका आयात करने में कोई बुराई नहीं और उसके बाद हमें स्वाबलंबी होना है। प्रधानमंत्री मोदी भी इसी रास्ते पर हैं कि यदि देश के संसाधनों को बढ़ाने के लिए विदेशी पूंजी की जरूरत है, फॉरेन इंवेस्टमेंट की जरूरत है तो वह आनी चाहिए लेकिन धीरे-धीरे हम आत्मनिर्भर भारत की तरफ बढ़ेंगे। यहाँ स्वदेशी मंच का फॉरेन इंवेस्टमेंट के बारे में जो विरोध है उसे उन्होंने दरकिनार कर दिया है।

नेहरू जी की वैज्ञानिक दृष्टि, वैज्ञानिक सोच थी लेकिन देश की आजादी और संवैधानिक उपबंध के चलते हुए रूप में दुनिया के विज्ञान को भारत के समाज के लिए उस ढंग से उपयोग नहीं कर पाये। मोदी इसे जानते हैं और इसीलिए नया नारा बनाया 'सबका साथ, सबका विकास' इसी तकनीक से पारंपरिक जाति, धर्म, मंदिर, मंडल, कमंडल की राजनीति को बदला जा सकता है और पिछले 2 लोकसभा के चुनाव और दर्जनों राज्यों के चुनावों ने इसे साबित किया है। यहाँ तक कि दिल्ली में उभरी आम आदमी पार्टी की सफलता भी इसी तकनीक और डिजिटल माध्यमों की उपयोगिता से संभव हुई है। मोदी इसे कैसे संभाल पाते हैं, इसका बहुत विस्तार से वर्णन पृष्ठ 185 से 200 तक इस पुस्तक में मौजूद है। यह आसान काम नहीं है क्योंकि कम्युनिस्टों के विरोध से मनमोहन सिंह के पैर लड़खड़ाते रहते थे। राजीव गांधी के कंप्यूटरीकरण के खिलाफ जो आवाजें उठीं उन्होंने उनके भी हाथ रोक दिये। लेकिन गैर बराबरी अमीरों का बढ़ना, बेरोजगारी... न जाने कितने आरोपों के बावजूद मोदी का रथ आगे बढ़ रहा है। उदाहरण के लिए, आधार कार्ड और कुछ दूसरी योजनाएँ कांग्रेस ने शुरू की तो मोदी ने इनको तुरंत लपक लिया। जन-धन खाते खुलवा कर किसानों के खाते में सीधा पैसा डलवाकर, लॉकडाउन के दिनों में उनकी मदद करके, दाखिले में और दूसरी जगहों पर आधार कार्ड की जरूरत की महत्ता को समझ भ्रष्टाचार के उन रास्तों को भी बंद करने की कोशिश की है।

इस अध्याय के अंत की तरफ लेखक उस खतरे की तरफ भी इशारा करते हैं जो समाज के पूरी तरह से तकनीक और डिजिटाइजेशन से पैदा होता है। अमेरिकी समाजशास्त्री रॉबर्ट पुट नाम के अध्ययन का हवाला देते हुए कहते हैं कि इस तकनीकी प्रयोग के बढ़ने से युवा पीढ़ी में सामाजिक सुरक्षा कार्य करने की प्रवृत्ति लगातार कम होती जा रही है। स्वयंसेवी युवा हफ्ते में मुश्किल से 6 घंटे ऐसे कामों के लिए निकालते हैं जबकि वे प्रतिदिन 6 घंटे उनके मोबाइल या ऐसी चीजों में खर्च होते हैं। इसी का परिणाम है कि अमेरिका के चुनावों में वोट डालने की प्रवृत्ति में लगातार गिरावट। लेखक पता नहीं कैसे यह कहते हैं कि मोदी इस बात से वाकिफ है कि तकनीक और डिजिटल दुनिया के जिस रथ पर चढ़कर उन्हें सत्ता मिली है कहीं उसी की पराकाष्ठा उनकी पार्टी को नीचे न कर दे। नौजवान परस्पर सामाजिक मेल मिलाप और संवाद से दूर होता जा रहा है। रात-दिन डिजिटल दुनिया के एकांत में बना रहता है। पहली बार बहुत बारीकी से बहुत गहन अध्ययन तकनीक और उसके सामाजिक-राजनीतिक प्रभावों को लेकर सामने आया है।

ऐसी पुस्तक देश के हर नागरिक को पढ़ना चाहिए, केवल तभी वे इस विकास यात्रा को समझ सकते हैं कि तकनीक के बूते ही चीन जापान या यूरोपीय देश यहाँ तक पहुँचे हैं। भारत में शुरुआत तो हुई लेकिन आधे-अधूरे मन से और इसीलिए एशिया के देशों की प्रगति की दौड़ में हम पिछड़ गये हैं। ऐसी पुस्तकों का भारतीय भाषाओं में भी आना जरूरी है क्योंकि हमारे राजनीतिक लोग अभी भी भारतीय भाषाओं के प्रबल पक्षधर हैं।

❖❖❖

एक अदृश्य यथार्थ के केंद्र की तलाश में

अभिषेक श्रीवास्तव

संपर्क :
डी19, डिवाइन पार्क, अभय खंड-3,
इंदिरापुरम,
गाजियाबाद 201010 (उ.प्र.)

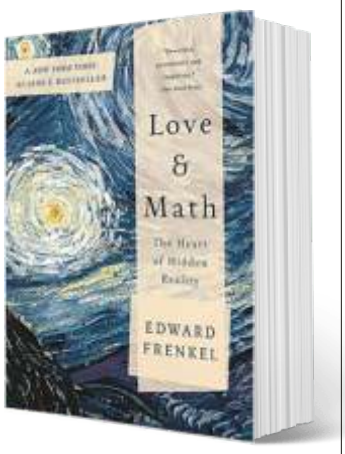

पुस्तक : लव एंड मैथः दि हार्ट ऑफ हिडेन रियलिटी
लेखक : एडवर्ड फ्रेंकेल
प्रकाशक : बेसिक बुक्स, अमेरिका
वर्ष : 2013
मूल्य : 850 रु.

बीता वर्ष भारत में गणित और गणितज्ञों के लिहाज से बहुत महत्त्वपूर्ण रहा है। गणितज्ञ वशिष्ठ नारायण सिंह की जिस समाज और सरकारों ने उनके जीते जी सुध नहीं ली, 2019 में उनके निधन के बाद 2020 का पद्मश्री उन्हें मरणोपरांत 2021 में दिया गया। युनिवर्सिटी ऑफ कैलिफोर्निया में पढ़ाने वाले गणितज्ञ प्रोफेसर निखिल श्रीवास्तव को 2021 में सिप्रियन फोयास सम्मान के लिए चुना गया, जो 2022 में दिया जाएगा। महानतम गणितज्ञों में एक श्रीनिवासन रामानुजन के निधन का सौवाँ वर्ष 2020 में था। कई मंचों पर साल भर उन्हें याद किया गया और उनके नाम पर कुछ साल पहले शुरू किया गया एक पुरस्कार बीते वर्ष प्रोफेसर नीना गुप्ता को दिया गया। इस पुरस्कार के बाद एक खास हलके में गणित के लैंगिक आयाम को लेकर बहस छिड़ गयी। खुद प्रो. गुप्ता को एक साक्षात्कार में कहना पड़ा कि गणित के प्रति लगाव लिंग-निरपेक्ष होता है।

इन सभी घटनाओं में एक बात समान रूप से देखी गयी- हिंदी के समाचार प्रतिष्ठानों, पत्रिकाओं, अकादमिक जर्नलों, समाजशास्त्रीय प्रकाशनों सहित अन्य लोकप्रिय मंचों पर व्यक्ति, पुरस्कार और आयोजन तो केंद्र में रहे लेकिन विधा सिरे से गायब रही। सामान्यतः विज्ञान या ज्ञान के दूसरे क्षेत्रों में पुरस्कार आदि के संदर्भ में पुरस्कृत द्वारा की गयी खोज या शोध अध्ययन को समझाने का चलन है। हर साल नोबेल पुरस्कारों की घोषणा पर हम देखते हैं कि विज्ञान के क्षेत्र में मिलने वाले पुरस्कारों के विषय पर अलग-अलग दृष्टिकोणों से दर्जनों सामग्री प्रकाशित होती है जिससे पाठक को प्रायः अंदाजा लग जाता है कि बात किस बारे में की जा रही है। गणित के मामले में ऐसा देखने को नहीं मिलता। भारत का एक सामान्य हिंदी पाठक नहीं जानता कि रामानुजन से लेकर नीना गुप्ता तक दरअसल गणित की उपलब्धियाँ क्या रही हैं। उसे बस इतना पता है कि इन विभूतियों और इन्हें मिलने वाले पुरस्कारों पर गर्व करना उसका राष्ट्रीय धर्म है।

गणित-भीरु भारतीय समाज

एक कवि अपनी कविता के बगैर क्या है? रचनाकार अपनी रचना के बगैर क्या है? वैज्ञानिक अपनी खोज के बगैर क्या है? इतिहासकार, इतिहास के बगैर क्या है? मनुष्य अपने काम से महान बनता है। अगर समाज को उसका काम ही समझ में न आवे, समाज में एक भी शख्स उसके काम को जानने-समझने की असफल कोशिश तक न करे और उसके मरने या पुरस्कृत होने पर एक स्वर में महान-महान चिल्लाने लगे, तो यह सम्मान नहीं बेइज्जती कही जानी चाहिए। कर्म मूल है, फल द्वितीयक। औपनिषदिक वाङ्मय से लेकर भगवद्गीता तक और बौद्ध, जैन आदि कर्मयोग की तमाम धाराओं में कर्म केंद्र में है, कर्ता नहीं। क्या गणितज्ञों का कर्म इतना अबूझ या फिर तुच्छ है कि इतना विशाल समाज उस पर बात ही न करे?

गणितज्ञों को एक बार किनारे रख कर समाज में गणित के प्रति आम तौर से फैली धारणाओं को जाँचें, तो इसके कारण आसानी से समझ आ जाएँगे। केवल खबरों के आधार पर ही अंदाजा लगाना चाहें तो हम पाते हैं कि किसी एक विषय के चलते छात्र इस देश में सबसे ज्यादा आत्महत्या करते हैं तो वह गणित है। किसी विषय के अध्यापन से लेकर पाठ्यक्रम संरचना और समाज में व्याप्त सामान्य अभिरुचियों से लेकर रोजगारपरकता आदि बहुत से ऐसे कारक हैं जो किसी विषय विशेष के प्रति रूझानों को तय करते हैं। नेशन अचीवमेंट सर्वे 2017 की मानें तो देश में प्राथमिक कक्षाओं के आधे से ज्यादा छात्र औसतन गणित में कमजोर हैं। यह सर्वे हर साल होता है और सरकारी स्कूलों में बुनियादी विषयों के प्रति अभिरुचियों को दर्शाता है। एक समस्या की ओर भारत के प्रवासी गणितज्ञ और प्रतिष्ठित

फील्ड्स मेडल से सम्मानित प्रो. मंजुल भार्गव ध्यान दिलाते हैं- वह है बीते दो दशकों में इंजीनियरिंग की विधा पर ज्यादा ज़ोर और मूल गणित से विचलन, जबकि गणित के अनुप्रयोग के बगैर इंजीनियरिंग की कल्पना ही नहीं की जा सकती। यह नकली द्विभाजन सेकंडरी स्तर और आगे के गणित शिक्षण को हमारे यहाँ भयावह स्तर पर दूषित किये हुए है। इस दूषण को कम करने के प्रयास भी हमारे समाज में नहीं दिखते। उलटे प्रौद्योगिकी के विस्फोट के कारण गणित पढ़ाने वाले जो नये-नये एप्लिकेशन और ऑनलाइन उपकरण आये हैं, उन्होंने बुनियादी ज्ञान को और उलझा दिया है।

भारत के बाहर, खासकर योरप और अमेरिका में गणित शिक्षण को सहज और सरल बनाने पर लगातार काम होते रहे हैं। इस मामले में एमआइटी लैब और एडएक्स का काम सराहनीय रहा है जिन्होंने पाठ्यक्रम में बहुत बुनियादी रूप से बदलाव किया है और प्रमेयों को समझाने की सरलतम विधियाँ विकसित की हैं। वास्तव में, गणित शिक्षण को जिस एक शोध ने बीते पाँचेक दशकों में सबसे आसान, संवादात्मक और नवाचारी बनाने का काम किया है उसका तो जिक्र तक भारत में नहीं होता। इसे लैगलैंड्स प्रोग्राम कहते हैं। मोटे तौर पर समझें तो यह शोध की एक ऐसी धारा है जहाँ गणित के तीनों आयामों- अंकगणित, बीजगणित और ज्यामिति- के बीच के संवादात्मक और व्यावहारिक रिश्ते खंगालने की कोशिश जारी है। यह ऐसे ही हैं जैसे कि तीन जलधाराओं को हम अलग-अलग और विशिष्ट समझ रहे हैं लेकिन उनमें पानी एक ही स्रोत से आ रहा है। यह अलहदा दिख रही शाखाओं का एक सोर्स कोड ढूंढने जैसा काम है। जैसे तीन शरीरों में बह रही एक प्राणवायु।

इस प्राणवायु को पकड़ना बुनियादी रूप से तो इसलिए अहम है क्योंकि एक शिक्षक जब प्राथमिक स्तर पर गणित अध्यापन की शुरुआत करता है तो तय मानक के हिसाब से सबक संख्याओं से शुरू होता है और ज्यामिति तक जाता है। सीबीएसई और अन्य भारतीय शिक्षण बोर्ड के पाठ्यक्रमों का ढर्रा यही है। बीती सात पीढ़ियाँ ऐसे ही शिक्षित होती रही हैं। यह गणित को न केवल सिर के बल खड़ा करके देखने, समझने और समझाने की रवायत है बल्कि पंचतंत्र के पाँच अंधों की कहानी जैसा पाठ है जिसमें एक हाथी किसी को रस्सी लगता है, किसी को पंखा तो किसी को खंभा। इस खंडित पद्धति के चलते सारा ज्ञान मस्तिष्क के बजाय घुटनों में चला जाता है क्योंकि विधा को उलटा खड़ा करने से गुरुत्वाकर्षण की दिशा नहीं बदल जाती! छात्र विश्वविद्यालय तक पहुँचते हैं तब जाकर उन्हें समझ आता है कि गणित सवालों को हल करने से कहीं ज्यादा देखने और पहचानने की चीज़ है- स्पेस को देखने और उसमें बने पैटर्न और उनके अवयव संयोगों को पहचानने की सलाहियत। यह संयोग नहीं है कि स्नातक या स्नातोत्तर स्तर तक पहुँचने वाले गणित के छात्रों को सबसे ज्यादा दिक्कत टोपोलॉजी और लीनियर अलजेब्रा समझने में आती है। तब तक हालाँकि बहुत देर हो चुकी होती है क्योंकि उनके गणित प्रशिक्षण में दृष्टि सर्वथा गायब होती है जबकि गणित ही सारे दर्शन का मूल है।

इस संदर्भ में एडवर्ड फ्रेंकेल की लिखी शानदार पुस्तक 'लव एंड मैथः दि हार्ट ऑफ हिडेन रियलिटीज़' समकालीन शिक्षकों और छात्रों के लिए दृष्टि और अंतर्दृष्टि देने वाली साबित हो सकती है। यह पुस्तक 2013 में प्रकाशित हुई थी और बीते कुछेक वर्षों में गणित को समझने-समझाने के लिहाज से सबसे लोकप्रिय पुस्तक मानी जाती है। इस पुस्तक की विषयवस्तु पर सीधे आने से पहले लैगलैंड्स प्रोग्राम के बारे में थोड़ा जान लेना जरूरी है। चूँकि लेखक ने जाने किस कारण से पुस्तक के मूल विषय का जिक्र सोलहवें अध्याय में किया है जबकि मेरा मानना है कि बात को यहीं से शुरू किया जाना चाहिए था।

हमारी विरासत, पश्चिम की कसरत

बौद्ध दर्शन में प्रतीत्यसमुत्पाद का सिद्धांत बौद्ध धर्म की सभी धाराओं में समान रूप से मान्य है और दर्शन को खोलने की चाबी है। इसका मोटा अर्थ है स्रोतों की परस्पर निर्भरता अथवा परस्पर निर्भर अस्तित्व। इसे सूत्र वाक्य में ऐसे कहते हैं कि 'यदि ये है तो वो है और यदि ये नहीं है तो वो भी नहीं है'। बौद्ध दर्शन के विद्वान पीटर हार्वे इसे थोड़ा और अमूर्त तरीके से समझाते हैं कि कुल मिलाकर एक मूलभूत पैटर्न है जिसे हम धम्म कहते हैं और जिसके भीतर अनेकानेक विशिष्ट पैटर्न यानी धम्म प्रवाहित होते हैं और एक-दूसरे को एक विशाल जटिल पैटर्न के भीतर सुपोषित करते हैं। बौद्ध दर्शन के अतिरिक्त औपनिषदिक साहित्य और वैदिक साहित्य में भी नामरूप के संदर्भ में प्रतीत्यसमुत्पाद का जिक्र आता है, जिसे आधुनिक भाषा विज्ञान सिग्निफायर और सिग्निफाइड की कोटियों के सदृश बरतता है। इस क्षेत्र में शुरुआती कार्य फर्दिनोंद सस्यूर और पीयर्स ने किया था जिसे बाद में अलग-अलग धाराओं में आगे बढ़ाया गया और संकेत विज्ञान के नाम से यह लोकप्रिय हुआ। सस्यूर ने सामान्य भाषाविज्ञान में संरचनाओं को समझने के लिए संकेत विज्ञान को विकसित किया था, लेकिन कालांतर में गणित शिक्षण में इसका जबरदस्त अनुप्रयोग पश्चिमी जगत में हुआ। विडंबना ही कहेंगे कि जो दर्शन मूल में हमारे यहाँ जन्मा था, उसका शिक्षाशास्त्रीय महत्व बाहर के विद्वानों ने समझा।

नब्बे के दशक में पहली बार सस्यूर के संकेत वैज्ञानिक सिद्धांतों की ओर पश्चिम में गणित के शिक्षक समुदाय का ध्यान गया, जब 1994 में कर्शनर और विटसन ने कॉग्नीशन अथवा ज्ञान-बोधात्मक प्रक्रिया पर एक परचा पढ़ा। वास्तव में सस्यूर की प्रस्थापनाओं को मनोविश्लेषणवादी लॉक ने उलट कर रख दिया था लेकिन पश्चिमी विद्वानों ने गणित शिक्षण में उसका अनुप्रयोग भी खोज निकाला। गणित शिक्षण में आत्मपरकता (सब्जेक्टिविटी) की हालिया अवधारणा लॉक की प्रस्थापनाओं पर ही केंद्रित है। इसके विस्तृत विवरण में गये बगैर केवल इतना समझना आवश्यक है कि गणित शिक्षण में हमारा काम केवल यह समझना नहीं है कि परिस्थिति विशेष में क्या सिखाया और सीखा जा रहा है (सिंक्रॉनी) बल्कि यह समझना भी है कि सीखने की प्रक्रिया में अवधारणाएँ कैसे बदलती हैं जब एक छात्र समय के साथ गणितीय अवधारणाओं के संपर्क में आता है (डायाक्रॉनी)। जाहिर है, एक कालखंड में गणित शिक्षण की प्रक्रिया से गुजरते हुए न एक छात्र वैसा रह जाता है जैसा आरंभिक बिंदु पर था और न ही शिक्षक। उसके भीतर गुणात्मक परिवर्तन होता है।

इसे समझने के लिए अध्यात्म से एक और उदाहरण ले सकते हैं। सूफी नृत्य एक ऐसी शैली है जिसमें एक जगह पर खड़े होकर गोल-गोल घूमा जाता है। एक नात से शुरू करके वाद्ययंत्रों से दैविक संगीत उत्पन्न किया जाता है जिससे साधक एकाग्र हो सके। इस प्रक्रिया में नृत्य की गति, तल्लीनता और तन्मयता बढ़ती जाती है। पहले साधक के दोनों हाथ आलिंगनबद्ध होते हैं, फिर वह धीरे-धीरे अपने हाथ खोलता है। फिर वह खुद को मुक्त छोड़ देता है, गोया असीम निराकार के साथ तादात्म्य स्थापित कर सके। यह कुम्हार के चाक जैसा है जो घूमे जा रहा है लेकिन इस प्रक्रिया में कुछ निर्मित भी करते जा रहा है। फिर निर्मित वस्तु चाक से स्वतंत्र हो रही है और दूसरी वस्तु निर्मित हो रही है। एक स्थिति ऐसी आती है जब साधक अपने सब्जेक्टिव तत्त्व से मुक्त हो जाता है और डायाक्रॉनी की अवस्था में पहुँचकर अवधारणात्मक स्तर पर रहस्यों को समझने लगता है। फिर साधक वही नहीं रह जाता जो नृत्य के आरंभ में था, न ही नृत्य वैसा रह जाता है जो आरंभ में था।

ध्यान लगाना, नृत्य करना और गणित करना एक जैसी क्रियाएँ हैं। इन सभी क्रियाओं की परिणति अदृश्य के साथ एक ऐसे तादात्म्य में होती है जहाँ बस प्रेम बचता है। यह प्रेम भीतर और बाहर दोनों ओर रूपांतरकारी है। इसे एडवर्ड फ्रेंकेल ने 'लव एंड मैथ' में एक जगह मोनोड्रोमी ऑफ लव कहा है। क्या ही सुंदर बात है कि मोनोड्रोमी गणित की एक ऐसी शाखा है जिसमें एक ही धुरी पर घूमती हुई किसी गणितीय आकृति या वस्तु के व्यवहार का अध्ययन किया जाता है। ध्यान, सूफी नृत्य या प्रेम भी तो ऐसा ही है जहाँ आप एक धुरी पर घूमते रहते हैं गोया अपनी पूँछ का पीछा कर रहे हों। किसी साधक, प्रेमी या नर्तक की मोनोटोनस यानी एकरस सी दिखने वाली ऐसी क्रिया के भीतर बुनियादी रूप से हो रहे बदलाव को पकड़ पाना ही तो उक्त कृत्य का साध्य है।

इसलिए यह संयोग नहीं है कि एडवर्ड फ्रेंकेल ने अपनी पुस्तक का नाम 'लव एंड मैथ' क्यों रखा और उसका उपनाम 'दि हार्ट ऑफ हिडेन रियलिटी' क्यों चुना। अदृश्य-अजाने यथार्थ के केंद्र तक पहुँचना, भौतिक प्रक्रियाओं के स्रोत तक पहुँचना ही मनुष्यता का आदिम साध्य रहा है। इस साध्य को पाने के, साधन के रूप में धर्म, अध्यात्म, दर्शन, भाषा और गणित की उत्पत्ति हुई। एक बार साध्य प्राप्त हो जाए, फिर शुद्ध प्रेम के सिवा कुछ नहीं बचता।

गणित का विराट एकीकृत सिद्धांत-लैगलैंड्स प्रोग्राम

जिस अदृश्य-अजाने की बात ऊपर की गयी है, लैगलैंड्स प्रोग्राम का वही साध्य है। इसीलिए लोकप्रिय भाषा में लैगलैंड्स प्रोग्राम को गणित की ग्रैंड यूनिफाइड थियरी अथवा विराट एकीकृत सिद्धांत भी कहते हैं। पुस्तक के लेखक एडवर्ड फ्रेंकेल इसी परियोजना के साथ जुड़े हुए हैं। चूँकि गणित की सभी धाराओं के बीच परस्पर निर्भरता या संबंध तलाशने का काम लैगलैंड्स प्रोग्राम करता है, तो बौद्ध दर्शन से उधार लेकर हम इस परियोजना को गणित का अपना प्रतीत्यसमुत्पाद कह सकते हैं। फ्रेंकेल बताते हैं कि कैसे इस परियोजना पर काम करते हुए उन्हें गणित और क्वांटम भौतिकी के बीच डुअलिटी (द्वैत) की समरूपता का रिश्ता पकड़ में आया। लिहाजा एक नयी दुनिया की ओर खिड़की खुली कि न केवल गणित की विभिन्न धाराओं बल्कि क्वांटम भौतिकी की आत्मा भी एक ही है। आम तौर से इंजीनियरिंग और अनुप्रयुक्त विषयों पर फंड देने वाले अमेरिका के रक्षा अनुसंधान संस्थान डीएआरपीए (दारपा) ने पहली बार शुद्ध गणित में जिस विषय पर अनुदान दिया, वह गणित और क्वांटम के बीच डुअलिटी की समरूपता ही है।

फ्रेंकेल पुस्तक की भूमिका में ही समझाते हैं कि लैगलैंड्स प्रोग्राम की भूमिका क्या है। वे लिखते हैं कि यदि अलजेब्रा, ज्यामिति, नंबर थियरी, अनालिसिस और क्वांटम फिजिक्स गणित के अदृश्य ब्रह्मांण में कई प्रकाश वर्ष दूर स्थिति अलग-अलग ग्रह हैं, तो लैंगलैंड्स प्रोग्राम एक से दूसरे ग्रह पर तत्काल पहुँचने का एक परिवहन है। ये ऐसे हैं, गोया एक की छाया दूसरे पर पड़ रही है और अपने ग्रह पर परछाईं को देखकर आप दूसरे वाले ग्रह पर मौजूद वस्तु के बारे में बता सकते हैं। जैसे हम भाषा में एक संस्कृति से दूसरी संस्कृति का अनुवाद करते हैं, उसी तरह यह गणित की एक वस्तु का दूसरे में और

तीसरे में अनुवाद है। एक संख्या कब रेखा बन जाती है और रेखा कब सतह में तब्दील हो जाती है; सतह वक्र हो तो कैसे वह क्वांटम की दुनिया में हमें ले जा सकता है और वहाँ से वापस हम कैसे संख्याओं में अनुवाद करके एक अमूर्त आकृति को समझ सकते हैं- लैगलैंड्स प्रोग्राम की यही खूबी है।

मसला केवल इतना है कि सामने वाले को कौन-सी भाषा आसानी से समझ में आ रही है। आप उस भाषा में अनुवाद कर के विषय को समझा दीजिए। जैसा कि इज़रायल गेलफांद ने कहा था, 'लोग सोचते हैं कि उन्हें मैथ समझ में नहीं आती, लेकिन सारा मामला यह है कि आप उन्हें कैसे इसे समझाते हैं। किसी शराबी से अगर आप पूछें कि कौन-सी राशि बड़ी है 2/3 या 3/5 तो वह जवाब नहीं दे पाएगा लेकिन इसी सवाल को ऐसे पूछें कि क्या बेहतर है- तीन लोगों में दो बोतल वोदका या पाँच लोगों में तीन बोतल वोदका, तो वह तुरंत जवाब देगा- तीन लोगों में दो बोतल।'

'लव एंड मैथ' मूलतः लैगलैंड्स के एक अध्येता की लिखी पुस्तक है तो इसमें ज्यादातर विषय इसी के इर्द-गिर्द चुने गये हैं लेकिन यह कोई अकादमिक पुस्तक नहीं है। यह गणित में बिना कोई औपचारिक प्रशिक्षण लिए एक व्यक्ति का गणितज्ञ बनने का सफ़रनामा है जिसमें दीन-दुनिया और राजनीतिक परिस्थितियों का भी जिक्र है।

गणित की राजनीति या राजनीति का गणित?

यह पुस्तक तीन स्तरों पर समानांतर आगे बढ़ती है- गणित के क्षेत्र में लेखक की निजी यात्रा, इस यात्रा में गणित के लगातार खुलते नये-नये दरवाजे और बदलती हुई वैश्विक राजनीतिक परिस्थितियों के बीच गणित की अवधारणाओं और गणितज्ञ बिरादरी में होने वाले बदलाव। पुस्तक में कुल 18 अध्याय हैं। सभी अध्यायों का नामकरण लेखक की अपनी जीवन-यात्रा और अनुभवों के हिसाब से किया गया है इसलिए दुनिया भर में किसी एक काल या वर्ष के दौरान गणित की क्या स्थिति रही और गणितज्ञों के बीच कैसे संवाद और अकादमिक आदान-प्रदान हुए, पुस्तक में उनका प्रचुर मात्रा में जिक्र है। खासकर लेखक चूँकि यहूदी समुदाय से आते हैं तो अकादमिक हलके में यहूदी विरोध और नस्लवाद का शुरू से ही उन्हें सामना करना पड़ा था। इसके कारण गणित की उनकी अभिरुचि भी प्रभावित हुई थी क्योंकि उन्हें जबरन फेल कर दिया गया था। ऐसे संदर्भ अकादमिक जगत और संस्थानों के भीतर की राजनीति को भी सामने लाते हैं।

इस संदर्भ में सबसे दिलचस्प टिप्पणी की ओर ध्यान दिलाना बहुत आवश्यक है जो हमें गणित के समाजशास्त्र को समझने की ओर शायद ले जा सके। एडवर्ड तत्कालीन सोवियत रूस के बारे में लिखते हैं कि वहाँ कम्युनिस्ट शासन के दौरान गणित पढ़ने वालों और अकादमिक करियर के रूप में गणित को चुनने वालों की संख्या में भारी उछाल देखी गयी थी। बीती सदी में दुनिया के सबसे ज़हीन गणितज्ञ कम्युनिस्ट राज के रूस ने ही पैदा किये। एडवर्ड इसकी एक वजह गिनवाते हैं। अध्याय 12 में वे लिखते हैं :

सोवियत काल में जीवन इतना गतिरुद्ध था कि हुनरमंद नौजवान अपनी ऊर्जा कारोबार में नहीं लगा सकते थे क्योंकि अर्थव्यवस्था में निजी क्षेत्र ही नहीं था। इसके बजाय वह कठोर सरकारी नियंत्रण में थी। इसी तरह मानविकी, अर्थशास्त्र और सामाजिक विज्ञान के क्षेत्रों में भी कम्युनिस्ट विचारधारा बौद्धिकता को नियंत्रित करती थी। इन क्षेत्रों में हर पुस्तक या लेख को मार्क्स, एंगेल्स या लेनिन के उद्धरण से शुरू किया जाना होता था और निरपवाद रूप से विषय के मार्क्सवादी नजरिये का ही समर्थन किया जाना होता था। मसलन, किसी विदेशी दर्शन पर परचा लिखना हुआ तो इसका इकलौता तरीका यही हो सकता था कि उक्त दार्शनिक की विचारधारा को 'प्रतिक्रियावादी बुर्जुआ विचार' कह कर उसकी निंदा की जाए। जो लोग इन कठोर नियमों को नहीं मानते थे, उन्हें सजा और मृत्युदंड मिल सकता था। यही हाल कला, संगीत, साहित्य और सिनेमा में भी था। कोई भी ऐसी चीज जो दूर से भी सोवियत समाज, राजनीति या जीवनशैली की आलोचना करती मानी जाती हो या फिर वह समाजवादी यथार्थ के मानकों से महज थोड़ा-सा ही विचलित क्यों न हो, उसे आँख बंद कर के सेंसर कर दिया जाता था। अपनी कलात्मक और रचनात्मक दृष्टि का आग्रह रखने वाले लेखकों, संगीतकारों और निर्देशकों को प्रतिबंधित कर दिया जाता और उनका काम या तो नष्ट कर दिया जाता अथवा कहीं दबा दिया जाता था। विज्ञान के कई क्षेत्रों में भी पार्टी लाइन का कब्जा था...

ऐसी एक परिस्थिति में गणित और सैद्धांतिक भौतिकी रेगिस्तान के बीच आजादी के टापू सरीखे थे। सनकी कम्युनिस्ट वैसे तो जिंदगी के हर पहलू पर नियंत्रण कायम करना चाहते थे लेकिन ये क्षेत्र इतने अमूर्त और कठिन थे कि उन्हें समझ ही नहीं आते थे। गणित इकलौता ऐसा क्षेत्र है जिसके बारे में स्टालिन ने कभी एक शब्द कहने की जुर्रत नहीं की। सोवियत नेता नाभिकीय हथियारों के विकास में इन अमूर्त विषयों की भूमिका को भी समझते थे और इसीलिए वे इन क्षेत्रों से 'छेड़खानी' नहीं करना चाहते थे...

इसीलिए गणितज्ञों को मोटे तौर पर उनका शोध करते रहने दिया गया और उन पर वे बंदिशें नहीं लगायी गयीं जो दूसरे क्षेत्रों पर तारी थीं (जब तक कि उन्होंने राजनीति में घुसने की कोशिश नहीं की)। मेरा मानना है कि यह एक प्रमुख कारण था कि इतने सारे प्रतिभाशाली युवा छात्रों ने पेशे के रूप में गणित को क्यों चुना। यह इकलौता ऐसा क्षेत्र था जिसमें वे मुक्त होकर बौद्धिक कवायदें कर सकते थे।

फ्रेंकेल बताते हैं कि जब गोर्बाचोव राष्ट्रपति बनकर आये और रूस के बाहर व भीतर अकादमिकों की आवाजाही को पहली बार मंजूरी मिली, तब जाकर दुनिया ने जाना कि इस बीच रूस में कितने ढेर सारे गणितज्ञ पैदा हो चुके थे। यह एक अद्भुत अनुभव था। गोर्बाचोव का पेरेस्त्रोइका गणितज्ञों का मुक्तिपर्व था। इसीलिए एक बार फिर जब तख्तापलट हुआ तो फ्रेंकेल बताते हैं कि अकादमिक जगत में चिंता फैल गयी कि फिर कहीं तानाशाही सत्ता राज में न आ जाए और तमाम बौद्धिक कवायदों पर पानी न फिर जाए। वे लिखते हैं कि जैसे ही खबर मिली कि तख्तापलट की कोशिशें नाकाम हो गयी हैं, तब जाकर उन्होंने चैन की सांस ली।

इस वृत्तांत से गणित और सत्ता-समाज के बीच का एक महत्त्वपूर्ण रिश्ता समझ में आता है। चूँकि मनुष्य बौद्धिक अनुशीलन के क्षेत्रों में मूलभूत स्वतंत्रता का आकांक्षी है इसलिए निरंकुश सत्ता द्वारा तैयार की गयी बाहरी परिस्थितियों के हिसाब से ऐसे विषय को चुनेगा जिसमें सत्ता की दखल न्यूनतम हो। चूँकि ब्रह्मांड में कहीं भी दो और दो जमा चार ही होते हैं और इसे कोई भी राजनीतिक विचार बदल नहीं सकता, केवल और केवल इसलिए गणित के रूप में अंतिम सत्य का प्रतिपादन ही आजादी और बेशर्त मुक्ति का रास्ता खोलेगा। इस बात को हेनरी डेविड थोरो ने बहुत खूबसूरती से कहा है- ''सत्य के सर्वाधिक विशिष्ट व खूबसूरत वक्तव्य को अंत में गणितीय शक्ल ही लेनी होगी। हमें नैतिक दर्शन और अंकगणित के नियमों को इतना सरल बना देना है कि केवल एक फॉर्मूला दोनों को अभिव्यक्त कर सके।''

उपर्युक्त के संदर्भ में देखें तो यह कहना गलत नहीं होगा कि भारतीय समाज की बहुलतावादी बुनावट और इसके मूल में मौजूद लोकतांत्रिकता, स्वतंत्रता, सहकारिता और सहिष्णुता की भावनाओं ने हमें कलाओं की ओर ही ज्यादा प्रवृत्त किया है। यह समाज बुनियादी रूप से साहित्य, अध्यात्म, सिनेमा, संगीत के अनुकूल ही रहा है। इसी वजह से यहाँ शुद्ध गणित या सैद्धांतिक भौतिकी जैसे अमूर्त विषयों की ओर जाने का रुझान कम रहा और नवाचार भी इसी वजह से कम हुए। इस कारण से भारतीय समाज अपनी अंतर्निहित सामाजिक-सांस्कृतिक संरचना के चलते गणित के लिए ही एक चुनौती बनकर खड़ा हुआ है। ऐसा लगता है कि मूल सवाल यह नहीं है कि इस समाज को गणित कैसे सिखाया जाए। इसके उलट अब पूछा जाना होगा कि यह समाज, जो तमाम किस्म के विषयों में आवाजाही और शिक्षण के प्रति सहिष्णु रहा है, वह अपने भीतर गणित को बचा पाएगा क्या या बचने देगा क्या?

जाहिर है, उलट कर यह नुस्खा तो कोई नहीं देगा कि आइए, पहले अपने सत्ता-समाज को निरंकुश बनावें उसके बाद अपने आप इस समाज को गणित की सलाहियत आ जाएगी। यह अपने आप में एक विरोधाभासी नुस्खा होगा। यदि गणित की आखिरी मंजिल प्रेम है तो गणित एक प्रेमी समाज के खिलाफ कैसे जा सकता है?

एक अदद फॉर्मूले की खोज

पूरी सृष्टि के लिए एक अदद फॉर्मूला खोजने में आइंस्टीन ने अपना जीवन बिता दिया। सापेक्षिकता का सामान्य सिद्धांत जो उन्होंने खोजा वह आज तक की सबसे करीबी खोज है। भौतिकी की दो शाखाओं विद्युत और चुंबकत्व के लिए एक जैसे चार मूलभूत फॉर्मूले गढ़कर मैक्सवेल चले गये लेकिन भाषा और संकेत के स्तर पर केवल एक डुअलिटी को हल कर पाये। मोटे तौर पर नंबर थियरी, अलजेब्रा और ज्यामिति के बीच मौजूद एक अंतरात्मा को खोजने के काम में फिलहाल लैगलैंड्स प्रोग्राम लगा हुआ है, जिसकी जड़ें हमारे प्राचीन ज्ञान तक जाती हैं।

एडवर्ड फ्रेंकेल पुस्तक के अंत तक आते-आते प्रेम का गणितीय फॉर्मूला खोजने लग जाते हैं जबकि उन्होंने शुरुआत गणित के प्रति प्रेम से की थी। यही वह तकनीकी त्रुटि है जिसके चक्कर में पुस्तक अंत तक आते-आते रेटरिक लगने लग जाती है। मामला गणित में/से प्रेम का है। प्रेम में गणित का नहीं। प्रेम में गणित हुआ तो वह प्रेम कहाँ रह गया। फ्रेंकेल यहीं फिसल जाते हैं। पूरी पुस्तक में वे एकीकरण की बात करते चलते हैं लेकिन अंत में आकर गणित और प्रेम की बाइनरी को स्थापित कर देते हैं।

यह पुस्तक कहीं-कहीं गूढ़ हो जाती है, लेकिन गणित के शिक्षकों के लिए उपयोगी है। पढ़ाने के लिहाज से उतनी नहीं जितनी यह जानने के लिए कि गणित को कैसे बरता जाए। गणित के शिक्षक को एक बार उस अगम अगोचर का अहसास हो जाए जो विभिन्न धाराओं के केंद्र में है, तो वह अपने शिष्य को बेशक उसके दर्शन करवा सकता है। अफसोस के साथ कहना पड़ रहा है कि ऐसा नहीं हो रहा। गणित को लेकर भारत में कहीं कोई नवाचार जैसी स्थिति नहीं है। यह दुःखद है।

अगर परपीड़क नजरिये से देखें तो बेशक एडवर्ड फ्रेंकेल का निजी सबक हमें आश्वस्त करता है कि देश में गणित के अच्छे दिन आने वाले हैं। जिस तरीके से फिल्म, साहित्य, संगीत और अन्य कलाओं में राजनीति सत्ता का दखल अपने यहाँ बढ़ा है, आज नहीं तो कल यहाँ भी राजनीतिक दखलंदाजी से दूर एक अमूर्त्तन की तलाश में जाते हुए नन्हें पाँव दिखेंगे। एक सवाल फिर भी अनुत्तरित ही रह जाएगा- गणित समाज के लिए है या समाज गणित के लिए? ❖❖❖

संदर्भों का कुबेर कोश

मनोज कुमार राय

संपर्क :
गांधी एवं शांति अध्ययन विभाग
म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा

पुस्तक : भारतीय संविधान : अनकही कहानी
लेखक : रामबहादुर राय
प्रकाशक : प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली
वर्ष : 2022
मूल्य : 700 रु.

उपनिषद कहते हैं कि जब सूर्य अस्त हो जाए, चंद्र अस्त हो जाए, अग्नि शांत हो जाए तो उस तमसा में पुरुष वाणी का आश्रय लेकर, बोलकर, पुकारकर ढांढस पाता है और बच निकलता है। 28 वर्षीय नौजवान को 1974 में जब अकारण गिरफ्तार किया गया तो उसके मन में यही जातीय-स्मृति कुछ इस तरह से शब्द-रूप में उभर कर आती है- ''मीसा' में गिरफ्तारी ने मेरे मन में संविधान के प्रति उत्कंठा की तेज लौ जला दी।'' श्री रामबहादुर राय द्वारा लिखी गयी पुस्तक 'भारतीय संविधान : अनकही कहानी' पिछले 47 वर्षों से चल रही मानसिक-योग के फलदायी विषाद-योग का तथ्यपूर्ण दस्तावेज़ है जो पाठकों को संविधान बनने/बनाने की ऐतिहासिक यात्रा कराती है। इस यात्रा में लेखक अपने चिर-परिचित अंदाज में कहीं चौंकाता है तो कहीं कल्पना की उड़ान भरने के लिए छोड़ देता है। भूमिका में पुस्तक की तैयारी, आवश्यकता और सहयोगियों की सूची और लेखक पर लोगों का भरोसा यह संकेत देता है कि इसका गर्भकाल बहुत लंबा रहा है। पुस्तक बाजार में आने से पहले ही पर्याप्त ख्याति प्राप्त कर चुकी थी। लोगों ने कल्पना भी कर ली थी कि अपने स्वभावानुकूल श्री राय संविधान से जुड़े कुछ रहस्यों से पर्दा उठाएँगे जिससे देश की जनता पहली बार परिचित होगी। खासतौर से उन तथ्यों के बारे में जिनके बारे में यह अनुमान लगाया जाता है कि आजादी के बाद अनेक लोगों को गमले का पौधा बना दिया गया।

लालित्य पूर्ण-शीर्षकों से आच्छादित यह पुस्तक अपने पहले अध्याय में ही स्वाधीनता आंदोलन के एकमात्र 'मुंशी' के हवाले से संविधान सभा में फैले असंतोष-अप्रसन्नता-आशंका-उत्तेजना से भरे माहौल से परिचय कराती है। उनकी नजर में उस दिन 'असाधारण गुणों से भरपूर' सदस्यों में कुछ एक सदस्यों को छोड़कर सभी दुःखी अथवा उदासीन हैं। हालाँकि, लेखक ने यथाशीघ्र पंडित नेहरू का संविधान सभा में प्रवेश कराते हुए उनके खास अंदाज लेदर केस को उछालने और पकड़ने के

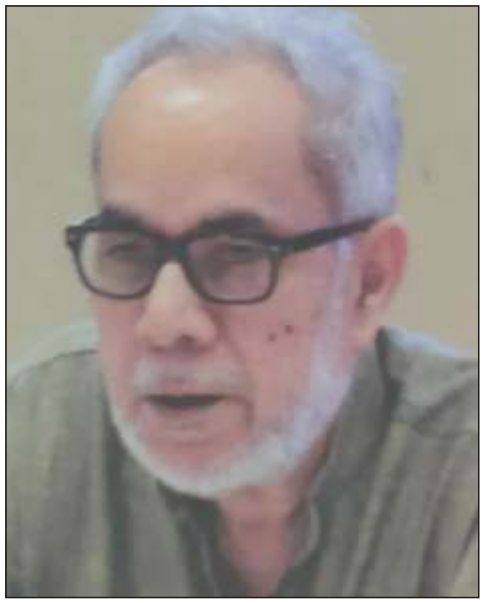

दृश्य को प्रस्तुत कर माहौल को उल्लासपूर्ण बना दिया है। अगले कुछ अध्यायों में फिर से लेखक नेहरू द्वारा प्रस्तुत प्रस्ताव की स्वीकृति पर 'प्रश्नोपनिषद' की रचना कर बैठता है। सरोजिनी नायडू द्वारा काव्यात्मक शैली में राजेन्द्र प्रसाद को दी गयी बधाई और संविधान के प्रति स्त्री मन की उदात्तता, राधाकृष्णन के दार्शनिक कथन, गांधी के प्रति सम्मान, नेहरू-तिलिस्म, राष्ट्रीयता की निर्मिति, महावीर त्यागी के वक्रोक्ति-सत्य पर आंबेडकर की स्वीकृति तथा इन्दिरा गांधी के 'कुख्यात-आपातकाल' में विवादास्पद संशोधन की जिज्ञासु-बौद्धिक कसरत और परंपरा-बोध के जरिये डॉ. जयकर की चेतावनी और डॉ. आंबेडकर की मार्मिक अपील से भरे कुछ अध्याय असाधारण प्रश्नों- 'कैसा और कैसे' की तलाश में अपरिचित राहों के जरिये नयी मंजिल तय करने का दावा प्रस्तुत करते हुए एक 'अनकही' कहानी की ओर बढ़ जाते हैं।

यह पुस्तक संविधान के बनने/बनाने की कहानी को दिलचस्प ढंग से प्रस्तुत करती है। संविधान और संविधानवाद की भूलभुलैया को कुछ 'इतिहासकार-विचारक-विशेषज्ञ' की टिप्पणियों के माध्यम से लेखक ने पाठकों के सामने सजाव दही की तरह इस तरह परोसा है

कि पाठक 'सर्र-सर्र' करते हुए एक सांस में ही खत्म करने के लिए बेचैन हो सकता है। पुस्तक में तमाम ऐसी घटनाओं/सूचनाओं को जगह दिया गया जिससे आमतौर पर नागरिक अपरिचित ही हैं। राजद्रोह और नौवीं अनुसूची को संविधान में जगह कैसे मिली उसकी कहानी दर्ज है। राजेन्द्र प्रसाद के राष्ट्रपति बनने में गांधीवादी अड़चन और महावीर त्यागी द्वारा उसके समाधान की कहानी भी इस पुस्तक में है। भारतीय संविधान के अनेक तथ्य, कथ्य, यथार्थ और निष्कर्ष का सजीव चित्रण करती यह पुस्तक आकर्षक और घुमावदार परतों को बड़े करीने से हमारे सामने रखती है। प्रश्नवाचक मुद्रा के साथ अध्यायों का अंत है और अगले अध्याय की शुरुआत मिथक या चौंकाने वाले तथ्यों से होती है। इस प्रकार 'हिन्द-स्वराज' की शैली में रची गयी यह कृति संविधान-निर्मिति के अनेक तथ्यों से पाठकों का परिचय कराती है, जिधर अभीतक केवल विशेषज्ञों का ही ध्यान जाता रहा है। संविधान सभा के दिग्गजों के भाषणों के प्रमुख अंश 'असंतोष के उद्गार' से लेकर 'मुझे भी खेद है' तक के नौ अध्यायों में प्रस्तुत किये गये हैं। इनसे गुजरते हुए अपने पूर्वजों के अध्ययन, उनके देशात्म-बोध, उनकी उदात्त चेतना, समर्पण और त्याग की अद्भुत कहानी से परिचित होना इश्क और रश्क पैदा करता है। एक जगह लेखक ने इन भाषणों के बरक्स आज की लोकसभा और राज्यसभा के सदस्यों के विचार-व्यवहार को परखने की आशा की है। हालाँकि यहाँ उनका स्वर बहुत मद्धिम हो गया है।

वैसे तो उस कालखंड के अधिकांश दिग्गजों का नाम किसी न किसी रूप में पुस्तक में आया ही है, परंतु कुछ लोगों के नाम से अध्याय भी तैयार किये गये हैं जो उनके महत्त्व को रेखांकित करते हैं। इनमें गांधी, नेहरू, आंबेडकर, पटेल, जिन्ना, सुभाष, राव और राजेन्द्र प्रसाद प्रमुख हैं। गांधी, नेहरू और आंबेडकर का नाम एकाधिक बार अध्याय के रूप में आया है। यह स्वाभाविक भी है। लेखक पिछले साढ़े चार दशक से संविधान की गुत्थी को सुलझाने में लगा था। इस गुत्थी को सुलझाने में दो घटनाओं ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। पहली है 'कोरोना' जिसने समय उपलब्ध कराया और दूसरी है 'ए चेकर्ड ब्रिलिएंस : दि मेनी लाइव्स ऑफ वी के कृष्ण मेनन' जो 'संदर्भों का कुबेर कोश' बनकर उपस्थित हुई। अध्यायों के नाम के साथ न्याय करने की कला लेखक के 'प्रोफेशन' का मामला है। इसमें वे खरे भी उतरे हैं। पहले अध्याय से लेकर अंतिम अध्याय के अंतिम पृष्ठ तक लेखक की तर्जनी-रोष ने 'अपने दर्पण में नेहरू' को सधे और तथ्यों के आधार पर फिट करने की कोशिश की है। यह निर्विवाद है कि नेहरू उस दौर के एक महत्वपूर्ण नेता तो थे ही, महात्मा गांधी के दुलरुआ भी थे। लेकिन अन्य नेतागण उनसे कहीं कमतर थे, इससे सहमत होना कठिन है। हाँ, यह जरूर है कि देश-विदेश से लेकर हिंदुस्तान के सुदूर इलाकों तक नेहरू के निंदक-प्रशंसक फैले हुए थे। संविधान के लिए पर्दे के पीछे से काम कर रहे 'राव-मेनन द्वय' की त्रिमूर्ति भी उनके साथ थी। पुस्तक में नेहरू की अनेक भाव-भंगिमाओं का जिक्र हुआ है जिससे वे एक बहुपठित, इतिहासज्ञ, साफ़गोई, सावधान और चतुर के साथ-साथ अक्सर बात से पलट जाने वाले शख्स के रूप में हमारे सामने आते हैं। इनमें से कौन-सा विशेषण उनपर ठीक से चस्पा होगा? इसे पाठक स्वयं तय करे। हाँ, अपने स्नायु-मंडल में सदैव इंग्लैंड को लेकर घूमने वाले नेहरू को जानने के लिए हमें पुस्तक के पृष्ठों से गुजरते हुए थोड़ा आँख-कान खोलकर भी रखना होगा।

संविधान की 'एक रोमांचक अनकही कहानी' के रूप में प्रस्तुत यह कृति लेखक की संविधान के प्रति निष्ठा का प्रमाण है जिसे वह 'मर्कट-शिशु' की तरह वर्षों से ढो रहा था। उनके भीतर जल रहे इस अखंड दीपक में उनके 'शिव-बाराती' मित्र समय-समय पर घी डालते रहे हैं और वे अपनी रहस्यमयी मुस्कान के साथ सब कुछ को स्वीकार करते हुए अपने मनोमय-पुरुष में पल रहे 'शिशु' के लिए बड़े जतन से परिधान तैयार करने में लगे रहे हैं। इस परिधान में 'विलक्षण' से लेकर 'राजद्रोह की वापसी' के रूप में कुल इक्यावन फूल टांके गए हैं जिनका विस्तार पाँच सौ एक पृष्ठों में फैला है। गहन अध्ययन और विमर्श ने परिधान को खूबसूरत बनाने में कोई कोर-कसर नहीं छोड़ी है। शिशु-परिधान के ताने-बाने को सुदृढ़ करने के लिए विशिष्ट इतिहासकार, संविधान विशेषज्ञ, विचारक और राजनेता-लेखक के योगदान को भी आसानी से देखा जा सकता है। संविधान सभा के इतिहास, अज्ञातकाल और भूलभुलैया के फूल काढ़ने में इन रचनाकारों ने 'क्रोशिया' की भूमिका बखूबी निभायी है।

इस पुस्तक को ठीक तरीके से समझने के लिए इसका 'पाठ' बहुत जरूरी है। इसके केंद्र में रहे हैं- नेहरू, राव, आंबेडकर, और मेनन द्वय। लेखक ने 'संविधान के प्रधान निर्माता' के रूप में बी एन. राव का उल्लेख किया है। संविधान निर्माण की प्रक्रिया और उसकी निर्मिति में प्रमुख योगदान देने वाले बी.एन. राव की सार्वजनिक जीवन से विस्मृति की चिंता इस पुस्तक में दिखायी देती है। पुस्तक यह बताती है कि श्री राव एकनिष्ठ कर्मयोगी की तरह निस्वार्थ भाव से संविधान-निर्माण के पीछे खड़े रहे हैं। तो सवाल उठता है कि क्या संविधान निर्मिति के दो शानदार किरदार आमने-सामने खड़े हैं? इसे ठीक से समझने के लिए राव और आंबेडकर पर केंद्रित अध्यायों को खुले मस्तिष्क से पढ़ना होगा।

संविधान में संशोधन-सुधार की कवायद की चर्चा इसके जन्म से ही रही है। प्रायः यह माना जाता है कि वर्तमान संविधान 1935 के एक्ट की रिप्लिका जैसी है। इस व्यामोह से श्री राय भी मुक्त नहीं हैं। यह बात तथ्य के रूप में कुछ हद तक ठीक भी है। लेकिन जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि तथ्यों के भीतर अनुप्रवेश

के लिए 'पाठ' की जरूरत होती है, तो हमें आंबेडकर के उस कथन पर ध्यान देना होगा जिसमें उन्होंने सवाल के लहजे में उत्तर दिया है। वे पूछते हैं- 'आज जो भी संविधान बनाया जाएगा, उसमें आखिर कोई नयी बात क्या हो सकती है? संविधान के दायरे में आने वाली बुनियादी बातें लगभग तय हैं और उनमें सादृश्य भी दिखेगा। इसके निर्माण में आँख बंद कर गुलामों की भाँति अन्य संविधानों की नकल नहीं की गयी है। और यदि कहीं से कुछ लिया गया है तो इसमें लज्जित होने का कोई कारण नहीं है। यह कोई साहित्यिक चोरी नहीं है'। दरअसल यहाँ आंबेडकर अपनी प्राचीन विरासत को याद कर रहे हैं जहां कहा गया है- 'आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः।' लेकिन विरासत के प्रति आंबेडकर का दृष्टिकोण एकाधिक बार एकांगी भी हो गया है, खास तौर पर उस जगह जब वह गाँव का जिक्र करते हैं। गाँवों के बारे में 'हंसी' के साथ की गयी टिप्पणी पर संविधान सभा के सदस्यों ने आंबेडकर को निरुत्तर कर दिया है। सदस्यों की पीड़ा को कोई भी सहृदय समझ सकता है। 1920 से ही महात्मा गांधी ने स्वाधीनता आंदोलन की मुख्य धारा का नेतृत्व किया। उन्होंने स्वराज्य को पुनर्परिभाषित किया। संविधान की कल्पना को शब्दों में उतारा। इस तरह संविधान की अवधारणा का जो विकास हुआ, उसके असल राजनीतिक नायक महात्मा गांधी ही हैं। वे संविधान सभा के गठन, उसे विघटित होने से बचाने और सत्ता हस्तांतरण की हर प्रक्रिया में अत्यंत सतर्क हैं। उन्होंने हर मोड़ पर कांग्रेस का बौद्धिक, विधिक, राजनीतिक और नैतिक मार्गदर्शन किया। लेकिन, आंबेडकर द्वारा उनका नामोल्लेख न होने पर त्यागी और गुहा भौचक हैं। क्या यह माना जाना चाहिए कि 'गाँव' के बहाने आंबेडकर ने 'गांधी' को उद्धृत कर दिया था? इसका उत्तर तो संविधान सभा के 'पाठ' से गुजरते हुए ही मिल सकता है। कह सकते हैं कि इस तरह की अनेक घनीभूत वेदनाओं का समुच्चय है यह पुस्तक।

भूमिका और 'देश की बहस' में लेखक का पुलक भाव देखने लायक है। दीनदयाल उपाध्याय को इतिहास पुरुष की संज्ञा से नवाजते हुए राष्ट्रीयता और भारतीयता पर कई कोणों से विचार किया गया है। संविधान कैसे और परिशुद्ध हो तथा उसके लिए समय-समय पर किये गये प्रयासों का विस्तृत विवरण इतिहास के पुराने पन्नों से धूल-गर्दा झाड़ते हुए लेखक ने एक ही जगह उपलब्ध करा दिया है। हालाँकि इस तरह के प्रयास में कई जगह उन नेताओं-विशेषज्ञों को भी मान दिया गया है जो आंदोलन के लहरों पर सवार होकर 'माइक' के नजदीक पहुँचते रहे हैं। पुस्तक में मालवीयजी के एक कथन- ''आप स्मरण रखें कि अंग्रेज जब तक आपसे डरेंगे नहीं, तब तक यहाँ से भागेंगे नहीं'' को याद करते हुए सभा की हर्षध्वनि को प्रश्नांकित किया है। पुस्तक लेखक एक गंभीर अध्येता रहा है। अतः यह उम्मीद करना कि जिस विश्वविद्यालय का वह पुरा छात्र रहा है वहाँ गांधी द्वारा दिये गये उदघाटन भाषण को न देखा हो। गांधी ने स्पष्ट रूप से कहा था- ''यदि किसी दिन हमें स्वराज्य मिलेगा तो वह अपने पुरुषार्थ से ही मिलेगा। ...ब्रिटिश साम्राज्य स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए स्वयं उद्योग न करने वालों को कभी स्वतंत्रता देने वाला नहीं है।'' ध्यान देने की बात यह है कि यह भाषण मालवीयजी की उपस्थिति में ही दिया गया था। दरअसल हमारे पूर्वजों की सोच की निर्मिति का धरातल एक ही है। अतः इस तरह के स्वाभाविक सादृश्य 'पाठ' द्वारा ही समझे जा सकते हैं।

भारत की आजादी की लड़ाई और अंग्रेजों को जाने के लिए मजबूर कर देने के पीछे सभी भारतीयों का योगदान है। परंपरा का 'पाठ' तो हमें यही बताता है कि गिलहरी की भूमिका भी महत्त्वपूर्ण है। नौसेना विद्रोह अवश्य एक महत्त्वपूर्ण परिघटना है। लेकिन यह विद्रोह 1946 में ही क्यों हुआ? जब ठंडे मन और एटली-चक्रवर्ती के गप्प से मुक्त होकर सोचेंगे तो यही उत्तर मिलेगा कि वह भारतीय जनमानस ही था जिसने सैनिकों को विद्रोह करने पर मजबूर कर दिया और उसके सर्वोत्कृष्ट प्रतिनिधि थे महात्मा गांधी।

इस पुस्तक में कई 'संयोगों' की चर्चा आयी है जिसकी ओर लेखक ने इशारा भर किया हैं। लेखक के संस्कार देशज हैं। वह भी खाँटी पूर्वांचली। इसलिए जब-जब उनका मन करता है वे 'अपने दर्पण में नेहरू' को देख ही लेते हैं। एच वी कामथ ने विजयलक्ष्मी पंडित द्वारा संयुक्त राष्ट्र सभा में दिये गये भाषण का उल्लेख करते हुए सभा को यह सब बताया कि क्या-क्या कहाँ-कहाँ से लिया गया है। लेकिन यह नहीं बताया कि हमने अपने अतीत से क्या-क्या लिया है? इस विशिष्ट कथन ने लेखक को 'अपने दर्पण में' नेहरू को तलाशने को मजबूर कर दिया और वे मानते हैं कि कामथ ने 'नेहरू परिवार के दृष्टिकोण में मूल दोष का प्रश्न उठाया' था। पुस्तक लेखक के जिले के एक बड़े लेखक हुए हैं श्री कुबेरनाथ राय। दोनों के उम्र में एक युग का ही अंतर है (एक युग 12 वर्ष का होता है)। वे लिखते हैं -'जन्म से ब्राह्मण होते हुए भी पंडित जवाहर लाल नेहरू संस्कारों से ग्रीक (यूनानी) या पश्चिमी थे और वही रह ही गये। बुद्धि द्वारा स्वदेशी प्रज्ञा में प्रवेश करने की उन्होंने बड़ी चेष्टा की, परंतु जातीय स्मृति में उनका मन प्रवेश नहीं पा सका। उनका वरण 'संपूर्ण वरण' नहीं था। फलतः अजनबी होने का एक दंभ वे बड़ी सावधानी से आजीवन पालते गये। इंग्लैंड उनके 'मनोमय-पुरुष' का धात्री आजीवन रहा।' क्या यह संयोग है कि एक ही जिले के रहने वाले इन दो लेखकों के विचार नेहरू के मामले में एक जैसे हैं?

कहना न होगा कि कथ्य-तथ्य, किंतु-परंतु, संदर्भ-संयोग के बीच पूर्वजों की मेधा, त्याग-तपस्या और समर्पण से परिचित कराती यह पुस्तक अध्ययन-कक्ष में अपनी जगह खोज लेने में समर्थ है। ❖❖❖

यायावरी का तिलिस्म

शंकर शरण

संपर्क :
राष्ट्रीय अध्येता
भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान
शिमला - 171005

पुस्तक : हिमालय की वादियों में
लेखक : प्रो. सुखनन्दन सिंह
प्रकाशक : बिलासपुर : एविन्सपब
वर्ष : 2021
पृष्ठ : 243
मूल्य : 399 रु.

मात्र पचास-साठ वर्ष पहले तक यात्रा और भ्रमण साहित्य अच्छे प्रकाशन संस्थानों का एक विशिष्ट भाग होता था। न केवल बनारसी दास चतुर्वेदी, राहुल सांकृत्यायन, और कवि अज्ञेय जैसे ख्यातनाम, अपितु सामान्य व्यक्तियों द्वारा लिखे यात्रा-वृत्तांत भी प्रकाशक सहर्ष छापते थे। यहाँ तक कि बड़े लोग उस की भूमिकाएँ तक लिखते थे। कदाचित कारण यही रहा हो कि तब यात्राएँ उतनी सुलभ और प्रचलित नहीं थीं। इसलिए जो लोग यात्राएँ और भ्रमण करते थे, उनके विवरणों से सहृदय पाठक उसका घर बैठे आनंद, कल्पना और जानकारी प्राप्त कर लिया करते थे। अब यातायात, संचार, और पर्यटन उद्योग का ही भारी विस्तार हो चुका है। संभवतः इसीलिए अब इस विधा का महत्त्व कम हो गया है।

इसीलिए प्रो. सुखनन्दन सिंह जैसे जन्मजात घुमक्कड़ के प्रथम यात्रा वृत्तांत को जितना महत्त्व मिलना चाहिए था, वह नहीं मिला है। वह देवसंस्कृति विश्वविद्यालय, हरिद्वार में पत्रकारिता के प्राध्यापक तथा भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला के यू.जी.सी. -एसोसियट भी हैं। यद्यपि उनकी यह पुस्तक 'हिमालय की वादियों में' (बिलासपुरः एविन्सपब, 2021) काफी समृद्ध है, और बड़े मनोयोग से लिखी गयी है। यह किसी बाहरी पर्यटक द्वारा या ऊपरी दृष्टि से हिमालय के रमणीक और महत्त्वपूर्ण स्थलों को देखने का वर्णन बिलकुल नहीं है। बल्कि स्वयं एक हिमालय पुत्र द्वारा, गहरी, संवेदनशील दृष्टि से अनेकानेक स्थानों के विस्तृत यात्रा-वृत्तांत हैं। जिनमें कुछ स्थलों पर वह अनेक बार गया है। इस तरह, एक तुलनात्मक दृष्टि के साथ-साथ, न केवल भौगोलिक, जिनमें कहीं-कहीं नदियों, झीलों, वनस्पतियों और वन्य जीव-जंतुओं तक

के बारे में सूक्ष्म अवलोकन है, बल्कि संबंधित क्षेत्रों के सामाजिक, सांस्कृतिक तत्त्वों का भी मुजायका मिलता है। विवरणों के अतिरिक्त इस में 57 तस्वीरें भी हैं। इस रूप में, यह पुस्तक एक रोचक यात्रा-विवरण के साथ-साथ, एक अच्छा पथवृत्त-मार्गदर्शक, तथा पर्यावरणीय एवं सामाजिक शिक्षा की सामग्री भी प्रदान करती है।

पुस्तक के समर्पण से भी लेखक की भावना की झलक मिलती है। स्वयं हिमालय को इसे अर्पित करते हुए उन्होंने लिखा है, "उस देवात्मा हिमालय को जिसकी गोदी में बचपन बीता, जिसकी वादियों में युवावस्था के स्वर्णिम पल देखे, जो जीवन की ढलती शाम में, मौन तपस्वी-सा आत्मस्थ, अंतस्थ एवं अडिग खड़ा, आंतरिक हिमालय के आरोहण की सतत् प्रेरणा देता रहता है।" लेखक का दिल बचपन से ही पहाड़ों के लिए धड़कता रहा है, जिनमें हिमालय को बाद में उन्होंने गुरुजनों से 'देवात्मा' के रूप में जाना जो मिट्टी और पत्थर के विग्रह मात्र नहीं, अपितु आध्यात्मिक चेतना के मूर्तिमान संवाहक हैं। इस कारण ही संपूर्ण हिमालयी परिवेश को देवभूमि भी कहा जाता है।

यद्यपि यह लेखक का पहला यात्रा-संकलन है, जिसमें हिमाचल और उत्तराखंड के हिमालयी क्षेत्रों के वर्णन हैं। किंतु

उन्होंने इसे अत्यंत समृद्ध आकलनों और अवलोकनों से भर दिया है। नोट करने की बात है कि लेखक विगत तीन दशकों से हिमालयी प्रदेशों की यात्राएँ करते रहे हैं। इससे भी कुछ अनुमान किया जा सकता है कि हिमालय के संपूर्ण परिदृश्य को आँकने की उनकी दृष्टि कितनी पैनी और अनुभव-समृद्ध हो चुकी होगी। वे पेड़-पौधों ही नहीं, विविध वन्य जीव-जंतुओं, घास-लताओं और चट्टानों में लगी काई तक की विशेषताएँ पहचानते हैं। यह भी कि बंदर किन पत्तें, या फलों को खाते हैं, किस घास से किस जीव-जंतु का क्या संबंध है, अथवा किस वृक्ष की क्या विशेषता है। ऋषिकेश में रामझूला से नीलकंठ जाने के मार्ग में लंगूरों का उल्लेख मिलता है, "ये शांत एवं सज्जन जंगली जीव यात्रियों के हाथों से चना खाने के अभ्यस्त हैं। ये झुंडों में रहते हैं। इनसे यदि भय न खाया जाए, तो इनकी संगत का भरपूर आनंद उठाया जा सकता है।" (पृ. 33)

यद्यपि सिद्ध पाठकों को इस पुस्तक के विवरण-शैली में एक अनगढ़ता लग सकती है, किंतु वह कोई कमी होने के बदले गुण ही है क्योंकि उसमें लेखक के हृदय की अनुभूति है, जो संपादन की कमी को खलने नहीं देती। यायावर को इसकी चेतना भी बनी रही है कि उन हिमालयी मार्गों, क्षेत्रों में पहले गुरु गोविन्द सिंह, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी शिवानन्द, स्वामी सत्यानन्द, आदि जैसे महान गुरु और मनीषी भ्रमण करते रहे हैं। जो अपनी बारी में स्वयं हजारों वर्ष पहले की हिमालय साधना परंपरा का ही अनुकरण कर रहे थे। अतः कोई सचेत, निष्ठावान यायावर आज भी वह अनुभूति कर ही सकता है, जो उन मनीषियों को हुई होगी।

कुल मिलाकर इस संकलन में

यद्यपि लेखक अपनी बुद्धि को 'छटाँक भर की' मानते हैं, फिर भी उनके कई अवलोकन बड़े वजनी और दूरगामी महत्त्व के प्रतीत होते हैं। यथा, "गाँव वालों का कहना था कि कितनी भी गमी हो यहाँ का पानी कभी सूखता नहीं। वास्तव में बाँज के पेड़ की जड़ें नमी को छोड़ती हैं व इसे संरक्षित रखती हैं। हमारे मन में आया कि यदि गाँव वाले इस जंगल में बाँज के पेड़ों के साथ मिश्रित वनों को बहुतायत से लगा लें तो शायद यहाँ के सूखे पड़ते जल-स्रोत फिर रिचार्ज हो जाएँ।"

छत्तीस विभिन्न यात्राओं के विवरण हैं। इनमें कुमाऊँ, गढ़वाल, शिमला, मंडी, कुल्लू घाटी, मनाली हिमालय और लाहौल घाटियों में अलग-अलग स्थानों की यात्राओं के वर्णन मिलते हैं। इसे पढ़ते हुए संपूर्ण हिमालय क्षेत्र के असंख्य मंदिरों, गाँवों, कस्बों, घाटियों, नदियों, ताल-तलैयों, आदि की स्थिति, विशेषताएँ, तथा चित्र एवं शब्दचित्रों के भी दर्शन होते हैं। जैसे, मालिनी नदी का परिदृश्य बताते हुए, "कहीं किसान इसके किनारे खेती कर रहे हैं, तो कहीं मछुआरे मछली पकड़ रहे, कहीं कपड़े धुल रहे हैं तो कहीं इसके किनारे भेड़-बकरियाँ-गाय-घोड़े आदि चर रहे हैं, तो कहीं इसके किनारे तंबू लगे हैं, रिजॉर्ट बने हैं, टूरिस्ट कैंप चल रहे हैं। कहीं इसके किनारे पूरे गाँव आबाद हैं।" (पृ. 18) इसी नदी के बाएँ तट पर हनुमान जी का सिद्धबली मंदिर है, जहाँ भंडारा कराया जाता है। इस मंदिर की महत्ता इसी से समझ सकते हैं कि लेखक को अपनी यात्रा के समय पता चला कि वहाँ भंडारा करवाने के लिए अगले दस वर्ष तक की बुकिंग हो चुकी है!

कई वर्णनों में अनायास अनेक तकनीकी जानकारियाँ भी मिल जाती हैं, जो नये यायावरों के लिए बड़े काम की साबित होंगी। जैसे कि कहाँ पर कौनसी सुविधाएँ उपलब्ध हैं, और कहाँ पर कैसी विशेष कठिनाइयाँ उपस्थित हो सकती हैं। इस रूप में, यह पुस्तक युवा यायावरों के लिए एक मूल्यवान गाइड, मार्गदर्शिका का काम भी करेगी, जो उन स्थलों की यात्राएँ करने की योजना या हौसला रखते हैं। यथा, लैंसडाउन का वर्णन पढ़ते हुए यह मिलता है, "टिप-एन-टॉप यहाँ से ऊपर चोटी पर दर्शनीय बिंदु है, जहाँ से दूर घाटी का अदभुत नजारा देखा जा सकता है। इसके नीचे व किनारे बाँज, बुराँश व देवदार के घने जंगल बसे हैं, जिनके बीच का सफर पैसा-वसूल ट्रिप साबित होता है। रास्ते में चर्च के पास ही गाड़ी खड़ी कर पैदल यात्रा का आनंद लिया जा सकता है। देवदार-बुराँश के जंगल के बीच स्थित चर्च में शांतचित्त होकर दो पल प्रार्थना के बिताये जा सकते हैं।" (पृ. 19)। या फिर, हरिद्वार में चलते-चलाते मोहन पूरीवाले, प्रकाशलोक नामक लाजबाव लस्सी की दुकान, त्रिमूर्ति के पास बेहतरीन गुजराती ढाबे की सूचना भी दी गयी है। इसी तरह, शिमला की आकर्षक पैदल चढ़ाइयों (ट्रैकिंग ट्रेल्स) की विस्तृत जानकारियाँ इस में विस्तार से दी गयी हैं (पृ. 144-48)।

आध्यात्मिक और पर्यटकीय विवरणों के साथ-साथ हर स्थान की सामाजिक, आर्थिक, कृषि संबंधी, आदि स्थितियों की ऊँच-नीच पर भी लेखक की अनायास नजर रही है कि कहाँ कौन-से सामाजिक रोग, या व्यसन समाज को कमजोर कर रहे हैं। विभिन्न पर्वतीय स्थानों की तुलनात्मक विशेषताएँ भी दिखायी गयी हैं। फिर एक ही स्थान की तुलनात्मक स्थिति को भी नोट किया गया है, कि पहले वह कैसी थी तथा अब उसमें

क्या परिवर्तन आये हैं। उदाहरण के लिए, अल्मोड़ा से आगे के इलाकों पर, ''सड़क के साथ जल-स्रोत के होते हुए भी लोग सामान्य खेती तक ही सीमित दिखे। उर्वर जमीन के साथ पहाड़ी क्षेत्र होते हुए यहाँ फल और सब्जी की अपार संभावनाएँ हमारे बागवानी भाई को दिख रही थी। इस ऊँचाई पर नाशपाती, पलम, आड़ू, अनार, जापानी फल की शानदार खेती हो सकती है। सेब की भी विशिष्ट किस्में यहाँ आजमाई जा सकती हैं। सब्जियों में मटर, टमाटर, शिमलामिर्च से लेकर औषधीय पौधे, फूल, लहसुन, प्याज, गोभी जैसी नकदी फसलें उग सकती हैं। यदि क्षेत्रीय युवा इस पर ध्यान केंद्रित कर दें, तो उनके गाँव-घर छोड़ कर दूर रहने, पलायन की नौबत ही न आये।'' (पृ. 3)। यद्यपि लेखक अपनी बुद्धि को 'छटाँक भर की' मानते हैं, फिर भी उनके कई अवलोकन बड़े वजनी और दूरगामी महत्त्व के प्रतीत होते हैं। यथा, "गाँव वालों का कहना था कि कितनी भी गमी हो यहाँ का पानी कभी सूखता नहीं। वास्तव में बाँज के पेड़ की जड़ें नमी को छोड़ती हैं व इसे संरक्षित रखती हैं। हमारे मन में आया कि यदि गाँव वाले इस जंगल में बाँज के पेड़ों के साथ मिश्रित वनों को बहुतायत से लगा लें तो शायद यहाँ के सूखे पड़ते जल-स्रोत फिर रिचार्ज हो जाएँ।" (पृ. 4)

शिमला और आस-पास के स्थलों का विस्तार से वर्णन (पृ. 136-61) लगभग सभी महत्त्वपूर्ण जानकारियों से भरा हुआ है जिसमें सुंदर स्थानों, मंदिरों, प्रसिद्ध शैक्षिक संस्थानों, एवं विशेष पैदल-पथों, ट्रैकिंग-ट्रेल्स के विवरण और तस्वीरें हैं। ऐसे विवरणों से किसी इच्छुक को अपनी भावी यात्रा की सही योजना बनाने में सहायता मिल सकती है। इस पुस्तक में वर्णित यात्राओं में कुछ टीम-यात्राएँ भी हैं, जिनमें लेखक अपने शिक्षण संस्थान के छात्रों के दल लेकर भ्रमण और पर्वतारोहण प्रशिक्षण पर गये थे।

पुस्तक में कहीं से भी दस-बीस पन्ने पढ़कर भी लेखक की संवेदनशील दृष्टि, सजग अवलोकन, या हिमालयी प्रदेश की संपूर्ण थाती और संबंधित धर्म-समाज के प्रति हार्दिक चिंता की झलक मिल जाती है। कहीं-कहीं अनुभवजन्य दार्शनिक टिप्पणियाँ भी हैं। जैसे, "यदि ध्यान सारा रास्ते व लक्ष्य पर केंद्रित हो तो फिर भय को घुसने का प्रवेश द्वार ही न मिले।" यह बात किसी खतरनाक रास्ते को पार करते समय की स्थिति पर कही गयी है, किंतु यह मनुष्य के जीवन के कठिन, चुनौतीपूर्ण कार्यों को साधने के लिए भी यथावत सच है।

अतः कई रूपों में यह पुस्तक पारंपरिक यात्रा-वृत्तांतों से अधिक मूल्यवान प्रतीत होती है। इसे किसी सुयोग्य संपादक द्वारा यथोचित संपादित कर, संभव हो तो सभी यात्राओं का काल आदि जोड़कर, कहीं-कहीं दुहरावों तथा सामान्य वैयक्तिक तस्वीरों को हटा कर, इसका एक लघुतर संस्करण विद्यार्थियों एवं सामान्य पाठकों के लिए भी बहुत उपयोगी, पठनीय हो सकता है। उन्हें इससे अपने देश के हिमालयी क्षेत्र के प्रति सार्थक जानकारी पाने के साथ-साथ अपनी संवेदना और कल्पनाशीलता भी विकसित करने में सहायता मिलेगी। ❖❖❖

ज्ञान शांति मैत्री

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

Mahatma Gandhi Antarrashtriya Hindi Vishwavidyalaya, Wardha

सदस्यता-प्रपत्र

बहुवचन (त्रैमासिक)

नाम					
डाक का पता					
जिला		पिन कोड		राज्य	
दूरभाष		ई–मेल:			
सदस्यता शुल्क भारत में : सामान्य अंक रु. 75/– वार्षिक रु. 300/– भारत के बाहर : एक प्रति 10 अमेरिकी डॉलर, 08 ब्रिटिश पाउंड				डाक खर्च सहित	

पुस्तक-वार्ता (त्रैमासिक)

नाम					
डाक का पता					
जिला		पिन कोड		राज्य	
दूरभाष		ई–मेल:			
सदस्यता शुल्क भारत में : सामान्य अंक रु. 75/– वार्षिक रु. 300/– भारत के बाहर : एक प्रति 10 अमेरिकी डॉलर, 08 ब्रिटिश पाउंड				डाक खर्च सहित	

सदस्यता शुल्क रु. ..... NEFT/RTGS/IMPS/OTHER माध्यम से बैंक ..... द्वारा भेज रहा/रही हूँ, जिसके लेन–देन का विवरण ..... है।

केवल ऑनलाइन शुल्क भेजने का विवरण इस प्रकार है :-

Name : Finance Officer, Mahatma Gandhi Antarrashtriya Hindi Vishwavidyalaya, Wardha
Bank Name : Bank of India, Wardha Branch : Hindi Vishwavidyalaya, Wardha
Account No. : 972110210000005 IFSC Code No.: BKID0009721

(सदस्य के हस्ताक्षर)

सदस्यता-प्रपत्र डाक से निम्न पते पर भी भेज सकते हैं।
प्रकाशन विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा - 442 001 (महाराष्ट्र)
संपर्क – प्रभारी : सूचना • संपर्क • प्रसार एवं विपणन (प्रकाशन विभाग), मोबाइल नं. (वाट्सएप सहित) 7278114912
ऑनलाइन सदस्यता के लिए प्रपत्र विश्वविद्यालय की वेबसाइट पर उपलब्ध है।
दूरभाष : 07152–232943 ई–मेल : pub.mgahv@gmail.com www.hindivishwa.org

विश्वविद्यालय के प्रकाशन

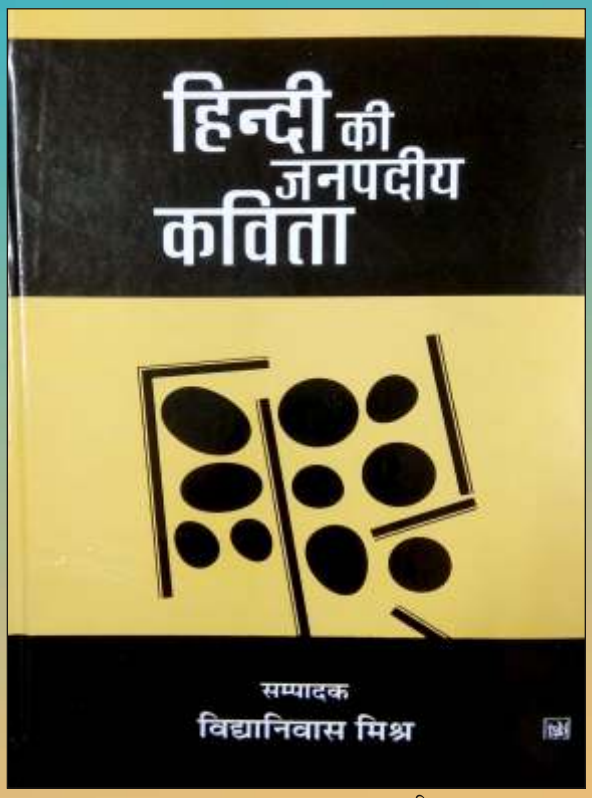

मूल्य : 1750 रु. एचबी

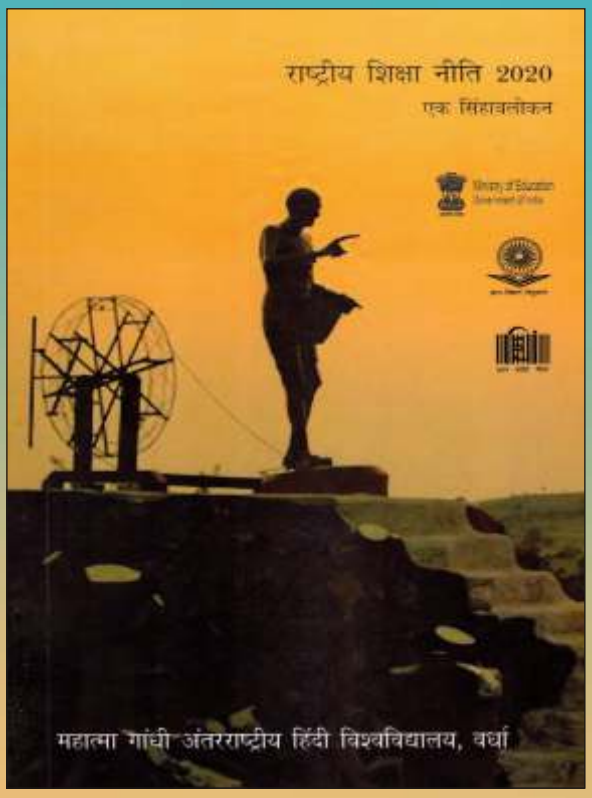

मूल्य : 20

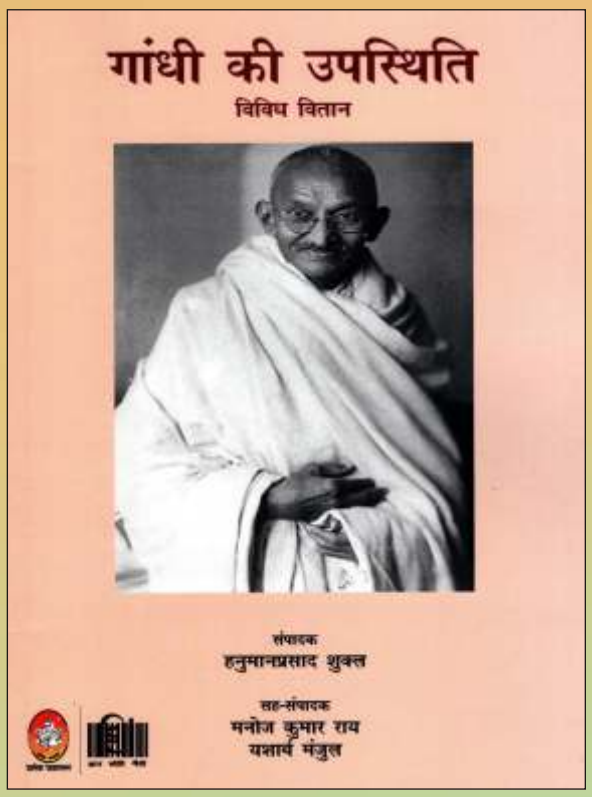

मूल्य : 320 रु. पीबी 599 रु. एचबी

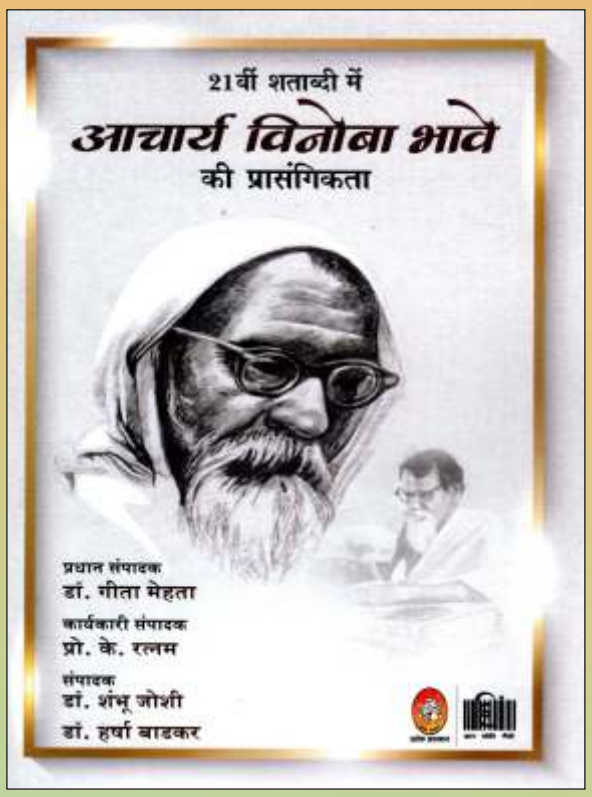

मूल्य : 499 रु. पीबी 1100 रु. एचबी

उपन्यास, कहानी, कविता, व्यंग्य, नाटक, निबंध, आलोचना, विमर्श, बाल साहित्य, संस्मरण, यात्रा वृत्तांत, सिनेमा, विविध, खोज कोश, समय-संचयन, आडियो/विडियो, अनुवाद, हमारे रचनाकार, हिंदी लेखक, संपर्क, विश्वविद्यालय, संग्रहालय, ब्लॉग समय

ज्ञान शांति मैत्री

विश्वविद्यालय की पत्रिकाएँ :

• विश्वविद्यालय के प्रमुख प्रकाशन •

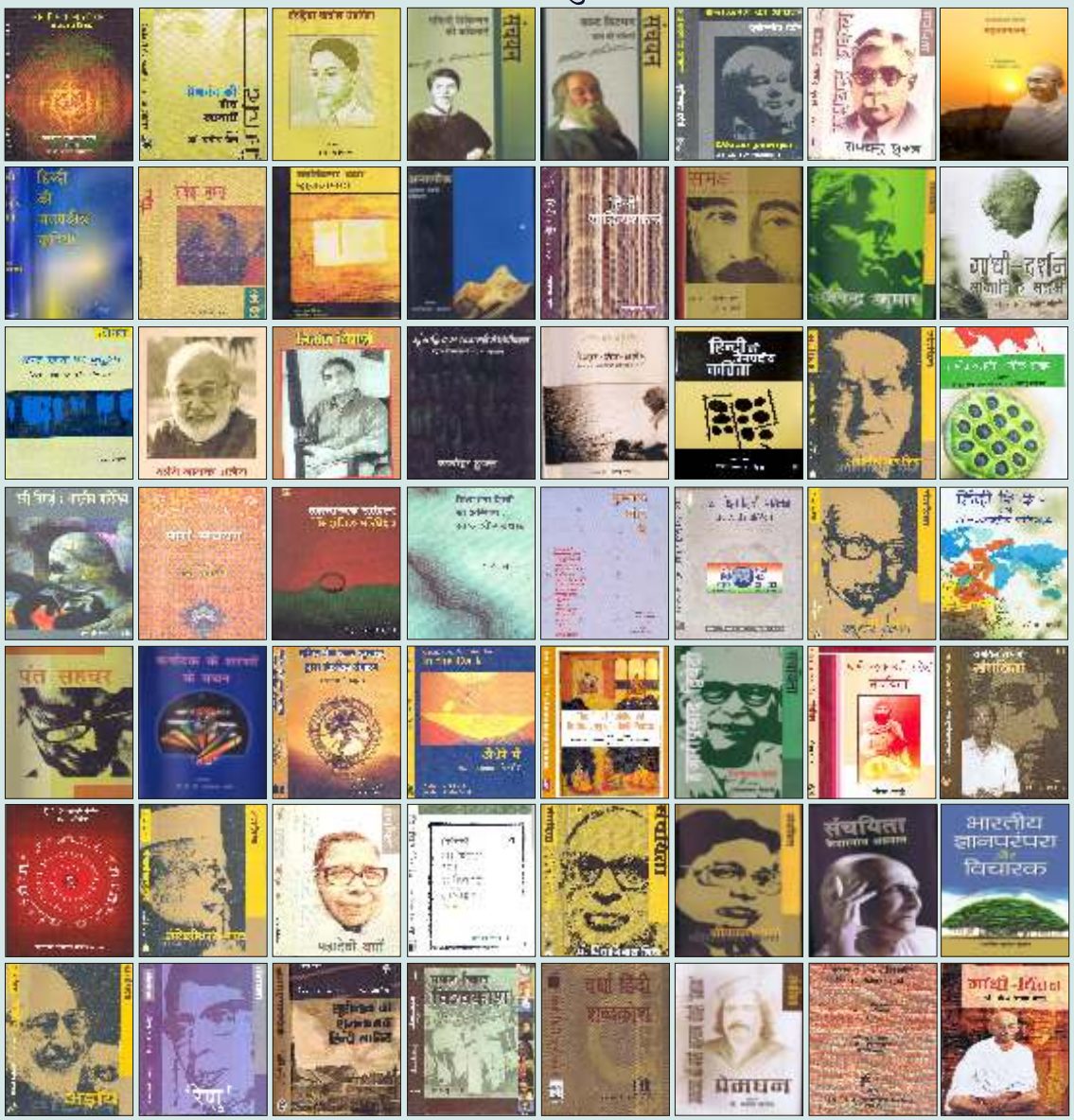

प्रकाशन एकक

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

गांधी हिल्स, पोस्ट : हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा - 442 001 (महाराष्ट्र) भारत

फोन : (07152) 232943, फैक्स : (07152) 230903 वेबसाइट : www.hindivishwa.org